आत्मधर्म

वैशाख २४७५
वर्ष पांचवां, अंक १

संपादकीय

भाद्रपद शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक के दस दिनों को "दश लक्षण पर्व" कहा जाता है; सनातन जैनशासन में इसे ही पर्यूषण पर्व कहते हैं। शास्त्रों में तो दशलक्षण पर्व वर्ष में तीनबार आने का वर्णन है, किन्तु वर्तमान में भाद्रव मास में ही उसकी प्रसिद्धि है। इस धार्मिक पर्व की वीतरागी जिनशासन में अपार महिमा है।

जैनशासन का यह पवित्र पर्व अनादिकालीन है। इस पर्व सम्बन्धी इतिहास इसप्रकार है:-प्रत्येक काल में अवसर्पिणीकाल का पंचम आरा पूर्ण होने के पश्चात् छट्ठा आरा प्रारम्भ होता है, और लोग अनार्यवृत्ति वाले, हिंसक एवं माँसाहारी होजाते हैं; उसके पश्चात् उत्सर्पिणीकाल के प्रारम्भ में अषाढ़ वदी* एकम से प्रारम्भ होकर ४६ दिनों में अमुक प्रकार की बरसात, पवन आती है और फल-फूलादि पकते हैं। वह देखकर लोगों के मन में आर्यबुद्धि पैदा होती है और तभी से वे माँसाहार इत्यादि हिंसक वृत्तिओं को छोड़कर उन फल-फूलों से जीवन-निर्वाह करते हैं; इसप्रकार भाद्रव सुदी पंचमी के दिन चिरकाल से चली आरही अनार्यता और हिंसकवृत्ति पलटकर लोगों में आर्यता, मा लता, क्षमाभाव प्रगट होते हैं; इसीसे उसदिन से प्रारम्भ करके दस दिनतक दशलक्षण पर्व मनाया जाता है। पर्व अर्थात मंगलकाल, पवित्र अवसर। वास्तव में अपने आत्मस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक जो निर्मल

---

* इस बरसात का प्रारम्भ अषाढ़ वदी एकम से होता है, इससे जैनशासन के अनुसार उसीदिन से नूतनवर्ष का प्रारम्भ होता है।

वीतरागी दशा प्रगट की वही यथार्थ पर्व है, वही आत्मा का मंगलकाल है और वही पवित्र अवसर है। जहाँ ऐसा भावपर्व हो वहाँ बाह्य द्रव्य-क्षेत्र-काल को उपचार से पर्व कहा जाता है। यथार्थरीति से तो आत्मा के शुद्ध भावों में ही पर्व है, रागादि में अथवा बाह्य पदार्थों में पर्व नहीं है। इतना भेदज्ञान रखकर ही प्रत्येक कथन का अर्थ समझना चाहिये। पर्वों का प्रयोजन आत्मा के वीतरागभाव की वृद्धि करने का है।

मुनिवरों के चारित्रदशा में उत्तमक्षमादि दसप्रकार के धर्म होते हैं। भाद्रपद शुक्ला ५ से १४ तक दस दिन के बीच इन दस धर्मों की क्रमानुसार भावना भायी जाती है, इसीसे उन दस दिनों को 'दशलक्षण पर्व' कहा जाता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि यह भादव सुदी पंचमी आदि दिन तो कालद्रव्य की दशा है–उसमें उत्तमक्षमादि धर्म नहीं हैं, किन्तु आत्मा में सम्यक्दर्शनपूर्वक वीतरागभाव प्रगट करना ही उत्तमक्षमा धर्म का पर्व है और चाहे जिससमय आत्मा यह भाव प्रगट कर सकता है। तिथि के आधार से धर्म नहीं; किन्तु आत्मा के आधार से धर्म है।

भादव सुदी ५ से १४ तक के दस दिन अनुक्रम से १–उत्तमक्षमा, २-मार्दव (निरभिमानता) ३–आर्जव (सरलता) ४-शौच (निर्लोभता) ५–सत्य, ६–संयम, ७–तप, ८–त्याग, ९--आकिंचन्य (अकिंचनता) और १०--ब्रह्मचर्य धर्म के दिन माने जाते हैं। और दस दिनों के बीच दस धर्मों के स्वरूप का वर्णन, उनके माहात्म्य का चिंतवन, उनकी प्राप्ति का अभ्यास और भावना की जाती है।

परन्तु वर्तमान में तो अधिकांश लोग यह नहीं जानते कि उत्तमक्षमादि धर्मों का सत्यस्वरूप क्या है और उसे जानने का प्रयोजन रखे बिना, मात्र रूढ़ि के अनुसार दस दिनों को मनाकर अपने को कृतकृत्य समझते हैं। परिणाम यह होता है कि वे आत्मा के उत्तमक्षमादि धर्मों का स्वरूप न जानने से उस धर्म की सच्ची उपासना नहीं कर पाते और आत्मकल्याण से तो वे वंचित ही रहते हैं। जो आत्मा का स्वरूप

समझकर अपने में उत्तमक्षमादि धर्म की आराधना प्रगट करे-उसने ही यथार्थरीति से दशलक्षण पर्व को मनाया-ऐसा कहा जाये।

वीर संवत् २४७३ के दशलक्षण पर्व के दिनों में सोनगढ़ में परम-पूज्य श्री कानजी स्वामी ने श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव द्वारा रचित पद्म-नन्दिपंचविंशतिका में से उत्तमक्षमादि दस धर्मों के व्याख्यान करके उन धर्मों का यथार्थस्वरूप अपूर्वरीति से समझाया है, वे व्याख्यान इस अङ्क के रूप में प्रकाशित किये गये हैं। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव का महान सूत्र है कि-'दंसण मूलो धम्मो' अर्थात् धर्म का मूल सम्यक्दर्शन है; उसके अनुसार इन उत्तमक्षमादि दसधर्मों का मूल भी सम्यग्दर्शन ही है-यह बात इन प्रवचनों में यथार्थरीति से समझाई गई है; तथा यह उत्तमक्षमादि दसधर्म मुख्यतः मुनियों के धर्म हैं; किन्तु गृहस्थ-श्रावकों के भी सम्यग्दर्शनपूर्वक वे उत्तमक्षमादि धर्म किसप्रकार होसकते हैं-यह भी इसमें बतलाया है।

आत्मार्थी जीवो! इन प्रवचनों द्वारा उत्तमक्षमादि दसधर्मों का यथार्थ स्वरूप समझो और अपने आत्मा में उनकी आराधना प्रगट करो!

भाद्रपद शुक्ला-१४
वीर सं २४७४

रामजी माणेकचंद दोशी प्रमुख-
श्री जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़
(सौराष्ट्र)

दस-धर्म

"उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयम-
तपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।"

अर्थः—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य, यह दसप्रकार के धर्म हैं।

(श्री तत्वार्थसूत्र अ. ९ सूत्र ६)

इस सूत्र में बतलाया गया 'उत्तम' शब्द क्षमा आदि दस धर्मों को लागू होता है। यह गुणवाचक शब्द है। उत्तमक्षमादि कहने से यहाँ-पर रागरूप क्षमा को नहीं लेना चाहिये, किन्तु स्वरूप के भानसहित क्रोधादि कषाय के अभावरूप क्षमा समझना चाहिये। उत्तमक्षमादि गुण प्रगट होने पर क्रोधादि कषायों का अभाव होता है, इससे आस्रव की निवृत्ति होती है अर्थात् संवर होता है।

अनेक जीव ऐसा मानते हैं कि बंधादिक के भय से अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से क्रोधादि न करना सो धर्म है; किन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है; क्योंकि उनका क्रोधादि करने का अभिप्राय तो दूर हुआ ही नहीं। जैसे कोई मनुष्य राजा आदि के भय से अथवा साधुता के लोभ से पर-स्त्री सेवन नहीं करता तो इससे उसे त्यागी नहीं कहा जासकता, उसीप्रकार उपर्युक्त मान्यता वाले जीव भी क्रोधादिक के त्यागी नहीं हैं, उनको धर्म नहीं होता।

प्रश्नः—फिर क्रोधादि का त्याग किसप्रकार हो ?

उत्तरः—पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने से क्रोधादि होते हैं। तत्वज्ञान के अभ्यास से जब कोई भी पदार्थ इष्ट-अनिष्टरूप भासित न हो उससमय क्रोधादि स्वतः उत्पन्न ही नहीं होते और तभी यथार्थ धर्म होता है।

क्षमादि धर्मों की सामान्य व्याख्या

(१) क्षमाः—निंदा, गाली, हास्य, अनादर, मार, शरीर का घात इत्यादि होनेपर अथवा उन प्रसंगों को निकट आता देखकर भावों में मलिनता न होना सो क्षमा है।

(२) मार्दवः—जाति इत्यादि आठप्रकार के मद के आवेश से होने वाले अभिमान का अभाव सो मार्दव है, अथवा परद्रव्य का मैं कर सकता हूँ-ऐसी मान्यतारूप अहंकारभाव को जड़मूल से उखाड़ फेंकना सो मार्दव है।

(३) आर्जवः—माया-कपट से रहित सरलता, सो आर्जव है।

(४) शौचः—उत्कृष्टतापूर्वक लोभ से विराम लेना-निवृत्त होना सो शौच अर्थात् पवित्रता है।

(५) सत्यः—सत् जीवों में-प्रशंसनीय जीवों में साधुवचन (सरल वचन) बोलने का भाव सो सत्य है।

(६) संयमः—समिति में प्रवर्तन करनेवाले मुनि द्वारा प्राणियों को दुःखी करने का त्याग सो संयम है।

(७) तपः—भावकर्म का नाश करने के लिये अपनी शुद्धता का प्रतपन सो तप है।

(८) त्यागः—संयमी जीवों को योग्य ज्ञानादिक देना सो त्याग है।

(६) आकिंचन्यः—विद्यमान शरीर में भी संस्कार के त्याग के लिये 'यह मेरा है'–ऐसे अनुराग की निवृत्ति सो आकिंचन्य है। आत्मस्वरूप से भिन्न शरीरादि में अथवा रागादि में ममत्वरूप परिणामों का अभाव सो आकिंचन्य है।

(१०) ब्रह्मचर्यः—स्त्रीमात्र का त्याग करके अपने आत्मस्वरूप में लीन रहना सो ब्रह्मचर्य है। पूर्व में भोगे हुए स्त्रियों के भोग का स्मरण और उनकी कथा सुनने के त्याग से एवं स्त्रियों के पास बैठना छोड़ देने से तथा स्वच्छन्द प्रवर्तन रोकने के लिये गुरुकुल में रहने से ब्रह्मचर्य का पालन पूर्णरूप से होता है।

इन दस बोलों में 'उत्तम' शब्द लगाने से उत्तमक्षमा इत्यादि दस धर्म होते हैं। उत्तम कहने से सम्यक्दर्शन सहित समझना चाहिये। सम्यग्दर्शन के बिना उत्तमक्षमादि धर्म नहीं होते। यानी इन उत्तमक्षमादि दस धर्मों को शुभरागरूप नहीं समझना किन्तु कषायरहित शुद्धभावरूप जानना चाहिये।

(मोक्षशास्त्र- गुजराती टीका)

दंसण मूलो धम्मो

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव दर्शनप्राभृत की दूसरी गाथा में कहते हैं कि–सर्वज्ञ भगवान ने गणधरादिक शिष्यों को जिस धर्म का उपदेश दिया है–उस धर्म का मूल सम्यक्दर्शन है ।

श्री सर्वज्ञदेव की परंपरा से जो जिनमत प्रवर्तमान है उसमें धर्म की प्ररूपणा चार प्रकार से है; उन चार प्रकारों में सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है । वे चार प्रकार निम्नानुसार हैं:—

(१) वस्तुस्वभाव सो धर्म:—आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति है, उसका स्वभाव ज्ञान-दर्शनमय चेतना है, वह चेतना शुद्धतारूप में परिणमित हो अर्थात् स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप से परिणमित हो वह धर्म है । आत्मा त्रिकाल शुद्ध चेतनास्वरूप वस्तु है और विकार क्षणिक है, ऐसे भेदज्ञान पूर्वक आत्मस्वभाव की प्रतीति और उसका अनुभव सो सम्यग्दर्शन है और वही वस्तुस्वभाव का मूल है ।

(२) दशलक्षणरूप धर्म:—सम्यग्दर्शन द्वारा शुद्ध आत्मस्वभाव की श्रद्धा करके उसका ज्ञान और स्थिरता प्रगट करके आत्मा को कषाय-भावों से बचा लेना ही उत्तमक्षमादि धर्म हैं । वे उत्तमक्षमादि धर्म सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होते । सम्यक्दर्शन के बिना द्रव्यलिंगी मुनि होजाये और कोई जला डाले तथापि क्रोध न करे, सिंह खा जाये तो भी न बोले तथा शुभपरिणाम रखे, तो भी उसके 'उत्तमक्षमा' नहीं कही जाती; क्योंकि वह सम्यग्दर्शनरहित जीव ऐसा मानता है कि मैंने यह बहुत कर लिया और शुभ परिणाम रखे हैं

इससे अब मुझे धर्म होगा। जिसने शुभभावों को अच्छा माना और उनसे आत्मा को लाभ माना, उस जीव को शुभाशुभरहित शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर क्रोध (अरुचि) है, उसे अनन्तानुबंधी क्रोध कहते हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन ही उत्तमक्षमादि दस धर्मों का मूल है।

(३) **रत्नत्रयरूप धर्मः**—अपने शुद्धस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र सो रत्नत्रय धर्म है, उसका मूल भी सम्यग्दर्शन ही है।

(४) **जीवरक्षारूप धर्मः**—आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वरूप है, उसकी पुण्य-पाप के विकारीभावों से रक्षा करना अर्थात् पुण्य-पाप के विकारीभावों को आत्मा का स्वभाव न मानना, किन्तु पुण्य-पाप से भिन्न शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय आत्मस्वभाव को श्रद्धा में, ज्ञान में और स्थिरता में स्थिर रखना ही सच्ची जीवरक्षा है। मैं परजीव को बचा सकता हूँ ऐसा मानना तथा पुण्य-पाप के परिणामों द्वारा आत्मा को लाभ मानना सो ही स्व-जीव की हिंसा है। परजीव की रक्षा या हिंसा कोई कर ही नहीं सकता; क्योंकि परजीव का जीना या मरना इस जीव के आधीन नहीं है। सम्यग्दर्शन द्वारा अपने शुद्धस्वभाव को जानकर उसे जितने अंश में विकार से बचाले उतने ही अंश में जीवरक्षारूप धर्म है। इसका मूल भी सम्यग्दर्शन ही है।

इसप्रकार सर्वज्ञदेव के कहे हुए आत्मा के समस्त धर्मों का मूल सम्यग्दर्शन है। जैसे जड़ के बिना वृक्ष नहीं उगता, और नींव के बिना मकान नहीं बनता, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन के बिना किसी भी प्रकार का धर्म नहीं होता।

१–उत्तमक्षमा धर्म

भाद्रपद शुक्ला ५

दशलक्षण पर्व

आज से दशलक्षणपर्व प्रारम्भ होता है। सबसे पहला दिन उत्तमक्षमा का है। चारित्रदशा में प्रवर्तमान मुनियों के उत्तमक्षमादि दसप्रकार के धर्म होते हैं। इन उत्तमक्षमादि धर्मों से ही चारित्रदशा होती है, वह चारित्र मोक्ष का कारण है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चारित्र के कारण हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को मोक्षमार्ग कहना सो उपचार है, क्योंकि जिनके सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुए हों उनके अवश्य ही अल्पकाल में सम्यक्चारित्र प्रगट होता है, इससे सम्यग्दर्शन होते ही मोक्षमार्ग कह दिया है; किन्तु मोक्ष के लिये साक्षात् कारण तो वीतरागी चारित्रदशा है। उस चारित्रदशा के उत्तमक्षमादि दस प्रकार हैं। इन उत्तमक्षमादि दस धर्मों की आराधना का पर्व आज से प्रारम्भ होता है। 'दशलक्षणपर्व' का अर्थ है 'मोक्ष की आराधना का महोत्सव।'

उत्तमक्षमा की व्याख्या

आज का दिन 'उत्तमक्षमा का माना जाता है। सम्यग्दर्शन के बिना उत्तमक्षमा होती ही नहीं। लोकरीति में शुभभाव को क्षमा कहते हैं, उसका निषेध करने के लिये यहाँ उत्तमक्षमा-ऐसा कहा है। उत्तमक्षमा का अर्थ है सम्यग्दर्शनसहित वीतरागभावरूप क्षमा।

निश्चय से अपना आत्मस्वभाव त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति है, उसकी प्रतीति एवं बहुमान करना तथा राग-द्वेष-क्रोधादि की रुचि को छोड़ना

ही उत्तमक्षमा की यथार्थ आराधना है। आत्मस्वभाव का अनादर करके पुण्य-पाप की रुचि करना सो क्रोध है, और आत्मस्वभाव के आदर द्वारा पुण्य–पाप की रुचि को छोड़ देना ही उत्तमक्षमा है।

पर्व किसका?

दस दिनों को पर्व कहना तो उपचार है, आत्मस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक चारित्रधर्म की दस प्रकार से आराधना करना ही साधक जीव का सच्चा पर्व है, पर्व अर्थात् आराधना। उस आराधना का आरोप करके अमुक दिन को 'पर्व' कहना सो व्यवहार है। किन्तु जो आत्मा अपने में आराधक भाव प्रगट करे उसके लिये व्यवहार से दिन को पर्व कहा जाता है। किन्तु जिसे आत्मा का भान नहीं है उसके अपने में ही पर्व नहीं है, तब फिर दिन में भी किसका उपचार करना?

'उत्तमक्षमा' कब होती है?

आत्मा की पर्याय में जो पुण्य-पाप होते हैं, उनकी रुचि होती है–वही अनन्तक्रोध है। ज्ञायकस्वभाव की रुचि के द्वारा उस क्रोध का नाश करना ही उत्तमक्षमारूप चारित्रदशा प्रगट होने का बीज है। और स्वभाव की रुचि के पश्चात् विशेष स्थिरता द्वारा वीतराग-भाव प्रगट करके पुण्य-पाप का नाश करना सो उत्तमक्षमा है। ऐसी क्षमा मुनिदशा में होती है। आज उस उत्तमक्षमा की आराधना का दिन है। उत्तमक्षमा की आराधना मुनियों के तो सदैव होती है। वह आराधना तो जीव जब चाहे उसीसमय कर सकता है, किन्तु आज विशेषरूप से उसका स्मरण करके साधक जीव उसकी भावना करते हैं।

पद्मनन्दि शास्त्र में से उत्तमक्षमा धर्म का स्वरूप

आज मांगलिकरूप से श्री पद्मनन्दि आचार्यकृत 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका में से उत्तमक्षमा के स्वरूप का प्रवचन होता है:—

[मालिनी]

जड़जनकृत बाधा क्रोध हास प्रियादव-
अपि सति न विकारं यन्मनो याति साधोः ।
अमल विपुलचित्तैरुत्तमा सा क्षमादौ
शिवपथ पथिकानां सत्सहायत्वमेति ॥८२॥

(पद्मनन्दि पृष्ठ-४२)

मूर्ख-अज्ञानीजनों के द्वारा बन्धन, क्रोध, हास्य आदि किये जायें, तथापि साधु अपने निर्मल और गम्भीर चित्त से विकृत नहीं होते, वही उत्तमक्षमा है; ऐसी उत्तमक्षमा मोक्षमार्ग के पथिक संतों को यथार्थतया सहायता करने वाली है।

उत्तमक्षमा किसके होती है ?

उत्तमक्षमादि जो दस धर्म हैं उनमें मुख्यतया तो चारित्र का ही आराधन है, अर्थात् उन दस धर्मों का पालन मुख्यतः मुनिदशा में ही होता है, श्रावक के गौणरूप से अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार अंशतः होता है। मोक्षमार्ग ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप है, वह चारित्र दशा में ही होता है; सम्यग्दृष्टि जीवों के नियम से चारित्र प्रगट होना ही है, इससे चौथे-पाँचवे गुणस्थान में भी उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। उत्तमक्षमा अर्थात सम्यक्दर्शनसहित क्षमा। उत्तमक्षमा मिथ्यादृष्टि के नहीं होती।

उत्तमक्षमा के अतिरिक्त अन्य चार क्षमाएँ

क्षमा के पाँच प्रकार हैं, उनमें से चार तो पुण्यबंध के कारणरूप हैं और पाँचवें क्षमा को 'उत्तमक्षमा' कहा जाता है, वह धर्म है।

(१) 'यदि मैं क्रोध करूँगा तो मुझे हानि होगी, यदि मैं इस समय सहन नहीं करूंगा तो भविष्य में मुझे अधिक हानि होगी'-

ऐसे भाव से क्षमा करे तो वह रागरूप क्षमा है। जिसप्रकार निर्बल मनुष्य बलवान का विरोध नहीं करता वैसे ही–'यदि मैं क्षमा करूं तो मुझे कोई हैरान नहीं करेगा'–ऐसे भाव से क्षमा रखना सो बंध का ही कारण है। क्योंकि उसमें क्रोधादि करने की भावना दूर नहीं हुई। मेरा स्वरूप ही किसी प्रसंग पर क्रोध करने का नहीं है, 'मै तो ज्ञान ही करने वाला हूँ'–ऐसी प्रतीति के बिना कभी भी क्षमाधर्म नहीं होता; किन्तु शुभरागरूप क्षमा होती है, वह बंध का कारण है, किन्तु धर्म नहीं है।

(२) 'यदि मैं क्षमा करूं तो दूसरे की ओर से मुझे लाभ हो–ऐसे भाव से मालिक आदि की बातें (फटकार) सहन करे और क्रोध न करे तो वह भी वास्तविक क्षमा नहीं है।'

(३) 'यदि मैं क्षमा नहीं करूंगा तो कर्मबन्ध होगा और नरकादि दुर्गति में जाना पड़ेगा, इसलिये मैं क्षमा कर दूं तो कर्मबन्ध रुक जाये-ऐसे भाव से क्षमा करे तो वह सच्ची क्षमा नहीं है, वह क्षमा बंध का कारण है।

(४) क्रोधादि न करने की वीतराग की आज्ञा है और शास्त्रों में भी वैसा कहा है, इसलिये मुझे क्षमा करना चाहिये, जिससे मुझे पापबन्ध न हो–ऐसे भावों से क्षमा धारण करना वह भी पराधीन क्षमा है, राग है, उससे धर्म नहीं होता।

उत्तमक्षमा धर्म

उपरोक्त चारों प्रकार की क्षमा बन्ध का कारण है, उन चारों में कहीं भी स्व-आत्मा का लक्ष्य नहीं आया, किन्तु परलक्ष्य से हो राग को अल्प करके क्षमा धारण की है, वह सहजक्षमा नहीं है। उत्तमक्षमा तो सहज वीतरागतारूप है। आत्मस्वरूप को भूलकर पुण्य-पाप की रुचि करना सो महान क्रोध है, और आत्मा

के त्रैकालिक स्वरूप की रुचि के द्वारा उस शुभाशुभ की रुचि को छोड़ देने से वीतरागी क्षमाभाव प्रगट होता है। मुनिदशा में शरीर को सिंह-बाघ खाये जारहा हो, फिर भी उस ओर की कोई वृत्ति ही न उठे, अशुभवृत्ति तो न ही उठे किन्तु शुभवृत्ति भी न उठे-ऐसी जो आत्मा की उत्कृट आनन्दमय वीतरागीदशा है, वही उत्तमक्षमा है, और वही धर्म है। उसमें दुःख नहीं किन्तु आनंद है। आज उस उत्तमक्षमा धर्म का दिन है। इससे भी पद्मनन्दि आचार्य ने उत्तमक्षमा का जो वर्णन किया है उसका प्रवचन होरहा है।

साधक की सहचरी उत्तमक्षमा

इस गाथा में अज्ञानी जीवों को 'जड़-जन' कहा है। जिन्हें चैतन्यस्वरूप आत्मा की खबर नहीं है और रागादि को ही आत्मा मानते हैं, उन्हें परमार्थ से 'जड़' कहते हैं। ऐसे अज्ञानियों के कठोर वचन ज्ञानीजन स्वभावाश्रित रहकर सहन करते हैं-वह उत्तमक्षमा है। साधुजन चाहे जैसे प्रतिकूल प्रसंगों पर भी अपने धीर वीर स्वभाव से च्युत नहीं होते। आत्मस्वभाव की अरुचि जिसका लक्षण है-ऐसे क्रोध का त्याग करके जिन्होंने साधकदशा प्रगट की है और तत्पश्चात् स्थिरता के विशेष पुरुषार्थ द्वारा धीर होकर ज्ञानस्वरूप में लीन होगये हैं, ऐसे संतों को बाह्य में कौन प्रतिकूल है अथवा कौन अनुकूल है-उससे प्रयोजन नहीं होता, किन्तु अपने पुरुषार्थ को स्वभाव में उतारकर जो समभावरूप परिणमन करते हैं उनके उत्तमक्षमा है। मोक्षमार्ग में विचरने वाले साधुओं को वह उत्तमक्षमा सर्वप्रथम सहायक है।

आत्मा को मोक्षमार्ग में जाने के लिये कोई पर-पदार्थ सहायक नहीं है, किन्तु उत्तमक्षमारूप अपनी निर्मल पर्याय ही अपने को सहायक है-ऐसा कहकर आचार्यदेव ने मंगलाचरण किया है।

ज्ञानी की क्षमा मोक्ष का और अज्ञानी की क्षमा संसार का कारण है।

जिन्होंने अपने चैतन्यस्वरूप के भान द्वारा पुण्य-पाप दोनों को समान माना है और जिनके ज्ञायकदशा प्रगट हुई है, ऐसे मुनि का चित्त धीर-वीर होता है। परिणति में अनन्त धैर्य प्रगट हुआ है इससे मन में क्षोभ नहीं होता और पुरुषार्थ में वीरता है, इसलिये वह स्वभाव में स्थिर रहने का कार्य करती है। 'बाह्य में यदि कोई निंदा करे तो किसकी? और यदि स्तुति करे तो वह किसकी? बन्धन करे तो किसे? और यदि सेवा करे तो किसकी? यह शरीर तो मैं नहीं हूँ और मेरे आत्मा को कोई बंधनादि के द्वारा हानि नहीं पहुँचा सकता।' ऐसा भान तो सम्यग्दृष्टि के होता है, परन्तु उसके पश्चात् विशेष पुरुषार्थ के द्वारा चारित्रदशा प्रगट होने पर विकल्प भी न उठे और सहजक्षमा प्रगट हो वह उत्तमक्षमा धर्म है। किन्तु कोई जीव मुझे लकड़ी मारे और मैं सहन करूँ—ऐसा मानकर जो क्षमा रखता है वह धर्म नहीं है। प्रथम तो लकड़ी शरीर को लगती है, तथापि 'मुझे लकड़ी लगी' ऐसा मानना ही मिथ्यात्व है। कठिन से कठिन लाठीवार सहन करे और बन्दूक की गोलियाँ नगे शरीर पर बरसें उन्हें भी सहन करे तथापि ऐसा माने कि 'मैंने बहुत सहन किया है, इससे दूसरों का हित होगा, दूसरों के हित के लिये ही मैं क्षमा करता हूं–' तो ऐसा मानने वाला जीव मिथ्यादृष्टि है, उसके किंचित् भी धर्म नहीं है, परमार्थतः तो उसके स्वरूप को अरुचिरूप महानक्रोध विद्यमान है। ऐसे जीवों की रागरूप क्षमा कभी भी मोक्ष की सहायक नहीं है, किन्तु वह तो संसार का ही कारण है। और ऊपर जो वीतरागी उत्तमक्षमा बतलाई है वही मोक्ष की सहायक है; उस उत्तमक्षमारूप चारित्र के द्वारा मुनिजन संपूर्ण वीतरागता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। जिनके सम्यग्दर्शन होता है उन्हें चारित्रदशा प्रगट करने के लिये अनन्तपुरुषार्थ

करना शेष है। चारित्र है वह धर्म है; धर्म वीतरागतारूप है। सम्यक् आत्मभानपूर्वक स्वभाव के सेवन द्वारा वीतरागता प्रगट करना सो आराधना है, और वह मोक्षमार्ग है।

प्रथम पहिचान पश्चात् भावना

ऐसा उत्तमक्षमा धर्म प्रगट करने के लिये प्रथम तो उपयोग स्वरूप आत्मा को क्रोधादि से भिन्न जानना चाहिये। इस पहिचान के पश्चात् ही उत्तमक्षमादि यथार्थ भावनाएँ होसकती हैं।८२।

चैतन्यस्वरूप आत्मा की रुचि प्रगट करके शुभाशुभ भावों की रुचि छोड़ देने से जो वीतरागीभाव प्रगट होते हैं वह उत्तमक्षमा है। और यह उत्तमक्षमा साधक जीवों को मोक्षमार्ग में सहचरी है,-यह बात प्रथम श्लोक में बतलाई है। अब, उत्तमक्षमा धर्म से विरुद्ध-ऐसा जो क्रोधभाव है वह मुनीश्वरों को दूर ही से त्याग देना चाहिये-ऐसा श्री आचार्यदेव कहते हैं:—

[वसंततिलका]

श्रामण्यपुण्यतरुरत्र गुणौघशाखा
पत्रप्रसूननिचितोऽपि फलान्यदत्वा।
यातिक्षयं क्षणत एव घनोग्रकोप
दावानलात् त्यजत् तं यतयोऽत्र दूरम् ॥८३॥

श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव कहते हैं कि-सम्यग्दर्शनादि गुणों से युक्त मुनिवर पवित्रवृक्ष के समान हैं, और उत्तमक्षमादि गुण उसकी शाखाएँ, पत्र और फूलों के समान हैं। अल्पकाल में ही इस वृक्ष पर मोक्षरूपी फल आने वाले हैं। किन्तु यदि क्रोधरूपी दावानल उसमें प्रवेश कर जाये तो वह मुनिदशारूपी वृक्ष कुछ भी फल दिये बिना बात की बात में नष्ट हो जाता है, इसलिये हे मुनिवरो! क्रोधादि को दूर से ही त्याग दो।

मुनिराज वृक्ष समान हैं, और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उसकी शाखाएँ हैं, एवं मोक्षदशा उसका फल है। उत्तमक्षमादि दस धर्म सम्यक्चारित्र के ही भेद हैं। सम्यक्चारित्ररूपी वृक्ष के बिना मोक्षरूपी फल नहीं आता। यदि उस यतिरूपी वृक्ष में क्रोधरूपी अग्नि लग जाये तो वह वृक्ष नष्ट होजाता है, और मोक्षफल नहीं आता। मुनिदशा मोक्ष की निकटतम साधक है। मुनि तो मोक्ष-फल आने की तैयारी वाला पका हुआ वृक्ष है, उत्तमक्षमा द्वारा मुनिवर अल्पकाल में ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। किन्तु यदि आत्म-स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानसहित क्षमा से च्युत होकर क्रोध करे तो उस क्रोधरूपी अग्नि द्वारा यतिरूपी वृक्ष जल जाता है। इस लिये क्रोध दूर से ही त्याग कर देने योग्य है, अर्थात् क्रोध होने ही नहीं देना।

यहाँ पर मुख्यतया मुनिओं के लक्ष्य से कथन है, श्रावक-गृहस्थ गौणरूप हैं। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के भी अंशतः उत्तमक्षमा धर्म होता है। विकार होते हुए भी उससे रहित मेरा स्वरूप है-ऐसी प्रतीति-पूर्वक स्वभाव का आदर है और विकार का आदर नहीं है, इससे उनके उत्तमक्षमा है। स्वभाव को विकारयुक्त मानकर विकार का आदर करना और विकाररहित ज्ञानस्वभाव का अनादर करना-यही क्रोध है।

सम्यक्दर्शनपूर्वक विशेष स्वरूपस्थिरता करके जो मुनि हुए हैं, उन्हें अपने चारित्रस्वभाव में क्रोध को प्रवेश नहीं करने देना चाहिये। अनन्तानुबंधी इत्यादि तीनप्रकार के कषाय को तो नष्ट कर ही दिया है और उतनी उत्तमक्षमा प्रगट हो ही गई है, किन्तु अभी संज्वलन कषाय है उससे आत्मा के गुण की पर्याय जलती है। जो तीन कषाय दूर कर दिये हैं उन्हें तो आने ही नहीं देना चाहिये, और जो अत्यंत मन्दकषाय रह गये हैं उन्हें भी नष्ट करके सम्पूर्ण वीतरागता करना चाहिये। यहां पर किसी अन्य के पास से क्षमा नहीं मांगना है। 'भाई! आप

मुझे क्षमा करना'–ऐसा शुभपरिणाम से उत्तमक्षमा नहीं है। दूसरे के पास से क्षमा मांगे किन्तु दूसरा क्षमा न दे, तो क्या यह जीव स्वतः क्षमाभाव नहीं कर सकता ? वास्तविक क्षमा तो स्वतः अपने आत्मा को देता है। पहले आत्मा को रागयुक्त–विकारयुक्त मानकर आत्मस्वभाव पर क्रोध किया, बस दोष की आत्मा इसप्रकार क्षमा मांगता है कि हे आत्मा ! तुझे क्षमा हो। अब मैं तुझे क्षमा देता हूँ। तेरे अखण्ड ज्ञानस्वभाव में एक विकल्प भी न होने दूंगा। हे आत्मा ! क्षमा हो तेरे परमात्मस्वभाव को। अब मैं तेरे आदर को छोड़कर एक विकल्पमात्र का आदर नहीं करूंगा। इसप्रकार स्वतः अपने स्वरूप को जानकर अखण्डानन्दरूप से स्थिर रखने की भावना करते हैं। उसमें जितना राग दूर होकर वीतराग भाव प्रगट हुआ उतनी ही उत्तमक्षमा है, वह धर्म है और उसका फल मोक्ष है।

उत्तमक्षमा का पालन करने में श्री अरिहंत समर्थ हैं। साधकदशा में उन्होंने ऐसी उत्तमक्षमा ग्रहण की कि विकल्प को भी छोड़कर वीतरागभाव धारण करके केवलज्ञान प्रगट किया। श्री पार्श्वनाथ भगवान मुनिदशा में थे और वे ध्यान में मग्न बैठे थे उस-समय कमठ ने आकर घोर उपसर्ग किया, परंतु उन्होंने तो आत्म-स्वरूप की एकाग्रतारूप उत्तमक्षमा धारण करके अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट किया। उपसर्ग करने वाले कमठ के ऊपर द्वेष का विकल्प नहीं उठा और सेवा करने वाले इन्द्र के ऊपर राग का विकल्प नहीं है। एकरूप स्वभाव में लीनता होनेपर सम्पूर्ण वीत-रागभाव प्रगट होकर केवलज्ञान होता है। ऐसा वीतरागभाव ही उत्तमक्षमा है। आत्मस्वरूप को समझकर उसका बहुमान करना ही उत्तमक्षमा की आराधना का यथार्थ पर्व है। मेरा ज्ञानस्वभाव अंतरंग में सहज क्षमास्वरूप है, क्रोध की वृत्ति मुझमें है ही नहीं–ऐसे अपने स्वभाव के और क्रोध के भेदज्ञानपूर्वक स्वभाव की एकाग्रता सो सहजक्षमा है, और वही धर्म है। ऐसा क्षमाभाव

जो आत्मा अपने में प्रगट करता है वही पर्व की यथार्थ आराधना करने वाला है।

उत्तमक्षमा को धारण करने वाले धर्मात्मा कैसी भावना करते हैं वह अब बतलाते है:—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तिष्ठामो वयमुज्वलेन मनसा रागादि दोषोज्झिता
लोकः किंचदपि स्वकीयहृदये स्वेच्छाचरो मन्यताम्।
साध्या शुद्धिरिहात्मनः शमवतामत्रापरेण द्विषा
मित्रेणापि किमु स्वचेष्टितफलं स्वार्थः स्वयं लप्स्यते ॥८४॥

धर्मात्मा जीव उत्तमक्षमा धर्म का चिन्तवन करते हुए ऐसी भावना करते हैं कि—यह स्वेच्छाचारी लोक अपने हृदय में मुझे भला अथवा बुरा—जो चाहे माने, किन्तु मै तो राग-द्वेषरहित होकर अपने उज्वल ज्ञान में ही स्थित रहूँगा। उत्तमक्षमा के धारक पुरुषों को मात्र अपने आत्मा की शुद्धि ही साध्य है। इस जगत में अन्य मेरा बैरी हो अथवा मित्र हो—इससे मुझे क्या ? बैरी या मित्र मेरा तो कुछ भी नहीं कर सकते। जो द्वेषरूप या प्रीतिरूप परिणाम करेगा उसे स्वयं ही उसका फल मिल जायेगा।

धर्मात्मा भावना करता है कि—मेरे स्वभाव में राग-द्वेष नहीं है। मित्र के ऊपर राग अथवा शत्रु के ऊपर द्वेष करना हमारे हृदय में नहीं है। वास्तव में तो इस संसार में कोई किसी का शत्रु या मित्र है ही नहीं। यह स्वेच्छाचारी लोक हमें भला कहे या बुरा, उससे हमें क्या ? कोई भी बैरी हमारे आत्मा को हानि पहुँचाने में समर्थ नहीं है, एवं कोई भक्त मेरे आत्मा को लाभ नहीं करते। भक्तजन यदि भक्ति करते हैं तो अपने शुभराग के कारण, और यदि बैरी निंदा करते हैं तो वे अपने द्वेषपरिणाम को लेकर करते हैं। मैं तो दोनों को जानने वाला हूँ, मेरे ज्ञान में तो दोनों

ज्ञेयरूप हैं। ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव की भावना के बल से ज्ञानी-सन्तों के राग-द्वेषरहित क्षमाभाव होता है, वही उत्तमक्षमा धर्म है। जिसे अपने ज्ञानस्वभाव की भावना न हो उस जीव के कदाचित् बाह्य में शुभपरिणाम दिखलाई देते हों, किन्तु वह शुभराग को आत्मा का स्वरूप मानकर उस ज्ञानस्वभाव के अनादररूप अनन्त क्रोधस्वभाव का सेवन करता है। सम्यग्दर्शनसहित जो क्षमा है वही उत्तमक्षमा है और वही धर्म है।

उत्तमक्षमा धर्म को धारण करने वाला धर्मात्मा कैसा चिंतवन करता है, वह अब विशेषरूप से बतलाते हैं:—

स्रग्धरा

दोषानाघुष्य लोके मम भवतु सुखी दुर्जनश्चेद्धनार्थी
मत्सर्वस्वं गृहीत्वा रिपुरथ सहसा जीवितं स्थानमन्यः।
मध्यस्थस्त्वेवमेवाऽखिलमिह हि जगज्जायतां सौख्यराशि-
र्मत्तो माभूदसौख्यं कथमपि भविनः कस्यचित्पूत्करोमि ॥८५॥

मेरे दोषों को सबके समक्ष प्रगट करके संसार में दुर्जन सुखी हो, धन के लोलुपी मेरा सर्वस्व ग्रहण करके सुखी होजाओ, शत्रु मेरा जीवन लेकर सुखी हो और जिसे मेरा स्थान लेना है वह स्थान लेकर सुखपूर्वक रहे, तथा जो राग-द्वेषरहित मध्यस्थ होकर रहना चाहें वे मध्यस्थ रहकर सुखी रहें, इसप्रकार समस्त जगत् सुखपूर्वक रहे, किन्तु किसी भी संसारी जीव को मुझसे दुःख न पहुँचे मैं ऐसी पुकार सबके समक्ष करता हूँ।

इसमें समस्त संसार के जीवों से निरपेक्ष होकर, अपने आत्मा में वीतरागभाव से रहने की भावना है। मेरे ज्ञान में राग-द्वेष करने का स्वभाव ही नहीं है। स्वतः अपने आत्मा की आराधना की उग्रता करते हुए मुनि पुकार करते हैं कि—इस जगत के जीव जिसमें उन्हें सुख मिले वैसे ही करें, किन्तु मैं अपने आत्म-

भावरूप क्षमा को नहीं छोड़ूंगा । कोई मेरे दोष बतलाकर, या पिछी-कमण्डल लेकर, अथवा स्थान लेकर, भले ही सुख माने और अन्य कोई वीतराग भावरूप रहकर सुखी हो, किन्तु मुझे दोनों पर समभाव है । समस्त जगत सुखी रहे । ऐसी भावना नहीं है कि जगत का कोई भी जीव दुःखी हो, इसप्रकार वास्तव में स्वतः वीतरागरूप रहना चाहते हैं ।

मुनियों के पास धन इत्यादि तो होते नहीं, किन्तु पिछी-कमण्डल अथवा पुस्तक होती है । उसे यदि कोई ले जाता है तो भले ही ले जाये । पिछी-कमण्डलादि मेरे नहीं हैं और उन्हें ले जाने वाले पर मुझे द्वेष नहीं है; मैं तो ज्ञायक हूं । वीतरागभाव मे मध्यस्थ रहने वाले ज्ञानियों पर मुझे राग नहीं, और प्राण लेने वाले अज्ञानी पर द्वेष नहीं है । मेरे निमित्त से कोई दुःखी न हो । मैं तो जगत में जो कुछ होता है उसे जानता रहूँ और अपने आत्मा के वीतरागभाव में स्थिर रहूं, इसप्रकार सम्पूर्ण परिग्रहरहित ज्ञायकभाव की भावना की पुकार की है ।

मुनिदशा में स्वरूपानुभव की एकाग्रता में स्थिर होकर क्रोधादि भाव होने ही न देना सो उत्तमक्षमा है । और गृहस्थ के क्रोधादि-भाव होते अवश्य हैं, किन्तु क्रोधादिभाव होने पर भी 'मेरा ज्ञान-स्वरूप इन क्रोधादि से भिन्न है, क्रोध मेरे स्वरूप में नहीं है, वास्तव में मेरा ज्ञान तो क्रोध का भी ज्ञाता है'-ऐसे क्रोध से भिन्न अपने ज्ञानस्वरूप का श्रद्धा-ज्ञान स्थिर रखना सो भी उत्तमक्षमा है । जो राग को अपना स्वरूप मानता है वह अपने आत्मा की हिंसा करने वाला है, वह अनन्त क्रोधी है । यहांपर मुख्यतया तो मुनिदशा के धर्म की बात है, किन्तु गौणरूप से सम्यग्दृष्टि श्रावक को क्षमा आजाती है, ऐसा जानना चाहिये ।

श्री पद्मनन्दि आचार्य ने उत्तमक्षमा सम्बन्धी पांच श्लोक कहे हैं, उनमें से चार पूर्ण हुए । अब, वीतरागभाव को छोड़कर यदि

राग-द्वेष की वृत्ति उठे तो स्वभाव की उग्र भावना द्वारा उस वृत्ति को नष्ट कर देना चाहिये, वह उत्तमक्षमा है–ऐसा अन्तिम श्लोक में कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

किं जानामि न वीतरागमखिलं त्रैलोक्यचूडामणिं
किं तद्धर्ममुपाश्रितं न भवता किंवा न लोको जड़: ।
मिथ्यादृग्भिरसज्जनैरपटुभिः किंचित्कृतोपद्रवा–
द्यत् कर्मार्जनहेतुमस्थिरतया बाधां मनोमन्यसे ॥८६॥

अपने स्वरूप की वीतरागी स्थिरता में से बाहर निकलकर पर-सन्मुख वृत्ति जानेपर किंचित् राग या द्वेष का विकल्प उठे तो उसे तोड़कर सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट करने के लिये स्वतः अपने को सम्बोधन कर कहते हैं कि रे मन ! मिथ्यादृष्टि दुर्जन मूर्ख जनों द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों से चंचल होकर कर्म आने में कारणभूत ऐसी वेदना का तू अनुभव करता है, तो क्या तू अपने त्रिलोक में सर्वश्रेष्ठ पूजनीय वीतरागभाव को नहीं जानता? उसीप्रकार तूने जिस धर्म का आश्रय ग्रहण किया है क्या तू उस धर्म को नहीं जानता ? और यह समस्त लोक अज्ञानी-जड़ है, क्या इस बात का तुझे ज्ञान नहीं है ? अर्थात् तीनलोक में वीतरागभाव ही सर्वश्रेष्ठ है–ऐसा जानकर–सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक वीतरागभावरूप चारित्र ही धर्म है उसे पहिचानकर, और यह लोग जड़-मूर्ख हैं–ऐसा समझकर हे जीव ! तू मूर्ख अज्ञानियों द्वारा किये जाने वाले उपसर्गों से अपने वीतराग भाव को मत छोड़, राग-द्वेष करके दुःखी न हो ।

उत्तमक्षमा का सम्बन्ध पर-जीवों के साथ नहीं है । परजीवों को क्षमा करना अथवा परजीव अपने को क्षमा करे–ऐसी क्षमा की बात नहीं है । 'समस्त परजीव अपने को क्षमा करें तभी क्षमा कहलाती है'–

यदि ऐसा हो तो जहाँतक अन्य जीव क्रोध को दूर करके क्षमाभाव न करें तबतक अपने भी वीतरागी क्षमाभाव नहीं होसकेंगे। अर्थात् क्षमा तो पराधीन हुई, किन्तु पराधीनता में कभी भी धर्म नहीं होसकता। यहाँ तो स्वतः अपने ज्ञानस्वभाव को रागादि विकारों से भिन्न जानकर, चाहे जैसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों में राग-द्वेष न करना और वीतरागी ज्ञाताभावरूप से स्थिर रहना, सो ही उत्तमक्षमा है, यह स्वाधीन है। परजीव क्षमा दें या न दें तो भी स्वतः अपने में उत्तम क्षमाभाव प्रगट कर सकता है।

यहाँ तो यदि मुनिदशा में शुभ या अशुभ विकल्प उठे तो वह भी उत्तमक्षमा में भंग है, उसको टालकर वीतराग भाव की भावना करते हुए मुनिवर स्वतः अपने को संबोधन करके कहते हैं कि- रे आत्मा ! तू अज्ञानी जीवों द्वारा किये गये उपद्रवों से दुःखित होकर क्लेश करता है, तो क्या तू त्रिलोकपूज्य अपने वीतरागभाव को नहीं जानता ? कि जिससे तू वीतरागता को छोड़कर ऐसा द्वेषभाव करता है ?

मात्र वीतरागभाव ही उत्तमक्षमा धर्म है। 'मैं वीतराग होऊं और राग को दूर करदूं'-ऐसे विकल्प की मुख्यता नहीं है, विकल्प क्षमा नहीं है किन्तु स्वभाव की एकाग्रता में वीतरागारूप से परिणमित होजाना और राग-द्वेष की उत्पत्ति ही न होने देना सो वह उत्तमक्षमा है। जितने रागादि के विकल्प उठते हैं उतना उत्तमक्षमा में भंग पड़ता है। ऐसा उत्तमक्षमा धर्म का स्वरूप है। उसका सम्पूर्णरूप से पालन न कर सके तो भी उसके यथार्थ स्वरूप को पहिचान कर श्रद्धा-ज्ञान करना और जो रागादिभाव होते हैं उनका आदर न करना, वह भी उत्तमक्षमा धर्म का अंश है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अखंड चैतन्यस्वभाव की ओर का बल स्थिर रहते हुए जितने अंश में क्रोधादिभाव न हों उतने अंश में सहज क्षमा है।

और फिर इस श्लोक में आचार्यदेव ने लोगों को जड़ कहा है, वहाँ लोगों पर द्वेष नहीं है, किन्तु अपने आराधकत्व की उग्रता है। अपना ज्ञान केवलज्ञान होने के लिये उछल रहा है, लोग क्या कहते हैं वह देखने की आवश्यक्ता नहीं है। लोग तो जड़समान हैं, चाहे जो कहेंगे; किन्तु हे मुनि! केवलज्ञान प्राप्त करने की तत्परता में तुझे जो भी उपसर्ग आयें उनके सन्मुख क्या देखना है? तुझे अपने में जो शुभविकल्प उठें उनका भी बल नहीं है, और अपनी पर्याय के सन्मुख भी तुझे नहीं देखना है, किन्तु मात्र ज्ञायक स्वभावपूर्ण है उसीमें लक्ष्य करके लीन होजा। इसप्रकार अपने ज्ञायकस्वभाव की भावना के बल से चैतन्यसमुद्र फटकर मानों इसी-समय केवलज्ञान होगा—ऐसी दशा मुनिराज के प्रवर्तमान है। मुझमें पूर्ण ज्ञायकत्व है, उससे मैं पूर्ण ज्ञायक रहकर समस्त जीवों के प्रति क्षमा करता हूँ, सबके प्रति जो राग-द्वेष है उसे छोड़कर मैं वीतरागभाव से अपने स्वभाव में रहता हूँ, मुझे पर की उपेक्षा है और स्वभाव की एकाग्रता है। इसप्रकार अपने ज्ञायकस्वभाव की रुचि और एकाग्रता करके आराधना करना सो ही महान पर्व है।

पर में लक्ष्य जाकर कल्पना उठे कि 'ऐसा क्यों?' अथवा उपसर्ग पर लक्ष्य जाये कि मैं उपसर्ग सहन करूँ, यदि ऐसी वृत्ति उठे तो उसे तोड़ने के लिये कहते हैं कि अरे मुनि! स्वभाव की एकाग्रता द्वारा तुझे केवलज्ञान क्यों नहीं, और यह वृत्ति का उत्थान क्यों? ऐसे अप्रतिहत भाव से आराधना को स्थिर रखना उसका नाम मुनि की उत्तमक्षमा है।

२—उत्तममार्दव धर्म

भाद्रपद शुक्ला—६

आज दशलक्षण पर्व का दूसरा दिन है। कल उत्तमक्षमा धर्म का दिन था, आज उत्तममार्दव धर्म का दिन है। सनातन जैनधर्म के अनादिनियम के प्रमाण से यह भादव सुदी ५ से १४ तक के दस दिनों को 'दशलक्षण पर्व' कहते हैं और वही सच्चा पर्यूषण है। आज उत्तममार्दव धर्म का दिन होने से पद्मनन्दि पंचविंशतिका शास्त्र में से उसका वर्णन होरहा है, उसके वर्णन के दो श्लोक हैं। उत्तममार्दव अर्थात् उत्तम निरभिमानता। सम्यग्दर्शन सहित निरभिमानता सो उत्तममार्दव धर्म है। उत्तमक्षमा, मार्दवादि दस धर्म सम्यग्दर्शनयुक्त जीव के ही होते हैं—ऐसा ध्यान रखना चाहिये।

(वसन्ततिलका)

धर्मांगमेतदिह मार्दवनामधेयं
जात्यादिगर्वपरिहारमुषन्ति सन्तः।
तद्धार्यते किमु न बोधदृशा समस्तं
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं जगदीक्षमाणैः॥ ८७॥

अर्थ:—उत्तमजाति, कुल, बल, ज्ञान, इत्यादि के अभिमान का त्याग सो मार्दव है। यह मार्दव धर्म का अंग है। जो अपनी सम्यग्ज्ञानरूपी दृष्टि से समस्त जगत को स्वप्न तथा इन्द्रजाल की भांति देखते हैं वे उत्तममार्दव धर्म को धारण क्यों नहीं करेंगे? अर्थात अवश्य धारण करते हैं।

यहाँ मुख्यतया मुनि की अपेक्षा से कथन है। उत्तमक्षमादि जो दस धर्म हैं वे सम्यक्‌चारित्र के ही भेद हैं, सम्यग्दर्शन के बिना वह धर्म नहीं होता। शरीर, मन, वाणी की क्रिया आत्मा नहीं करता, उससे आत्मा भिन्न ही है, दया-भक्ति अथवा व्रतादि जो शुभराग है वह धर्म नहीं है, और उसीप्रकार वे धर्म में सहायक भी नहीं हैं। आत्मा चैतन्यस्वरूप है, वह विकार रहित है, ऐसे अपने निश्चयस्वभाव की प्रतीति के द्वारा सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन प्रगट करने के पश्चात् विशेष स्वरूपस्थिरता से चारित्र दशा प्रगट होती है, उस दशा में धर्मी जीव को ऐसी आत्मस्थिरता होती है कि जाति कुल आदि के अभिमान का विकल्प भी नहीं उठता, इसका नाम उत्तममार्दव धर्म है। जो चैतन्यस्वरूप आत्मा को न पहिचाने और शरीर, कुटुम्ब, कुल, धन आदि को अपना माने उसके कभी जातिमद आदि दूर नहीं होते और उत्तममार्दव धर्म नहीं होता। धर्मात्मा जीव के वास्तव में जाति कुल धन इत्यादि का मद नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा हूं, आत्मा के शरीर ही नहीं है, और माता-पिता, कुल, जाति, धन इत्यादि भी आत्मा के नहीं हैं—ऐसे अपने सम्यग्ज्ञान द्वारा समस्त संसार को अपने से भिन्न देखनेवाले को निरभिमानता क्यों न हो? अवश्य होती है। आत्मा की जाति शुद्ध चैतन्यधातु नित्य आनन्दकन्द है, वीतरागता आत्मा का कुल है और चैतन्य केवलज्ञानलक्ष्मी का स्वतः स्वामी है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी जाति, कुल, लक्ष्मी को ज्ञानी अपना नहीं मानते, इससे उन्हें उसका अभिमान नहीं होता। शरीर या शरीर सम्बन्धी कोई पदार्थ ज्ञानी को अपनेरूप भासित नहीं होते, राग अथवा अपूर्ण ज्ञान को भी वह अपना स्वरूप नहीं मानते, किन्तु परिपूर्ण स्वभाव को ही अपना मानकर वह उसकी श्रद्धा करते हैं। ऐसा होने से ज्ञानी के जातिमद, कुलमद, ज्ञानमद या बलमद नहीं होता। जाति कुलादि को अपने से भिन्न जाना है इससे उसका अभिमान

नहीं होता। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान ही उत्तममार्दव धर्म का मूल है–ऐसा यहांपर बताया है।

जाति–कुल आदि से भिन्न अपना चैतन्यस्वरूप जानने के पश्चात् सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा गृहस्थ को अस्थिरता के कारण कुलमद इत्यादि की वृत्ति उठती है, किन्तु धर्मात्मा के रागरहित स्वभाव में एकता के बल से उसका निषेध है, वह राग को अपना स्वरूप नहीं जानता, राग का आदर नहीं है, किन्तु स्वभाव का ही आदर है, इससे परमार्थत: तो वह सम्यग्ज्ञान के द्वारा उसका ज्ञाता ही है। इसलिये यथार्थतया धर्मी जीवों के जातिमद आदि नहीं होते। धर्मीजीव को माता–पिता से अथवा कुल जाति इत्यादि से पहिचानना सो ठीक नहीं है, किन्तु उसके अंतरंग के श्रद्धा–ज्ञान के द्वारा उसे पहिचानना यथार्थ है। धर्मी जीव किसी भी बाह्य पदार्थ से अपना बड़प्पन नहीं मानते, किन्तु स्वभाव के सम्यक्श्रद्धा–ज्ञानपूर्वक अभेदत्व होकर जितना राग दूर होगया उतना बड़प्पन है, और जितना राग शेष रहा उतनी हीनता है–ऐसा जानते हैं। बाह्यपदार्थों से अपने को बड़ा मानना सो मद है, और मेरी जाति हलकी, मेरा कुल नीचा, इत्यादि प्रकार बाह्यपदार्थों से अपने को हीन मानना वह भी मद है, क्योंकि उसने जाति–कुल में अहंपना किया है।

प्रथम सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान करने के पश्चात् विशेष पुरुषार्थ द्वारा स्वरूपस्थिरता प्रगट करके संत–मुनिदशा में जाति–कुल आदि का विकल्प तोड़कर वीतरागी स्थिरता बढ़ाने की बात है। किन्तु उत्तम-निरभिमानता किसे कहा जाये इसीका जिसे भान नहीं है, उसे उत्तममार्दव धर्म कहाँ से हो? आत्मा नित्य ज्ञानघन है, देहादि जो अनित्यसंयोग हैं वे आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। जिसप्रकार 'घी का घड़ा' ऐसा बोला जाता है, किन्तु वह यथार्थ वस्तुस्वरूप नहीं है, वैसे ही ज्ञानी को पहिचानने के लिये ऐसा कहा जाता है कि यह

माता-पिता, यह कुल यह जाति। किन्तु वास्तविक स्वरूप ऐसा नहीं है। ज्ञानी को उसकी आत्मा से पहिचानना ही यथार्थ पहिचान है। आत्मा का संसार माता, पिता, स्त्री, शरीरादि में नहीं है किन्तु अपनी पर्याय में ही जो अज्ञान और राग-द्वेष है वह संसार है। आत्मा का संसारभाव आत्मा की दशा में ही है। अज्ञानी जीव भ्रम से ऐसा मानता है कि यह मेरी माता और यह मेरा पिता इत्यादि। यह उसका भ्रम ही संसार है। स्वत: अपने को चैतन्यस्वरूप से नहीं जाना एवं शरीरयुक्त माना, इससे शरीर के सम्बन्धी माता-पिता को अपना ही माता-पिता मानता है, और उसीसे जीव को शरीर के रूप इत्यादि का अभिमान होता है।

वास्तव में तो स्वतः चैतन्यस्वरूप है और माता-पिता इत्यादि का आत्मा भी चैतन्यस्वरूप है, कोई आत्मा शरीररूप नहीं है, तब फिर कौन किसके माता-पिता और कौन किसका पुत्र? जिनके ऐसी दृष्टि है, उन्हीं के पर का अहंकार दूर होता है। यह शरीर तो जड़परमाणु हैं-मिट्टी है। जो जीव शरीर के बल का अभिमान करता है वह जड़ का स्वामी बनता है, शरीर से निरन्तर भिन्न चैतन्यस्वरूपी अरूपीस्वभाव हूँ, उसे ऐसा भान नहीं है। चैतन्यस्वरूप का अनादर करके शरीर के बल इत्यादि का अहंकार करनेवाला जीव महान हिंसक है। शरीर मेरा है, शरीर की क्रिया मैं करता हूँ और शारीरिक शक्ति अच्छी हो तो धर्मध्यान बराबर होसकता है-ऐसा जो मानता है वह जीव आत्मा की हिंसा करनेवाला है। आत्मा शरीरादि का कुछ भी नहीं कर सकता। आत्मा का बल (पुरुषार्थ) या तो अज्ञानभाव से पुण्यपाप में अटक जाता है या असंग स्वभाव को जानकर उसमें रागद्वेषरहित स्थिरता प्रगट करता है।

ज्ञानी जीव जानता है कि पूर्ण ज्ञान और आनन्द ही मात्र मेरा रूप है, जाति, कुल, शरीर, बल, विद्याएँ अथवा अपूर्णज्ञान-वे कोई भी मेरा रूप नहीं हैं। जहाँ ऐसा भिन्नत्व यथार्थतया जाना वहीं

पर का अहंकार दूर होगया है। पश्चात् जो अल्पराग की वृत्ति उठे उसका ज्ञानी के निषेध है। यहां ऐसी बात है कि उस राग की वृत्ति को उठने ही नहीं देना और ज्ञातास्वरूप स्थिर रहना सो उत्तममार्दव धर्म है, और वह धर्म मोक्षमार्ग में विचरनेवाले मुनिओं का सहचर रूप होता है।

जैन अर्थात् जीतनेवाला; आत्मा का पर से भिन्नस्वरूप जानकर जिसने मिथ्यात्व-अज्ञान को जीत लिया है अर्थात् नष्ट किया है, वैसे ही जिसने आत्मस्वरूप में स्थिरता द्वारा राग द्वेष को जीत लिया है वही जैन है। जो जैन होता है वह 'पर का मैं करता हूं' ऐसा अभिमान नहीं करता, राग-द्वेष को अपना स्वरूप नहीं मानता।

ज्ञानियों के ज्ञानमद नहीं होता। शास्त्र का ज्ञान या अवधि-मनःपर्ययज्ञान हो, उसका ज्ञानी को अभिमान नहीं होता। जिन्होंने पूर्णज्ञानस्वभाव ही जाना है उन्हें अपूर्णज्ञान में संतोष या उसका अभिमान कैसे होगा? बारहवें गुणस्थानतक का समस्त ज्ञान अल्प है, केवलज्ञान के अनन्तवें भाग बराबर है, उस तुच्छपर्याय का ज्ञानी को अभिमान नहीं है, किन्तु अनन्त चैतन्यस्वभाव की महिमा और विनय से स्वभाव में लीन होकर अपूर्णज्ञान का विकल्प छोड़कर केवलज्ञान प्रगट करते हैं। थोड़े से शास्त्र बांचे और थोड़ासा सुना, वहां तो 'मैं बहुत जानता हूं' जिसे ऐसा अभिमान होता है वह जीव पर्यायदृष्टिवाला मिथ्यादृष्टि है, उसने पूर्णस्वभाव को नहीं जाना है, इससे किंचित् ज्ञातृत्व की महिमा और अभिमान होता है। कोई जीव सत्स्वभाव समझे बिना मंदकषाय करके निरभिमानता रखे तो वह पुण्यबंध का कारण है, यहाँ उसकी बात नहीं है, किन्तु धर्मात्मा के स्वभाव की जागृतिपूर्वक वीतरागभाव प्रगट होनेपर मद का विकल्प ही नहीं होता, वही सच्चा मार्दवधर्म है। स्वभाव को जाने बिना पर्याय का अभिमान दूर नहीं होता और उसके धर्म नहीं होता।

इन दस धर्मों का वर्णन करने वाले श्री पद्मनन्दि आचार्य महान संतमुनि हैं, छट्ठे-सातवें गुणस्थान की श्रेणी में झूल रहे हैं, अधिकांश वीतरागता प्रगटी है, और अल्पराग रह गया है, इससे वे कहते हैं कि अहो ! सिद्ध भगवान का गुणगान हम क्या कर सकते हैं ? हमारा ज्ञान अत्यंत अल्प है, हम तो मूढ़मति-जड़बुद्धि हैं। जहांतक पूर्ण केवलज्ञान परमात्मदशा को प्राप्त नहीं किया वहाँतक पामरता है। आचार्य-संत तो महा ज्ञान के सागर हैं, अगाध बुद्धिवाले हैं, तीव्र आराधकदशा प्रगटी है, तथापि उनके कितनी निरभिमानता है ? ज्ञान का किंचित् भी गर्व नहीं करते। अपूर्ण और पूर्णदशा के विकल्प को तोड़कर बारम्बार स्वरूप में लीन होजाते हैं-इसका नाम मार्दव धर्म है। पर्याय-दृष्टि को छोड़कर अखण्डस्वभाव के श्रद्धा ज्ञान को स्थिर रखना यह गृहस्थ का धर्म है। किन्तु शुभराग करना या पूजा-भक्ति करना वह कहीं गृहस्थ का धर्म नहीं है। अशुभराग से बचने के लिये धर्मी गृहस्थ के पूजा-भक्ति इत्यादि का शुभराग होता अवश्य है, किन्तु वह शुभराग धर्म नहीं है, परन्तु रागरहित चैतन्य स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक जितना राग दूर हुआ उतना धर्म है। जो राग रहा वह धर्म नहीं है।

ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वरूप में जागृत हैं। मान-अपमान की वृत्ति मेरे स्वरूप में नहीं है, यह समस्त संसार इन्द्रजाल के समान और स्वप्नवत् है अर्थात् मेरे स्वभाव में समस्त जगत का अभाव है, मुझे जगत में किसी के साथ सम्बन्ध ही नहीं है-ऐसा जाननेवाले ज्ञानियों के मान कहाँ से होगा ? अर्थात् नहीं ही होगा। मुनि के तो मान की वृत्ति ही नहीं उठती, वह निरभिमानता है, और गृहस्थ के किसी मानादि की वृत्ति होजाये तो भी वह उसका ज्ञाता ही है, मानादि से भिन्नस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान की ही दृढ़ता उसे होती है। नित्य अबंध चैतन्यस्वभाव हूं, ऐसे स्वभाव की प्रभुता के समक्ष ज्ञानी को अपूर्णपर्याय की पामरता भासित होती है, उन्हें

क्षणिकपर्याय का अभिमान नहीं होता। उनके ही स्वभाव के आश्रय से वीतरागभाव होनेपर उत्तममार्दव धर्म होता है।

अब कहते हैं कि स्व-पर के भिन्नत्व के विवेक द्वारा शरीर की अनित्यता का चिंतवन करनेवाले मुनियों को किसी भी पदार्थ में अहंकार करने का अवसर ही नहीं मिलता:—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

कास्था सद्मनि सुन्दरेऽपि परितो दंदह्यमानेऽग्निभिः
कायादौतुजरादिभिः प्रतिदिनं गच्छत्यवस्थांतरम् ।
इत्यालोचयतो हृदिप्रशमिनः भास्वद्विवेकोज्वले
गर्वस्यावसरः कुतोऽत्र घटते भावेषु सर्वेष्वपि ॥ ८८ ॥

कोई महल अत्यंत सुन्दर, शोभायमान हो किन्तु यदि वह सबओर से अग्निद्वारा सुलग रहा हो तो उसके बचने की अंशमात्र आशा नहीं है, वैसे ही यह शरीर वृद्धावस्थासहित है तथा प्रतिदिन एक अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था धारण करता है, इसप्रकार अपने हृदय में निरंतर सम्यग्ज्ञानरूपी उज्वल विवेक से शरीर की अनित्यता का चिन्तवन करनेवाले मुनि को जगत के समस्त पदार्थों में गर्व करने का अवसर ही किसप्रकार है? अर्थात् जो ध्रुव नित्य चैतन्यस्वभाव को जानकर और शरीर की अनित्यता को समझकर, निर्मल आत्मध्यान में मग्न हैं उन मुनिओं को जगत में किन्हीं भी पदार्थों का गर्व होता ही नहीं।

अत्यंत मनोहर उद्यानयुक्त भवन हो, वह चारों ओर से अग्नि में जलने लगे और उसके बचने की किंचित्मात्र आशा न हो तो लोग उसका स्वामित्व छोड़कर बाहर भागते हैं–ऐसा अनित्यता का दृष्टांत देकर आचार्यदेव समझाते हैं कि यह शरीर अनित्य है, वृद्धावस्थायुक्त है, निरंतर अपनी दशा को परिवर्तित करता हुआ वह जीर्णता को प्राप्त होता है, जैसी अवस्था आज

हो, वैसी कल दिखलाई नहीं देती, ऐसे इस अनित्य शरीर को किसी भी प्रकार से रोका नहीं जासकता। जहाँ यह शरीर ही अपना नहीं है वहाँ अन्य कौनसे पदार्थ अपने होसकते हैं ? आत्मा का चैतन्यस्वभाव ही ध्रुव और नित्य एकरूप है, वह कभी जीर्ण नहीं होता और उसमें अग्नि भी नहीं लगती। इसप्रकार शरीरादि की अनित्यता और अपने चैतन्यस्वभाव की नित्यता का अपने अंतरंग में भेदज्ञान द्वारा विचार करने वाले जीवों को इस जगत में किसी भी पदार्थ पर गर्व होने का अवकाश ही नहीं है। जहां शरीर को ही पर जानलिया वहां अन्य किसका अहंकार करेगा ?

शरीर अपने स्वभाव से ही निरंतर एक अवस्था को बदलकर दूसरी अवस्था धारण करता है। वृद्धावस्था हुई उसका कर्ता आत्मा नहीं है। धर्मी जीव के शरीर की किसी भी अवस्था का अहंकार नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वतः तो अरूपी चैतन्यस्वरूप है, और शरीर जड़-परमाणुओं से निर्मित है। आत्मा ने कभी भी शरीरादि का स्पर्श नहीं किया, वह तो अस्पर्शी है।

शरीर क्रमशः क्षण-क्षण में नाश को प्राप्त होगा, वह स्थायी नहीं रहेगा। मैं त्रिकाल ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, मेरे स्वरूप के आश्रय से मेरी निर्मल दशा प्रतिक्षण में बदलती है। अपने स्वभाव के आश्रय से बदलकर जो केवलज्ञान दशा होगी, वह तो द्रव्य में अभेद एकाकार होकर सदा ऐसी की ऐसी रहेगी, किन्तु शरीर की कोई भी अवस्था मेरे साथ रहनेवाली नहीं है। ऐसा जानकर अपने ज्ञान में स्थिरता प्रगट करके जिन धर्मात्माओं ने देहादि के अभिमान का विकल्प छोड़ दिया है और स्वभाव की दृढ़ता को प्राप्त किया है उनके उत्तममार्दव धर्म होता है।

हिलना-डुलना, बोलना, स्थिर रहना, मौन रहना, खाना-पीना इत्यादि आत्मा नहीं करता, वह सब तो शरीर की क्रियायें हैं। वे

क्रियाएँ मैं करता हूँ, जो ऐसा मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, उसे जड़ का अहंकार है। देह के परमाणुओं की पर्याय समय-समय पर अपनेआप ही बदलती है, उसके साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है। मेरी पर्याय का सम्बन्ध अपने त्रिकाली द्रव्य के साथ है। निर्मल ज्ञान-दर्शन और चारित्ररूप मेरी दशा प्रतिसमय बदलकर ध्रुव-स्वभाव में एकता बढ़ती जाती है। इसप्रकार स्वभाव की एकता होने से पर का अभिमान ज्ञानी को कहां से हो ? अहो ! मुनिवरों को अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई हों, अवधि-मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हुआ हो, तथापि अभिमान का किंचित् विकल्प भी नहीं होता, उलटे नम्र होकर, स्वभावोन्मुखता द्वारा पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करते हैं। मुनि को पर्याय की ओर लक्ष्य जाकर विकल्प उठे कि 'केवलज्ञान प्रगट करूं' तो वह भी राग है। ऐसे विकल्प को भी तोड़कर जो वीतरागी स्वरूपस्थिरता है वह उत्कृष्ट मार्दव धर्म है और वही मुक्ति का कारण है।

मेरे उपदेश से दूसरे ने धर्म प्राप्त किया, अथवा मैं किसी अन्य को धर्म प्राप्त करादूं-ऐसी बुद्धि ज्ञानियों के नहीं होती। वाणी जड़ है, उस वाणी का कर्ता ही आत्मा नहीं है। तब फिर दूसरे को धर्म प्राप्त करादूं-यह बात कहाँ रही ? इसलिये पर से भिन्न अपने स्वरूप को पहिचानकर मुनिवरों को निरंतर ज्ञायक साक्षीस्वरूप आत्मा के निर्मल स्वभाव का ही ध्यान करना चाहिये। इसप्रकार उत्तममार्दव धर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

३—उत्तमआर्जव धर्म

भाद्रपद शुक्ला—७

आज दशलक्षण पर्व का तीसरा दिन है, यह उत्तमआर्जव धर्म का दिन कहलाता है। उत्तमआर्जव अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित वीतरागी सरलता। आत्मा के ज्ञायकस्वरूप में कपट का भाव ही उत्पन्न न होने देना सो उत्तम सरलता है। आत्मा ज्ञान-आनन्द की मूर्ति, क्रोध, मान, माया, लोभ रहित है, उसे यथारूप (जैसा है वैसा) समझना और श्रद्धा में वक्रता न करना सो सम्यग्दर्शन-रूप सरलता है। और चैतन्यस्वरूप को जैसा है वैसा न मानकर स्वरूप की वक्रता करके पुण्य-पापयुक्त मानना सो अनन्त कपट है। किसी पर के आश्रय से अथवा पुण्यपरिणाम से आत्मा को लाभ मानना सो वक्रता है, अनार्यता है। आर्य अर्थात् सरल। जैसा सहज ज्ञायकमूर्ति आत्मस्वरूप है वैसा ही मानना, किंचित् विपरीत न जानना सो सरलता है। और चैतन्यस्वरूप की प्रतीति में वक्रता करके किसी विकल्प या व्यवहार के आश्रय से लाभ मानना सो अनार्यता है। व्यवहार रत्नत्रय भी रागरूप है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा का ज्ञायकस्वरूप पुण्य-पापरहित है, व्यवहार रत्नत्रयरूप पराश्रितभाव से उसे लाभ मानना सो अनन्त कपट का सेवन है। और उस व्यवहार का आश्रय छोड़कर निश्चय शुद्ध ज्ञातास्वभाव को जानना-मानना और उसमें स्थिर होना सो उत्तमआर्जव धर्म है। स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान होने के पश्चात् मुनिदशा में जो व्यवहार रत्नत्रय की वृत्ति उठे वह राग है, वह

उत्तमआर्जव धर्म नहीं है; किन्तु रागरहित होकर जितनी स्वरूप-स्थिरता हुई उतना ही उत्तमआर्जव धर्म है। वास्तव में तो आत्मा के वीतरागभाव में ही उत्तमक्षमादि दसों धर्म आजाते हैं। दसों धर्मों में वीतरागभाव एक ही प्रकार का है, किन्तु वह वीतराग-भाव होने से पूर्व क्षमा आदि जिसप्रकार का विकल्प होता है उसी के अनुसार उत्तमक्षमादि नामों से उस वीतरागभाव को बतलाया जाता है। और उस शुभविकल्प को उपचार से उत्तम-क्षमादि धर्म कहा जाता है। आचार्यदेव उत्तमआर्जव धर्म का वर्णन करते हैं:—

(आर्या)

हृदि यत्तद्वाचि वहिः फलति तदेवार्जवं भवत्येतत् ।
धर्मो विकृतिरधर्मो द्वाविह सुरसद्मनरकपथौ ॥८९॥

जो बात मन में हो वही वचन द्वारा प्रगट करना उसे आर्जवधर्म कहते हैं, और उससे विरुद्ध–अर्थात् माया से दूसरे को ठगने का परिणाम सो अधर्म है। इनमें से आर्जवधर्म स्वर्ग का और अधर्म नरक का पंथ है। जैसा हृदय में हो वैसा ही कहने का परिणाम तो शुभपरिणाम है; वाणी से भिन्नस्वरूपी हूँ, और जो शुभपरिणाम हैं वह मेरा स्वरूप नहीं है–ऐसे सम्यक्स्वभाव के भानपूर्वक जिसके शुभ का निषेध होता है उसके शुभपरिणाम को व्यवहार से उत्तमआर्जव धर्म कहते हैं। परमार्थ से तो जैसा शुद्धआत्मस्वभाव जाना है वैसा ही परिणमन पर्याय में होजाना सो ही उत्तमसरलता धर्म है। जैसा स्वभाव है वैसा ही परिणमित होगया, किन्तु किंचित्मात्र वक्रता (विकार) नहीं हुई वह परमार्थ से उत्तमआर्जव धर्म है। और उस स्वभाव में विकृति होकर जितना रागादि उत्पन्न हो उतना उत्तमआर्जव धर्म में भंग है।

यहाँ आर्जव धर्म के फल से स्वर्ग की प्राप्ति कही है। सम्य-ग्दर्शनपूर्वक राग का नाश करके जितना वीतरागभावरूप आर्जव

धर्म प्रगट किया है वह तो मोक्ष का कारण है, किन्तु इससमय पूर्ण वीतरागता नहीं है और राग रहजाता है इससे उस शुभरागरूप आर्जवधर्म के फल में स्वर्ग मिलता है। राग को लेकर बीच में भव धारण करना पड़ते हैं; परन्तु जिन्हें स्वभाव का भान नहीं है और धर्म का अनादर करके वक्रता से वर्त रहे हैं वे तो नरक-गति में जाते हैं। आत्मस्वभाव को विपरीत मानना ही सबसे बड़ी वक्रता है। सरलता के शुभपरिणाम या वक्रता के अशुभपरिणाम, इन दोनों से रहित एक ज्ञायकस्वरूपी आत्मा है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान को स्थिर रखना सो धर्म है, वह धर्म प्रत्येक गृहस्थ के होसकता है। और ऐसे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक जिनके आत्मा में अत्यंत सरलता प्रगट होगई है उनके उत्तमआर्जव धर्म है। चारित्रदशा में कपटभाव तो होने ही नहीं देना और 'सरलता करूँ' ऐसा शुभभाव हो वह भी छोड़कर वीतरागी सरलता प्रगट करना उसका नाम उत्तमआर्जव धर्म है।

अब, आचार्यदेव कहते हैं कि मायाचार करने से अहिंसा इत्यादि उत्तम गुणों का भी लोप होजाता है:—

(शार्दूलविक्रीडित)

मायित्वं कुरुते कृतं सकृदपिच्छायाविधातं गुणे-
ष्वाजातेर्यमिनोऽर्जितेष्विह गुरुक्लेशैः शमादिष्वलम् ।
सर्वे तत्र यदासते विनिभृता क्रोधादयस्तत्त्वत-
स्तत्पापंवत येन दुर्गतिपथे जीवश्चिरं भ्राम्यति ॥९०॥

यदि एकबार भी मायाचारी की जाये तो वह अत्यंत कठिनाई से संचित किये हुए मुनि के गुण सत्य-अहिंसा आदि को ढक देती है, अर्थात् मायाचारी पुरुष के अहिंसादि गुण भी आदरणीय नहीं रहते। और उस मायाचाररूपी मकान में क्रोधादि कषायें भी छिपी रहती हैं; उस मायाचार से उत्पन्न हुआ पाप जीव को अनेकप्रकार की

दुर्गतियों में भ्रमण कराता है। इसलिये मुनिओं को मायाचार उत्पन्न ही न होने देना चाहिये।

जो अपने रागादि दोषों को दोष के रूप में नहीं जानता और उन्हें धर्म मानता है, वह वास्तव में मायाचारी है। अपने दोष को छिपाने का भाव सो मायाचार है। जिसे सज्जन पुरुषों की यथार्थ बात नहीं रुचती और अपने दोष की बात सुनकर कहते हैं कि 'अरे! क्या हम कपटी हैं? मेरे कहने का आशय दूसरा था और आप कुछ दूसरा ही समझे हैं।' ऐसा कहकर जो अपना बचाव करना चाहता है वह पापी-मायाचारी है। ऐसे जीव में यदि अहिंसा-ब्रह्मचर्यादि हों तो भी वास्तव में वे प्रशंसनीय नहीं हैं। मुनि के भी जितने अंश में राग होता है उतने अंश में उत्तमक्षमा—निरभिमानता इत्यादि धर्मों में कचास है। पहले अपने को सत् की कुछ भी प्रतीति नहीं थी और जिन सत्पुरुष के पास से अपूर्व सत् की प्रतीति हुई उन सत्पुरुष के उपकार को न माने, अपने बड़प्पन के लिये उनका नाम आदि छिपाये, उन्हें याद न करे, प्रगट न करे तो वह जीव कपटी है, वास्तव में उसने अपने स्वभाव को ही छिपाया है।

यह उत्कृष्टतया मुनिदशा की बात है। किन्तु श्रावक-गृहस्थों को भी स्वभाव के भानपूर्वक मायारहित उत्तम सरल स्वभाव प्रगट करने का प्रयत्न करना चाहिये, और उत्तमक्षमादि धर्मों का जितना होसके उतना पालन करना चाहिये। मुनि को कुछ दोष लग गया हो और वह दोष यदि गुरु के पास प्रगट करने में संकोच करे तो वह माया है। दोष छिपाने की बुद्धि से गुरु के पास प्रगट न करे और यदि अपनेआप प्रायश्चित ले या 'मैं अपना यह दोष प्रगट करूँगा तो बाह्य में मेरी निन्दा होगी'—ऐसे भय से दोष प्रगट न करे, अथवा उसे अल्प करके कहे तो वह माया है। और अपने से होगये समस्त दोषों को सरलता पूर्वक

प्रगट कर देने का भाव भी शुभभाव है, उस शुभभाव का भी आदर नहीं है, इससे मुनि के व्यवहार से उत्तमआर्जव है। और वीतराग भाव से स्थिर रहकर दोष की उत्पत्ति ही न होने देना सो परमार्थ से उत्तमआर्जव है। जो शुभराग से धर्म मानता है ऐसा अज्ञानी जीव चाहे जैसी सरलता के परिणाम रखे, छोटे से छोटे दोष को भी प्रगट करके प्रायश्चित ले तो भी उसके किंचित् आर्जवधर्म नहीं है, क्योंकि राग में धर्म माना वहां मूल मिथ्यात्वरूपी दोष है, उसका उसे भान नहीं है। जो दोष को ही गुण मान बैठा है उसके सरलता कैसी ? उत्तम सरलता तो सम्यक्दर्शन पूर्वक ही होसकती है और वही धर्म है। जैसा मन में हो वैसा ही वचन से बोले-ऐसी सरलता रखे, किन्तु मान्यता ऐसी हो कि यह वचन बोलने की क्रिया मैं करता हूँ, और इससे मुझे लाभ होता है तो वैसे जीव के यथार्थ सरलता नहीं है। उसने वक्रमान्यता करके अपने सम्पूर्ण चैतन्यस्वभाव को छिपाया है-वही परमार्थ से अनन्त कपट है।

जो श्रीगुरु आदि के उपकार को छिपाता है वह तो व्यवहार में भी सरल नहीं है, उसके उत्तम वीतरागी सरलता तो होती ही नहीं। जिसे व्यवहारसरलता प्रगटी हो वह जीव गुरु के पास ऐसी विनयपूर्वक प्रगट करता है कि-प्रभो ! मैं मूढ़, पामर था, आजतक मुझे कुछ भी खबर नहीं थी, आपकी कृपा से ही मुझे अपूर्व सत्य प्राप्त हुआ। इसप्रकार सीधा-सरल होकर अर्पणता लाकर स्वभाव का बहुमान किये बिना तो व्यवहारसरलता भी नहीं होती, और उसका दोष दूर होकर वीतरागता प्रगट नहीं होती। प्रथम तो बराबर पहिचान करना चाहिये कि धर्म क्या है, और दोष क्या है ? अपने परमार्थ स्वभाव को जानकर उसके आश्रय से स्थिर रहने में राग-द्वेषरूप माया की उत्पत्ति ही न हो-यह उत्तम आर्जव धर्म है। मुनिओं के वैसी अधिकांश स्थिरता होती है; किन्तु उनके जो

अल्पराग होता है उसे दूर करके वे सम्पूर्ण वीतरागी स्थिरता प्रगट करने का पुरुषार्थ करते हैं। और गृहस्थों को प्रथम तो ऐसी यथार्थ पहिचान करना चाहिये तथा दोषों को टालकर स्थिरता बढ़ाने की भावना करना चाहिये। जो अपने आत्मा में ऐसी यथार्थ पहिचान करे और वीतरागभाव प्रगट करे उसने ही सच्चा दशलक्षण पर्व मनाया कहा जाता है।

इसप्रकार उत्तमआर्जव धर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

४—उत्तमसत्य धर्म

भाद्रपद शुक्ला—८

आज दशलक्षण पर्व का चौथा दिन है। उत्तमक्षमा, मार्दव, और आर्जव इन तीन धर्मों के स्वरूप का वर्णन होचुका है। आज उत्तमसत्य धर्म का दिन है। इन उत्तमक्षमादि धर्मों का आराधन सम्यक्‌दर्शनपूर्वक ही होसकता है। इन भादव सुदी ५ से १४ तक के दिनों को दशलक्षणपर्व कहते हैं और वही पर्यूषणपर्व है।

निर्ग्रन्थ सन्त मुनिवरों के सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक उत्तमसत्य धर्म कैसे होता है उसका वर्णन श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव करते हैं:—

(आर्या)

स्वपरहितमेव मुनिभिर्मितममृतसमं सदैव सत्यं च
वक्तव्यं वचनमथ प्रविधेयं धीधनैर्मौनम्‌ ॥९१॥

उत्कृष्ट ज्ञान को धारण करनेवाले मुनिवरों को, प्रथम तो मौन ही रहना चाहिये। अर्थात्‌ परमसत्य आत्मस्वभाव की एकाग्रता में रहकर बोलने का विकल्प ही न होने देना चाहिये। और यदि विकल्प उठे तो ऐसे वचन बोलना चाहिये कि जो सदैव स्व-पर को हितकारी हों, अमृतसमान मिष्ट और सत्य हों।

सम्यग्ज्ञान ही उत्कृष्ट ज्ञान है। ऐसे सम्यग्ज्ञान के धारक मुनिओं के ही उत्तमसत्य होता है। उत्तमसत्य सम्यक्‌चारित्र का एक प्रकार है। जिसके सम्यग्ज्ञान न हो और ऐसा मानता हो कि आत्मा पर का करे, पुण्य से धर्म हो, ईश्वर जगत का कर्ता है—

वह जीव यदि लोकव्यवहार में सत्य बोलता हो तो भी उसके उत्तमसत्य धर्म नहीं होता। यहाँ तो सम्यग्दर्शन के बाद मुनिदशा की मुख्यरूप से बात है। उत्तमसम्यग्ज्ञान के धारक मुनिवरों को प्रथम तो मौन रहना ही श्रेष्ठ है, अर्थात् चैतन्यस्वरूप में वीतरागी स्थिरता प्रगट करके वाणी की ओर का विकल्प ही नहीं होने देना चाहिये। ऐसा वीतरागीभाव ही परमार्थ से उत्तमसत्य धर्म है। और अस्थिरता के कारण जब विकल्प उठे तब स्व और पर को हितकर, सत्य तथा प्रिय वचन बोलने का शुभराग सो व्यवहार से उत्तमसत्य धर्म है। उसमें जो राग हो वह धर्म नहीं है, किन्तु उससमय जितना वीतरागभाव है उतना धर्म है। वाणी बोली जाये या न बोली जाये वह तो जड़परमाणुओं की स्वतंत्र अवस्था है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। वाणी का कर्ता आत्मा है-जो ऐसा मानता है वह अज्ञानी है, उसके सत्यधर्म नहीं होता।

प्रश्न:—यदि वाणी का कर्ता आत्मा नहीं है तो 'मुनिओं को सत्यवचन बोलना' ऐसा यहाँ आचार्यदेव ने किसलिये कहा?

उत्तर:—सम्यग्ज्ञानपूर्वक सत्य बोलने का भाव हो उससमय यदि वाणी निकले तो वह सत्य ही होती है-ऐसा मेल बतलाने के लिये निमित्त से कहा जाता है कि 'मुनिओं को सत्य बोलना' उसमें ऐसा आशय है कि-मुनियों को आत्मस्वरूप में स्थिर रहकर वाणी की ओर का विकल्प ही न होने देना चाहिये, और यदि विकल्प हो तो असत्य वचन की ओर का अशुभराग तो नहीं ही होने देना। किन्तु 'आत्मा जड़ वाणी का कर्ता है'-ऐसा कहने का तात्पर्य नहीं है।

वाणी बोली जाय अथवा न बोली जाये-उसका कर्ता जीव नहीं है। ज्ञानी अपने को वाणी का कर्ता नहीं मानते, और सत्य बोलने का विकल्प हो उसके स्वामी भी ज्ञानी नहीं होते, वे वाणी और विकल्प रहित चिदानन्दस्वभाव को ही अपना स्वरूप मानकर उसका

आदर करते हैं। इससे श्रद्धा और ज्ञान की अपेक्षा से तो चौथे गुणस्थान में धर्मात्मा के भी उत्तमसत्य इत्यादि धर्म होते हैं। वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा ही सत्य जानना सो धर्म है। जैसी है वैसी ही सत्य वस्तु जाने बिना धर्म हो ही नहीं सकता। सम्यग्ज्ञान से वाणी–विकल्प रहित आत्मस्वरूप को जानने के पश्चात् उस स्वरूप में स्थिरता करना, उसमें उत्तमक्षमादि दसों धर्म समाविष्ट होजाते हैं। और सत्य बोलने का उपदेशादि का विकल्प उठे वह व्यवहार से उत्तम सत्य है। सत्य बोलने के विकल्प को अथवा वाणी को ज्ञानी अपना स्वरूप नहीं मानते। मैं वीतरागभाव का कर्ता हूँ, इच्छा अथवा भाषा का मैं कर्ता नहीं हूँ और न वे मेरे कर्म हैं।

जो सत्य बोला जाता है, उन शब्दों का मैं कर्ता हूँ, जो जीव ऐसा माने वह बिल्कुल झूठ बोलता है, क्योंकि शरीर वाणी इत्यादि पदार्थ अपने नहीं हैं और न स्वतः उनका कर्ता है। तथापि मैं उन पदार्थों का कर्ता हूँ–ऐसा वह असत्य मानता है। और इसी प्रकार जगत के अनन्त परद्रव्यों को वह अपना मानता है। इससे उसके मिथ्यात्वरूप महान असत्य का सेवन है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि–मुनिओं को मौन रहना चाहिये। उसका यथार्थ अर्थ यह है कि–मुनिओं को वाणी की ओर का लक्ष्य छोड़कर आत्मा में एकाग्र रहना चाहिये। वाणी को रोकने की क्रिया आत्मा की नहीं है, किन्तु आत्मा जब बोलने के विकल्प को तोड़कर वीतरागभाव से आत्मा के अनुभव में लीन हो तब वचन में वाणी नहीं बोली जाती–ऐसा परमाणुओं का स्वतंत्र परिणमन होता है। 'मौन रहना' यह तो 'घी का घड़ा' कहने की भांति उपचारकथन है। वास्तव में भाषा करना या उसे रोकना चेतन के आधीन नहीं है। धर्मोपदेश करूँ, स्वाध्याय करूं, इसप्रकार का शुभविकल्प मुनि को हो और परमसत्य उपदेश भी निकले, किन्तु

उससमय सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अशुभराग को छेदकर जितना वीत-रागभाव है वही धर्म है, जो शुभराग है उसे मुनि धर्म नहीं मानते, और वे उसका आदर भी नहीं करते इससे उनके उत्तम-सत्य धर्म है। किन्तु यदि राग को आदरणीय माने तो वहाँ तो सम्यक्दर्शन भी नहीं होता, उत्तमसत्य धर्म तो सम्यक्चारित्र का भेद है, वह तो होता ही कहाँ से ?

मेरे शुभराग से या वाणी से मुझे या अन्य को लाभ हो, अथवा मैं निमित्त बनकर दूसरे को समझा दूँ—ऐसा जिसका अभि-प्राय है वह जीव महा असत्य अभिप्राय का सेवन करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। शुभराग या व्यवहार महाव्रत का पालन करते-करते धर्म होता है—ऐसा उपदेश अथवा निमित्त से दूसरे का कार्य हो, पुण्य से धर्म हो- इसप्रकार का उपदेश दे वह जीव असत्य वक्ता है और मिथ्यादृष्टि है। ऐसे जीवों की बात नहीं है। यहाँपर तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्रदशा प्रगट करके जो मुनि हुए हैं और केवलज्ञान प्रगट करने की योग्यतावाले हैं -ऐसे मुनिवरों को सम्बोधन करके आचार्यदेव कहते हैं कि—अहो मुनिवरो ! तुम्हें स्वरूपस्थिरता में लीन रहकर सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट करना ही योग्य है। मुनिओं को किसीप्रकार का शुभराग करना भी योग्य नहीं है। सत्यवाणी की ओर की आकांक्षा को नष्ट करके परमसत्य आत्मस्वभाव में स्थिर रहकर केवलज्ञान प्रगट करना योग्य है।

श्री आचार्यदेव उत्तमसत्य धर्म की महिमा बतलाते हैं:—

सति सन्ति व्रतान्येव सूनृते वचसि स्थिते,
भवत्याराधिता सिद्धिः जगत्पूज्या च भारती ॥ ९२ ॥

जो जीव सत्यवचन बोलनेवाला है उसके समस्त व्रत विद्यमान रहते हैं, अर्थात् सत्यव्रत का पालन करने से समस्त व्रतों का पालन

होता है और वह सत्यवादी पुरुष जगतपूज्य सरस्वती को भी सिद्ध कर लेता है।

शास्त्रों में ऐसी कथनशैली होती है कि–जब जिसका वर्णन होता है उसे मुख्य करते हैं और दूसरे को गौण रखते हैं। यहां सत्यव्रत का वर्णन करना है इससे उसे मुख्य करके कहा है कि–एक सत्यव्रत के पालन में समस्त व्रतों का समावेश होजाता है। जब ब्रह्मचर्य का वर्णन करना हो तब ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्मचर्यव्रत में समस्त व्रत समा जाते हैं, वैसे ही जब अहिंसा का वर्णन होरहा हो तब ऐसा कहते हैं कि अहिंसा के पालन में ही सम्पूर्ण व्रत आजाते हैं। अहिंसा सत्य ब्रह्मचर्य आदि भेद व्यवहारधर्म की अपेक्षा से हैं। परमार्थ से तो मात्र वीतराग भाव में ही अहिंसा, सत्य इत्यादि समस्त धर्म आजाते हैं।

सत्य-असत्य वचन की ओर का शुभ या अशुभ विकल्प सो आत्मा का स्वरूप नहीं है। सत्य-असत्य वचन, वैसे ही उस ओर का शुभ-अशुभ राग, उन दोनों से भिन्न रहकर आत्मा उनका ज्ञाता है। ऐसे आत्मस्वभाव के आश्रय के बिना यथार्थ सत्यव्रत नहीं होसकता। शुद्ध आत्मस्वभाव की श्रद्धा के पश्चात् चारित्रदशा में आगे बढ़ने पर जो सत्य व्रतादि के विकल्प आते हैं उन्हें उपचार से–व्यवहार से, निमित्त से उत्तमसत्य धर्म कहते हैं। परमार्थ से तो सत्यवचन की ओर का भी राग छोड़कर जो वीतरागभाव हुआ वही उत्तमसत्य धर्म है। वह वीतरागभाव ही उत्तम अहिंसा है, वही ब्रह्मचर्यादि हैं और वही वीतरागभाव मोक्षमार्ग है। ऐसा वीतरागभाव मुनिवरों के होता है। जो शुभराग होता है वह भी वास्तव में असत्य है, हिंसा है। सम्यक्श्रद्धापूर्वक वीतरागभावरूप उत्तमसत्य धर्म में अन्य समस्त धर्म आजाते हैं। जो ऐसे उत्तमसत्य व्रत का पालन करते हैं वे जगत्पूज्य सरस्वती को प्राप्त करते हैं अर्थात् वे केवलज्ञान को प्राप्त होते हैं और

दिव्यध्वनि छूटती है। सरस्वती अर्थात् केवलज्ञान, और निमित्तरूप से कहा जाये तो दिव्यध्वनि सरस्वती है। भगवान की दिव्यध्वनि को सरस्वती, अम्बा इत्यादि भी कहते हैं।

लौकिकसत्य बोलने के भाव तो जीव ने अनन्तबार किये हैं, किन्तु परमार्थसत्य का स्वरूप नहीं समझा। सच्चे ज्ञान से वस्तुस्वरूप का निश्चय किये बिना परमार्थ सत्य नहीं होता। अज्ञानी जो कुछ बोलता है वह लौकिक सत्य भले हो किन्तु परमार्थ से तो वह असत्य ही है। परमार्थ सत्य तो सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होसकता है। आत्मा के त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव को जानकर उसमें विशेष स्थिरता के पुरुषार्थ द्वारा असत्य को (शुभ-अशुभराग को) टाले वही उत्तमसत्य धर्म है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थों के भी श्रद्धा-ज्ञान की अपेक्षा से उत्तमसत्यादि धर्म होते हैं।

आचार्यदेव उत्तमसत्य धर्म का विशेष महात्म्य करते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

आस्तामेतदमुत्र सूनृतवचाः कालेन यल्लभ्यते
सद्भूपत्वसुरत्व संसृतिसरित्पाराप्तिमुख्यं फलम्।
यत्प्राप्नोति यशः शशांकविशदं शिष्टेषु यन्मान्यतां
यत्साधुत्वमिहैव जन्मनि परं तत्केन संवर्ण्यते॥ ६३॥

उपरोक्तानुसार उत्तमसत्य धर्म के स्वरूप को जानकर जो सत्यवादी मनुष्य हैं वे परभव में श्रेष्ठ चक्रवर्ति तथा इन्द्रादि पद प्राप्त करते हैं, और संसार-सरिता के पार को प्राप्त होते हैं यह उसका मुख्यफल है, परभव की बात तो दूर रही, किन्तु वे इसी भव में चन्द्रमा के समान उज्वल यश पाते हैं, वे सज्जन कहलाते हैं और सज्जन उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं। ऐसे उत्तमसत्य धर्म के फल का वर्णन किसप्रकार किया जाये? इसलिये मुमुक्षुओं को सम्यश्रद्धा-ज्ञानपूर्वक उत्तमसत्य धर्म का पालन करना चाहिये।

आत्मा का स्वभाव वीतराग ज्ञानमय है, वह पर की उपेक्षा करनेवाला है। पर की उपेक्षा किये बिना वीतरागभाव प्रगट नहीं होता और वीतरागभाव के बिना उत्तम सत्यादि धर्म नहीं होते। 'मैं पर का कर सकता हूँ, अथवा निमित्त हो तो कार्य होता है'–ऐसी जिनकी मान्यता है वे जीव परपदार्थों की उपेक्षा करके स्वभावोन्मुख नहीं होसकेंगे। पर से भिन्न अपने स्वभाव को जानकर जो जीव परम सत्य का (आत्मस्वभाव का) आराधन करते हैं वे जीव वीतरागभाव के फल में मुक्ति पाते हैं और साधकदशा में जो राग रह जाता है उसके फलस्वरूप इन्द्रादि पदवी प्राप्त होती है। अज्ञानी चाहे जैसे सत्य का शुभराग करे फिर भी उसे इन्द्र, चक्रवर्ति आदि लोकोत्तर पदवी प्राप्त नहीं होती। ज्ञानियों को साधकदशा में जो राग वर्त रहा है उसका निषेध है, इससे उनके इन्द्रादि पद के योग्य उच्चपुण्य बंध जाता है। और इस लोक में भी ऐसे सम्यग्ज्ञानी–सत्यवादी को सज्जन पुरुष आदर की दृष्टि से देखते हैं, और उनकी उज्ज्वलकीर्ति सर्वत्र फैलती है। आचार्यदेव कहते हैं कि यह समस्त फल तो गौण हैं। उत्तमसत्य धर्म का मुख्यफल तो मोक्षपद की प्राप्ति है। इसलिये सज्जनों को अवश्य ही सत्य बोलना चाहिये अर्थात् प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र सत् है–ऐसा समझकर वस्तुस्वभाव की सम्यग्श्रद्धा और ज्ञान प्रगट करना चाहिये, और इस सम्यग्श्रद्धा–ज्ञानपूर्वक उत्तमक्षमादि भावरूप वीतराग धर्म का आराधन करना चाहिये।

इसप्रकार उत्तमसत्य धर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

५—उत्तमशौच धर्म

भाद्रपद शुक्ला—९

आज दशलक्षण पर्व का पांचवां दिन है, यह उत्तमशौच धर्म का दिन कहा जाता है। उत्तमशौच अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित पवित्रता अथवा निर्लोभता। यह दसों धर्म मुख्यतः मुनिदशा में होते हैं, गृहस्थों के गौणरूप से होते हैं। श्री पद्मनन्दि आचार्य पद्मनन्दिपंचविंशतिका शास्त्र में शौचधर्म का वर्णन करते हैं:—

(आर्या)

यत्परदारार्थादिषु जन्तुषु निस्पृहमहिंसकं चेतः।
दुर्भेद्यान्तर्मलहृत्तदेव शौचं परं नान्यत् ॥ ९४ ॥

जो परस्त्री और पर पदार्थों के प्रति निस्पृह है, सर्व प्राणियों के प्रति अहिंसक है और दुर्भेद्य जो अंतर का मैल है उसे जिसने धो डाला है, ऐसा पवित्र हृदय ही उत्तमशौच धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई शौचधर्म नहीं है।

शौच अर्थात् पवित्रता। जिन्हें पवित्र आत्मा का भान नहीं है और जो देह को ही अपना मान रहे हैं ऐसे अज्ञानी जीव शरीर को पवित्र रखने को ही शौचधर्म मानते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि यह शौचधर्म नहीं है। शरीर को अपना मानना तो महान अशुचि है। जिस आत्मा ने भेदज्ञानरूपी जल से उस मिथ्यामान्यतारूपी अशुचि को धो डाला है वही आत्मा शौच-धर्म है।

जिसे पवित्र चैतन्यस्वरूप का भान न हो और पुण्य-पाप को ही अपना कर्तव्य माने, मैं पर का कर्ता हूँ ऐसा माने, वह जीव परपदार्थों से निस्पृह नहीं हो सकता। जिसे पुण्य-पापरूप विकार भावों की पकड़ है उसका ज्ञान विकार से मलिन है। जो ऐसा मानता है कि पर का मैं करता हूँ, उसका ज्ञान मिथ्यात्वरूपी मैल से मलिन है। मुझे पर की सहायता है, निमित्त के आश्रय से धर्म होता है–ऐसी जिसकी मान्यता है वह जीव परपदार्थों में आसक्त है। जो जीव पर में आसक्त है वह महान अशुचि से लिप्त है। जिसने पुण्य में और उसके फल में सुख माना है वह जीव वास्तव में स्त्रियों के प्रति निस्पृह नहीं है। जो पुण्य में आसक्त है उसे उसके फल में भी आसक्ति है, वह जीव स्त्री आदि पदार्थों के प्रति निस्पृह नहीं है और उसके शौचधर्म नहीं होता।

स्नानादि से शरीर को स्वच्छ रखे तो वह कहीं शौचधर्म नहीं है। शरीर की शुद्धि से आत्मा का धर्म मानना सो मिथ्यात्व है। और पुण्य-पाप के भावों से आत्मा की पवित्रता हो, ऐसा माने उसे किंचित् धर्म नहीं होता; किन्तु उलटो मिथ्यात्वरूपी मैल की पुष्टि होती है। शरीर से भिन्न और पुण्य-पाप से रहित ऐसे पवित्र आत्मस्वरूप की यथार्थ प्रतीतिरूपी जल द्वारा मिथ्यात्वरूपी मैल को धो डालना और पवित्र आत्मस्वरूप में एकाग्रता द्वारा रागादि मैल का धो डालना, वही उत्तमशौच धर्म है। ऐसा धर्म मुनिओं के होता है। जितना रागादि का विकल्प हो वह तो अशुचि है। मुनिवरों की परिणति स्त्री, लक्ष्मी आदि से बिलकुल निस्पृह है, शुभ और अशुभ दोनों भावों को एक-सा मानते हैं, दोनों भाव अशुचिरूप हैं, आत्मस्वभाव से विपरीत अशुद्धभाव हैं। मुनिओं के सहज ज्ञान की एकाग्रता से वे रागादि अशुद्धभाव होते ही नहीं हैं। रागादि रहित वीतरागभाव सो उत्तमशौच धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उत्तमशौच धर्म नहीं है।

सज्जन पुरुषों के परस्त्री सेवन का भाव होता ही नहीं। किन्तु वास्तव में तो शुभभाव भी परस्त्री है। शुभभाव से आत्मा को लाभ मानकर शुभपरिणति का संग करना, वह परस्त्रीगमन है। धर्मी जीव उस शुभपरिणाम को अपना स्वरूप नहीं मानते, और उसमें एकता नहीं करते। इससे श्रद्धा-ज्ञान की अपेक्षा से उनके भी शौचधर्म है। आत्मा में जो परभावों का ग्रहण करता है वह परमार्थ से पराये धन का ग्रहण है। जिसे परभावों में ग्रहणबुद्धि है वह जीव उसके फलरूप लक्ष्मी आदि बाह्य संयोगों को भी अपना माने बिना नहीं रहेगा। मुनिजन ज्ञानानन्द स्वभाव के अनुभव की जागृतिद्वारा परभावों की उत्पत्ति नहीं होने देते, इससे वे समस्त परपदार्थों और परभावों से निस्पृह हैं; परभावों से रहित उनकी जो पवित्र वीतरागी परिणति है वही उत्तमशौच धर्म है। बाह्य में स्नानादि करना वह शौच नहीं है और पुण्य परिणामों में भी आत्मा की शुचिता नहीं है। जिसे भेदना दुर्लभ है ऐसी पुण्य-पाप भावोंरूप मलिनता को आत्मा की पवित्रता के बल से जिसने भेद डाला है उसके उत्तमशौच धर्म है।

स्नानादि से शुद्धता नहीं होसकती–इस बात को आचार्यदेव स्पष्ट करते हैं:—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

गंगा सागरपुष्करादिषु सदा तीर्थेषु सर्वेष्वपि
स्नातस्यापि न जायते तनभृतः प्रायो विशुद्धिः परा।
मिथ्यात्वादिमलीमसं यदि मनो बाह्येऽतिशुद्धोदकै–
र्धौतं किं बहुशोऽपि शुद्धति सुरापूरप्रपूर्णो घटः ॥९५॥

गंगा नदी, समुद्र या पुष्करादि समस्त तीर्थों में सदैव स्नान कराने से भी शरीर की मलिनता दूर नहीं होती, शरीर कभी पवित्र होता ही नहीं। स्वभाव से ही शरीर अशुचिरूप है। जिस-

प्रकार मदिरा से भरे हुए घड़े को अतिस्वच्छ जल से अनेकबार धोया जाये तो भी वह स्वच्छ नहीं होता, उसीप्रकार जिस का चित्त मिथ्यात्वादि मलिन भावों से भरा हुआ है वह जीव बाह्य में शरीर को निर्मलजल से चाहे जितनीबार धोए किन्तु उसे पवित्रता नहीं होती। जो पुण्य से आत्मा को लाभ मानता है वह जीव अपने आत्मा में विकार का ही लेपन करके आत्मा की मलिनता में वृद्धि करता है। पुण्यभावों से आत्मा की शुद्धि नहीं होती। पुण्य-पाप रहित और शरीर से भिन्न, पवित्र आत्मस्वरूप की प्रतीति से सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करना सो ही पवित्रता है, और वही शौचधर्म है। स्नानादि में जो धर्म मानते हैं वे अपने आत्मा को मिथ्यात्व-मल से मैला करते हैं। जिसके अंतरंग में मिथ्यात्व भरा हुआ है उस जीव के कभी भी पवित्रता नहीं होसकती। इसलिये शरीर और पुण्य-पाप के भाव—इन सबको अशुचिरूप जानकर उनसे भिन्न परमपवित्र चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता द्वारा पवित्रभाव प्रगट करना ही उत्तम दसधर्मों की सच्ची उपासना है।

इसप्रकार उत्तमशौच धर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

६—उत्तमसंयम धर्म

भाद्रपद शुक्ला—१०

दशलक्षण पर्व में छठवाँ दिन उत्तमसंयम धर्म का है। आत्म-स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक शुभाशुभ इच्छाओं को रोककर आत्मा में एकाग्र होना सो परमार्थ उत्तमसंयम धर्म है। और जब ऐसा वीतरागभाव न हो सके तब, सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अशुभराग को छोड़कर छहकाय के जीवों की रक्षा का शुभराग होता है उसे व्यवहारसंयम कहते हैं। श्री आचार्यदेव संयमधर्म का वर्णन करते हैं:—

(आर्या)

जन्तु कृपार्दितमनसः समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य
प्राणेन्द्रियपरिहारः संयममाहुर्महामुनयः ॥ ९६ ॥

जिनका चित्त दयार्द्र है और जो समिति में प्रवर्तमान हैं, तथा इन्द्रियविषयों का त्याग है ऐसे मुनियों के संयम धर्म है, इसप्रकार महामुनि कहते हैं। जिनके आत्मभानपूर्वक वीतरागभाव-रूप अकषायी करुणा प्रगट हुई है उन्हें किसी प्राणी को दुःख देने का विकल्प ही नहीं होता, इससे ऐसा कहा जाता है कि उनका चित्त दयार्द्र है। रागभाव सो हिंसा है, क्योंकि उसमें अपने आत्मा के चैतन्य प्राणों का घात होता है, इससे उसमें स्वजीव की दया नहीं है। वीतरागभाव ही सच्ची दया है, क्योंकि उसमें स्व या पर किसी जीव की हिंसा का भाव नहीं है। ऐसी वीत-

रागी दया से जिनका चित्त भरा है उन मुनिवरों के उत्तमसंयम धर्म है। और संपूर्ण वीतरागभाव न हो तथा राग की वृत्ति उठे उससमय पंचसमिति में प्रवर्तनरूप शुभभाव होता है उसे भी संयमधर्म कहते हैं। परमार्थ से तो वीतरागभाव ही धर्म है, राग है वह धर्म नहीं है। इन्द्रियविषयों का अथवा जीवहिंसा का विकल्प तो मुनि के होता ही नहीं, किन्तु देखकर चलना आदि प्रकार के शुभविकल्प आयें उन्हें भी तोड़कर स्वभाव की ओर उन्मुख होने का प्रयत्न वर्तता है; जितने अंश में विकल्प का अभाव किया उतने ही अंश में वीतरागी संयमधर्म है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी 'अपूर्व अवसर' में कहते हैं कि:—

"संयमना हेतुथी योग प्रवर्तना,
स्वरूप लक्षे जिनआज्ञा आधीन जो;
ते पण क्षण-क्षण घटती जती स्थितिमां,
अंते थाये निजस्वरूपमां लीन जो।"

इसमें उन्होंने ऐसी भावना की है कि–जबतक वीतरागभाव से स्वरूप में स्थिर न होसके तबतक, स्वरूप के लक्ष्य से और जिन-आज्ञा के अनुसार संयम के हेतु से योग का प्रवर्तन हो। यहांपर जिनआज्ञा की ओर का लक्ष्य है वह भी शुभभाव है। उसकी भावना नहीं है, किन्तु पर की ओर का वह विकल्प भी क्षण-क्षण में घटता जाये और क्रमशः उसका अभाव होकर सम्पूर्ण वीतरागभाव से आत्मस्वरूप में लीनता प्रगट होकर केवलज्ञान हो–वैसी भावना है। ऐसे वीतरागभाव की पहले पहिचान करना चाहिये। वीतरागभाव ही उत्तम धर्म है।

अब आचार्यदेव संयम की दुर्लभता बताकर उसकी प्रशंसा करते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

मानुष्यं किल दुर्लभं भवभृतस्तत्रापि जात्यादय-
स्तेष्वेवाप्तवचःश्रुतिःस्थितिरतस्तस्याश्च दृग्बोधने ।
प्राप्ते ते अपि निर्मले अपि परं स्यातां न येनोज्झिते
स्वर्मोक्षैकफलप्रदे स च कथं न श्लाघ्यते संयमः ७॥

इस संसाररूपी गहन वन में भ्रमण करते हुए जीव को मनुष्यत्व महादुर्लभ है। मनुष्यत्व में भी उत्तम जाति इत्यादि मिलना कठिन है। यदि उत्तम जाति मिले तो भी श्री अरिहंत भगवानादि आप्त पुरुषों के वचन सुनने का सुयोग प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है। यहाँ आचार्यदेव देशनालब्धि का नियम रखते हैं। जिस जीव को ज्ञानीपुरुष के पास से शुद्ध आत्मतत्व के उपदेश की प्राप्ति नहीं हुई वह जीव धर्म प्राप्त नहीं कर सकता। इससे कहीं जीव की पराधीनता नहीं होती है। जिस जीव के शुद्धात्मस्वभाव को समझने की योग्यता हो उस जीव को ज्ञानी से शुद्धात्मा का उपदेश मिलता ही है। ज्ञानी पुरुष के उपदेश को रुचि, बहुमान और विनयपूर्वक सुने बिना, मात्र शास्त्र बांचकर अथवा अज्ञानी का उपदेश सुनकर कभी भी कोई जीव धर्म प्राप्त नहीं कर सकता। जो जीव धर्म प्राप्त करता है उसे या तो वर्तमान साक्षात् ज्ञानी की वाणी का योग होता है और कदाचित् वैसा योग न हो तो पूर्व में जो ज्ञानी का समागम किया हो उसके संस्कार वर्तमान में स्मरण होते हैं। जीव को ज्ञानी का उपदेश तो अनन्तबार मिला है, किंतु जिज्ञासापूर्वक सत् का श्रवण कभी भी नहीं किया; इससे परमार्थतः उसने सत् का श्रवण कभी भी किया ही नहीं। जिज्ञासापूर्वक संतपुरुषों की वाणी का श्रवण महादुर्लभ है। इतना होनेतक भी धर्म नहीं है, इतना होनेपर तो व्यवहारशुद्धि हुई कहलाती है अर्थात् उसमें धर्मी होने के लिये पात्रता प्रगट हुई कहलाती है। जिसमें इतना न हो वह जीव तो धर्म प्राप्त कर ही

नहीं सकता। जो कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र को मानते हैं वे तो तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप जाने और कुदेवादि की मान्यता को छोड़ दे तब गृहीत मिथ्यात्व दूर होता है।

जिसे ज्ञानी के पास से सच्चे धर्म का श्रवण महाभाग्य से प्राप्त हुआ है उसे उसमें दृढ़ स्थिति होना दुर्लभ है। ज्ञान में यथार्थ निर्णय करना सो महादुर्लभ है। यदि सत् का श्रवण करे किन्तु निर्णय न करे तो यथार्थ फल नहीं मिलता। यहाँतक आने के पश्चात् अब अपूर्व आत्मधर्म कैसे हो उसकी बात करते हैं।

अनन्तकाल में दुर्लभ मनुष्यत्व प्राप्त करके, सत्धर्म का श्रवण प्राप्त करके और ज्ञान में उसका निर्णय करके शुद्धात्मा का अनुभव करना अपूर्व है। जो पहले अनन्तकाल में कभी न किया हो ऐसा निश्चयसम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट करना सो महान् पुरुषार्थ है। यहाँ से अपूर्व धर्म का प्रारम्भ है। जिसने एकसमय मात्र भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान की प्राप्ति की है वह जीव अल्पकाल में अवश्य ही मुक्ति प्राप्त करता है। ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति परम पुरुषार्थ द्वारा करने के पश्चात् भी वीतरागी संयम की प्राप्ति सबसे दुर्लभ है।

यहाँपर आचार्यदेव उत्कृष्ट बात बतलाना चाहते हैं। मोक्ष का सीधा कारण वीतरागी चारित्र है। सम्यग्दर्शन ज्ञान होनेपर भी जहाँतक वीतरागी संयमदशा प्रगट न करे वहाँतक केवलज्ञान नहीं होता। इसलिये वीतरागी संयम धर्म परम प्रशंसनीय है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान को गौणरूप से मोक्षमार्ग कहा जाता है, साक्षात् मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित चारित्र दशा में है। प्रवचनसार की सातवीं गाथा में कहा है कि-'चारित्तं खलु धम्मो' अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र सो धर्म है। चारित्रदशा के बिना उस भव में मोक्ष होता ही नहीं। आचार्यदेव के चारित्रदशा विद्यमान है, अधिकांश वीतरागभाव प्रगट हुआ है, किन्तु वे ऐसे चारित्र की भावना करते

है कि उत्कृष्ट वीतरागी संयम प्रगट होकर उसी भव में केवलज्ञान प्रगट होजाये। इसकाल में साक्षात् केवलज्ञान की प्राप्ति करादे ऐसे उत्कृष्ट चारित्र का पुरुषार्थ नहीं है। श्रद्धा की अपेक्षा से तो चौथे-गुणस्थान से ही वीतरागभाव है; ऐसो सम्यक्श्रद्धापूर्वक वीतरागभाव प्रगट करना सो वह अत्यंत प्रशंसनीय है। भावसंयम के बिना उच्च स्वर्गपद अथवा मोक्षपद की प्राप्ति नहीं होती। यदि वीतरागी संयमदशा प्रगट न कर सके तो उसकी प्रतीतिपूर्वक, निर्मल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को स्थिर रखना चाहिये। सम्यग्दर्शन-ज्ञान भी धर्म-आराधना है, और गृहस्थ भी वह कर सकते हैं।

"जो चारित्र है सो धर्म है" ऐसा कहा है। वह कौनसा चारित्र ? लोग घरबार छोड़कर, कपड़े बदलकर निकल जाते हैं, वह कहीं चारित्र नहीं है, किसीप्रकार का वेष धारण करना अथवा कपड़े बिल्कुल निकाल देना उसमें कोई चारित्र नहीं है। शुभराग भी चारित्र नहीं है; किन्तु शरीर और विकार से भिन्न स्वभाव का अनुभव करके उस स्वभाव में विचरना वह चारित्र है। ऐसा चारित्र सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होता है, और वही मुक्ति का कारण है।

जिसे ज्ञानी पुरुषों द्वारा सत्धर्म का श्रवण ही नहीं मिला उसके यथार्थ संयम नहीं होता। जिसने सच्चे देव-गुरु की पहिचान से गृहीत मिथ्यात्व का भी त्याग नहीं किया—ऐसा जीव, यदि बाह्य में त्यागी-दिगम्बर भी होजाये तब भी उसे द्रव्यलिंगी भी नहीं कहा जाता, क्योंकि द्रव्यलिंग तो उससमय कहा जाता है, जबकि गृहीत मिथ्यात्व को टाले और व्यवहार पंचमहाव्रत का यथार्थ रीति से पालन करे। यह द्रव्यलिंग भी धर्म नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीवों को साधुरूप से मानने में तो गृहीत मिथ्यात्व ही है, सच्चा गुरु कैसा होता है इसका भी उसे विवेक नहीं है। निमित्तरूप से भी जिसने कुगुरु-अज्ञानी को स्वीकार किया है, वह जीव स्वतः अज्ञानी-गृहीत मिथ्यात्वी है। ऐसा जीव, चाहे जैसे शुभभाव करे तो भी

वह आठवें स्वर्ग के ऊपर जासके वैसे शुभभाव ही उसके नहीं होते। क्योंकि जिसने निमित्तरूप से ही कषाययुक्त देव-गुरु-शास्त्र को स्वीकार किया है उसे अपने भावों में उतनी कषाय की मन्दता करने की शक्ति ही नहीं है कि वह आठवें स्वर्गलोक से ऊपर जासके। जिसने गृहीत मिथ्यात्व का त्याग करके निर्दोष, अकषायी देव-गुरु-शास्त्र को माना है उस जीव के उतनी कषाय की मन्दता होसकती है कि वह नवमें ग्रैवेयक तक जासकता है। जिसने यथार्थ निमित्तों को नहीं जाना उस जीव के व्यवहार-सम्यग्दर्शन भी नहीं होता, उसीप्रकार व्यवहारचारित्र भी नहीं होता। ऐसा गृहीत मिथ्यादृष्टि जीव यदि नग्न-दिगम्बर होजाये तब भी उसके द्रव्यलिंग भी यथार्थ नहीं है। तो फिर इसके संयम धर्म कैसा? यह तो मिथ्यादृष्टि है। धर्म में सामान्यरूप से जीव का मार्ग करने की एक यह रीति है कि:–जिसे धर्मी जीव का साक्षात् उपदेश न मिला हो (अथवा पूर्वभव के धर्मश्रवण के संस्कार भी जागृत न हुए हों) उस जीव के धर्म नहीं होता। यदि कोई जीव ऐसा माने कि मुझे धर्म प्राप्त हुआ है। तो यह निश्चित् करना चाहिये कि तू किस ज्ञानी-धर्मात्मा के पास से धर्म को समझा है? तुझे किस ज्ञानी का समागम हुआ है? क्या तू अपनेआप स्वच्छंदता से धर्म समझा है? स्वच्छंदता से धर्म नहीं समझा जासकता। वैसे ही अज्ञानी जीव के पास से भी धर्म नहीं समझा जासकता। अपनेआप शास्त्र बाँचने से भी धर्म नहीं समझा जासकता। धर्मी जीव के पास से ही धर्म समझा जासकता है। जो जीव अपने में धर्म समझने की पात्रता प्रगट करता है, उस जीव के धर्मी का उपदेश ही निमित्तरूप होता है–ऐसा नियम है। यद्यपि निमित्त कुछ करता नहीं है, किन्तु धर्म प्राप्त करने में धर्मी जीव का ही निमित्त होता है, अधर्मी का निमित्त नहीं होता–ऐसा मेल है। इसलिये मुमुक्षु जीवों को सत्-असत् निमित्तों की पहिचान करना चाहिये। पहले सत्समागम द्वारा आत्मा की पहिचान करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट करे, उसके पश्चात्

हो वीतरागभावरूप उत्तमसंयम धर्म होता है। उत्तमक्षमादि दस धर्मों के यथार्थ स्वरूप को पहिचानना चाहिये, उनके मूलस्वरूप को जाने बिना मात्र रूढ़िप्रमाण से बोलने अथवा बांचने से आत्मा को कोई लाभ नहीं होता। दशलक्षण धर्म का स्वरूप जाने बिना उस धर्म का उद्यापन किसप्रकार करेगा? दशलक्षण धर्म का स्वरूप जैसा है उसे वैसा ही जानकर जितने अंश में वैसा वीतरागभाव अपने आत्मा में प्रगट करे उतने अंश में वास्तविक दशलक्षण पर्व का अपने आत्मा में उद्यापन किया है। जो धर्म के मूलस्वरूप को नहीं जानता और मात्र राग को ही धर्म मानता है उसने वास्तविक धर्म के पर्व का उद्यापन नहीं किया, किन्तु मिथ्यात्व का ही पोषण किया है। इसलिये धर्म के यथार्थ स्वरूप को सत्समागम द्वारा जानकर ऐसी मिथ्या-मान्यताओं को छोड़ना चाहिये।

यहां उत्तमसंयम धर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

७—उत्तमतप धर्म

भाद्रपद शुक्ला—११

आज उत्तमतप धर्म का दिन है। भादव सुदी पंचमी के दिन 'उत्तमक्षमा धर्म' कहा जाता है और एकादशी के दिन 'उत्तमतप धर्म' कहलाता है, किन्तु उससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि पंचमी के दिन उत्तमक्षमा के अतिरिक्त दूसरे धर्म होते ही नहीं हैं, और एकादशी के दिन मात्र तपधर्म ही होता है। वास्तव में तो आत्मा के वीतरागभाव में उत्तमक्षमादि दसों धर्म एक ही साथ हैं, पहले दिन पहला धर्म और दूसरे दिन दूसरा धर्म—ऐसा नहीं है। परन्तु एक ही साथ दसों धर्मों का व्याख्यान न हो सकने के कारण क्रमशः एक-एक धर्म का व्याख्यान करने की पद्धति है। पंचमी-छठ इत्यादि दिन तो काल की अवस्था है-जड़ है, उसमें कहीं उत्तमक्षमादि धर्म नहीं भरे हैं। सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा के वीतरागभाव में उत्तमक्षमादि धर्म विद्यमान हैं, जिसे आत्मा की यथार्थ प्रतीति नहीं है उसके उत्तमक्षमादि एक भी धर्म नहीं होता। उत्तमक्षमादि धर्म सम्यक्चारित्र के भेद हैं। मुख्यतः यह धर्म मुनिदशा में होते हैं।

श्री पद्मनन्दि आचार्य उत्तमतप धर्म का वर्णन करते हैं:—

(आर्या)

कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम्।
तद्द्वेधा द्वादशधा जन्माम्बुधियानपात्रमिदम् ॥ ९८ ॥

सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान सहित जो उत्तमतप है वह संसारसमुद्र से पार होने के लिये जहाज के समान है। सम्यग्ज्ञान रूपी दृष्टि से वस्तुस्वरूप को जानकर उसमें लीन होनेपर इच्छाएँ रुक जाती हैं–वह तप धर्म है; उससे कर्ममल का नाश होता है। जिस भाव से शुभ अथवा अशुभ कर्मों का बंध होता है वह वास्तव में तप नहीं है किन्तु जिस भाव से ज्ञान-दर्शन की शुद्धि प्रगट हो और कर्म का नाश हो वह तप है, यह तप आत्मा का वीतरागी चारित्र है। निश्चय से तो वीतरागभावरूप एक ही प्रकार का तप है। ऐसे निश्चयतप की पहिचानपूर्वक जहाँ पूर्ण वीतरागभाव न हो वहाँ शुभरागरूप व्यवहार तप होता है। उस व्यवहार तप के सामान्यरूप से दो प्रकार हैं। एक बाह्यतप और दूसरा अभ्यंतरतप। तथा विशेषरूप से– (१) अनशन, (२) अवमौदर्य (३) वृत्तिपरिसंख्यान (४) रसपरित्याग (५) विविक्त शय्यासन (६) कायक्लेश (७) प्रायश्चित (८) विनय (९) वैयावृत्य (१०) व्युत्सर्ग (११) स्वाध्याय और (१२) ध्यान-यह बारह भेद हैं। उसमें प्रथम छहप्रकार बाह्यतप के भेद हैं और अन्तिम छहप्रकार अभ्यंतर तप के भेद हैं। यह ध्यान रहे कि–यह समस्त प्रकार के तप सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही होते हैं। सम्यग्दर्शन बिना कायक्लेश, अनशन अथवा स्वाध्याय आदि करे उसे निश्चय से या व्यवहार से किसी भी प्रकार तप नहीं कहा जासकता। उत्तमतप सम्यग्चारित्र का भेद है, सम्यग्चारित्र सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता। पुण्य या पापरूप कोई भी इच्छा आत्मस्वभाव में नहीं है। इच्छारहित निर्मल चैतन्यस्वरूप को जानकर उसके अनाकुल आनन्द के अनुभव में लीन होनेपर वीतरागीभाव से आत्मा शोभित होजाता है, इसका नाम तप है। ऐसा तप मुक्ति का कारण है।

श्री आचार्यदेव तप की महिमा बतलाते हैं:—

(पृथ्वी)

कषायविषयोद्भटप्रचुरतस्करौघो हठा-
तपःसुभटताडितो विघटते यतो दुर्जयः।
अतोहि निरुपद्रवश्चरति तेन धर्मश्रया
यतिः समुपलक्षितः पथि विमुक्तिपुर्यां सुखम्॥ ९९॥

आचार्यदेव कहते हैं कि इन विषय-कषायरूपी उद्धत चोरों का समूह दुर्जय है, तो भी तपरूपी योद्धा के पास उसका कुछ भी वश (ज़ोर) नहीं चलता। यदि मुनिवर वीतरागभाव द्वारा स्वरूप में स्थिर हों तो विषय-कषायरूपी चोरों का सहज ही नाश होजाता है। यदि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी रत्नों को साथ लेकर मोक्षमार्ग में चलनेवाले मुनियों के तपरूपी रक्षक साथ में न हो तो विषय-कषायरूपी चोर उनकी लक्ष्मी को लूट लेते हैं। यदि अल्पराग भी रह जाये तो उससे रत्नत्रय संपत्ति लुटती है और मोक्ष भी प्राप्त नहीं होता। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् भी विषय-कषायों को जीतना दुर्लभ है, किन्तु मुनिवर परद्रव्यों से पराङ्मुख होकर जब स्वरूप में स्थिर होते हैं उससमय वे विषय-कषाय क्षणमात्र में नष्ट होजाते हैं। इसलिये मोक्षमार्ग में गमन करनेवाले मुनिओं से भगवान कहते हैं कि हे मुनिओ! विषय-कषायरूपी चोरों से अपनी रत्नत्रयरूपी लक्ष्मी को बचाने के लिये सम्यक् तपरूपी योद्धा को सदा साथ रखना। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्मलक्ष्मी को साथ लेकर मोक्ष की ओर गमन करते हुए स्वभाव की स्थिरता के पुरुषार्थ को साथ रखने से कोई विघ्न करने के लिये समर्थ नहीं है।

अब आचार्यदेव तप के लिये प्रेरणा करते हैं:-

(मन्दाक्रान्ता)

मिथ्यात्वाद्यैर्यदिह भविता दुःखमुग्रं तपोभ्यो
जातं तस्मादुदकणिकैकेव सर्वाब्धिनीरात् ।
स्तोकं तेन प्रसभमखिलकृच्छ्रलब्धे नरत्वे
यद्येतर्हि स्खलसि तदहो का क्षतिर्जीव ते स्यात् ॥ १०० ॥

यदि कोई जीव उत्तम तपधर्म में निरुत्साही होता हो और खेद से दुःखी होता हो और उससे तप को ही दुःखरूप मानकर उसे छोड़ रहा हो, तो उससे आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई ! जैसे समुद्र के पानी के पास पानी के बिन्दुओं की गिनती नहीं है, वैसे ही सम्यक् तप के अनादर से मिथ्यात्व को लेकर जो अनंता दुःख होगा उसकी अपेक्षा में तप के दुःख की कोई गिनती नहीं है। तप चारित्रधर्म है, और वह परम आनन्द का कारण है, वह किंचित् भी दुःख का कारण नहीं है, किन्तु उसके साथ जो राग रह जाता है उसका अल्पदुःख है—ऐसा जानना चाहिये। यहां तो जिसे चारित्रदशा में अल्प दुःख होता है और निरुत्साही बन जाता है—उसे समझाने के लिये कहते हैं कि हे जीव ! इस तप में तो तुझे बहुत ही अल्प दुःख है, और मिथ्यात्व—अव्रत आदि के सेवन से नरक में जायेगा वहां तो अनन्त दुःख है, तथा अनन्ती प्रतिकूलता है। उसके समक्ष तो तेरे तप की प्रतिकूलता की कोई गिनती नहीं है। तथापि तू तप से भयभीत क्यों होता है ? अहो ! सादिअनन्त परमानंद के कारणभूत उत्तम-तप के धारण करने में तुझे क्या हानि है ? सम्यक् तप का पालन करते हुए बाह्य में प्रतिकूलता आये उससे दुःखी न हो, सम्यक् तप तुझे किंचित् दुःख का कारण नहीं है किन्तु मोक्षदशा के परम सुख का कारण है।

उत्तमतप तो वीतरागभाव है और वीतरागभाव में दुःख नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीव के आचरण दुःखरूप हैं। ऐसा होनेपर

भी यहां धर्मात्मा मुनि के उत्तमतप में अल्पदुःख क्यों कहा ? उसका कारण यह है कि किसी मंद पुरुषार्थी जीव को प्रतिकूलता इत्यादि में लक्ष्य जाने पर खेद होता हो और कठिन मालूम पड़ता हो इससे किंचित् असंतोष होजाता हो तो उस असन्तोष के कारण किंचित् दुःख होता है। इस अपेक्षा से-उपचार से तप में अल्पदुःख कहा है। वास्तव में तप का दुःख नहीं किन्तु खेद का दुःख है। खेदभात्र तप नहीं हैं और तप में खेद नहीं है। अल्पक्लेश को मुख्य करके रत्नत्रयसहित उत्तमतप धर्म में उत्साह को हीन करना ठीक नहीं है।

धर्मात्मा जीव मुनिदशा में छट्ठे-सातवें गुणस्थान में रमण करते हों और सल्लेखना धारण की हो, तथापि किसी को अशक्ति के कारण किंचित् क्लेश होजाये और पानी की वृत्ति उठे, फिर भी अंतरंग में भान है कि यह वृत्ति मेरा स्वरूप नहीं है, यह जो वृत्ति हुई वह चारित्र का भाग नहीं किन्तु दोष है। विशेष सहनशीलता नहीं है और दुःख होता है उसका आरोप करके तप में अल्पदुःख कहा है। तथा चारित्र स्थिर रखने के लिये कहा है कि इससमय किंचित् दुःख से डरकर यदि चारित्र का ही अनादर कर देगा तो मिथ्यात्व होगा और उसके फल में जो अनन्त-दुःख मिलेगा उसे तू कैसे सहन करेगा ? इससमय अल्पदुःख सहन करेगा तो सम्यक्तप के फल में अनन्त मोक्षसुख को प्राप्त करेगा।

वास्तव में जो चारित्र को दुःख का कारण मानते हैं वे अज्ञानी हैं। जो लोग उपवास को एवं चारित्र को दुःख-दायक मानते हैं उनके सम्यक्दर्शन भी नहीं है। शुद्ध चिदानन्द आत्मा की प्रतीति करके, और उसके आनन्दानुभव में लीन होजानेपर इच्छाओं का नाश होजाये-वह उत्तमतप धर्म है। आचार्यदेव ऐसे उत्कृष्ट तप के लिये प्रेरणा करते हैं।

यहाँ उत्तमतप धर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

उत्तमत्याग धर्म

भाद्रपद शुक्ला–१२

दस धर्मों में आज उत्तमत्याग धर्म का दिन है। उसका वर्णन करते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

व्याख्या या क्रियते श्रुतस्य यतये यद्दायते पुस्तकं
स्थानं संयमसाधनादिकमपि प्रीत्या सदाचारिणा।
स त्यागो वपुरादि निर्ममतया नो किंचनास्ते यते–
आकिंचन्यमिदं च संसृतिहरो धर्मः सतां सम्मतः ॥१०१॥

सम्यक्प्रकार से श्रुत का व्याख्यान करना और मुनि इत्यादि को पुस्तक, स्थान तथा पिछी-कमण्डलु आदि संयम के साधन देना-वह धर्मात्माओं का उत्तमत्याग धर्म है। 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ मेरा कुछ भी नहीं है'–ऐसे सम्यक्ज्ञानपूर्वक, अत्यन्त निकट शरीर में भी ममत्व का त्याग करके शुद्धस्वरूप में रमणता प्रगट करने पर मुनिओं के सर्व परभावों का त्याग होजाता है। आत्मा के भानपूर्वक शरीरादि समस्त पदार्थों के ममत्व का त्याग किया, उसमें उत्तम आकिंचन्य धर्म भी आजाता है। आचार्यदेव ने एक ही श्लोक में दो धर्मों का वर्णन किया है।

आत्मप्रतीतिपूर्वक मुनिदशा प्रवर्तमान हो, किन्तु अभी पूर्ण स्थिरता न होती हो और विकल्प उठे, उससमय मुनिगण श्रुत की-शास्त्र की यथार्थरीति से व्याख्या करें, उसे यहाँ त्यागधर्म कहा है। वास्तव में शास्त्र बांचने की क्रिया को या राग को धर्म नहीं कहा, किन्तु

उससमय अंतरंग में वीतरागस्वभाव की रटन होनेपर जो राग का त्याग होता है वही उत्तमत्याग है। श्रुत की व्याख्या करते समय वाणी या विकल्प हो वह कहीं धर्म नहीं है। श्रुत का रहस्य तो आत्मस्वभाव है, वीतरागभाव ही सर्वश्रुत का प्रयोजन है। विकल्प होनेपर भी उससमय वीतरागी ज्ञानस्वभाव के आश्रय से सम्यक्श्रुत की वृद्धि होती है, और राग टलता जाता है-यही धर्म है वस्तुस्वरूपजैसा है वैसा व्याख्यान करते हुए—अर्थात् आत्मस्वभाव में विपरीतता न हो इसप्रकार से सम्यक्ज्ञान का मनन करनेपर मुनिओं के उत्तमत्याग धर्म होता है। गृहस्थों के भी आत्मस्वभाव के लक्ष्य से श्रुत का मनन-स्वाध्याय करने से श्रुतज्ञान की निर्मलता बढ़ती है और राग नष्ट होता जाता है, इससे उनके भी उतने अंश में त्यागधर्म है। मिथ्यादृष्टि के तो मात्र अधर्म ही होता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही साधक जीव के निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म—ऐसे दो प्रकार हैं। जितना वीतरागभाव हुआ है उतना वास्तव में धर्म है, और जो शुभराग रहा वह वास्तविक धर्म तो नहीं है, किन्तु धर्मात्मा जीव के उस राग का निषेध विद्यमान है इससे उपचार से उसके धर्म कहा जाता है।

श्रुत की व्याख्या के शब्द आत्मा के नहीं हैं, आत्मा शब्दों का कर्ता नहीं है, और जो शुभराग होता है वह भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। ऐसी प्रतीतिपूर्वक शुद्धस्वभाव के अनुभव में लीन न रह सकें तब धर्मात्मा जीवों के श्रुत के व्याख्यान आदि का शुभराग होता है, उससमय अशुभराग नहीं होता इस अपेक्षा से वह व्यवहार से त्याग है, और ज्ञान का ज्ञान में जितना मनन होता है उतना परमार्थत्याग है। परमार्थ से तो, जो श्रुतज्ञान है वह आत्मा ही है, इससे आत्मस्वभाव का मनन रहे, वही निश्चय से श्रुत की व्याख्या है और यही उत्तमत्याग धर्म है। त्याग के नवप्रकार या उनंचास प्रकार तो व्यवहार से हैं। शुभराग के समय

किस-किस प्रकार के निमित्त होते हैं और राग का नाश करके ज्ञायकस्वभाव में लीनता होनेपर कैसे-कैसे प्रकार के निमित्तों पर से लक्ष्य छूट जाता है—यह बताने के लिये बाह्य भेदों से वर्णन है। जो जीव मूलभूत वस्तुस्वरूप को नहीं समझते वे भंग-भेद के कथन में अटक जाते हैं।

प्रश्न:—आत्मा वचन तो बोल नहीं सकता, फिर यहाँ मुनिजन श्रुत की व्याख्या करते हैं—ऐसा क्यों कहा है?

उत्तर:—उपदेश में तो निमित्त की अपेक्षा से कथन होते हैं, किन्तु प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, ऐसा भेदज्ञान रखकर उनके अर्थ को समझना चाहिये। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानस्वभाव रागरहित है, जो राग है वह ज्ञान नहीं है। ज्ञान और राग भिन्न हैं, राग के कारण वचन बोलने की क्रिया नहीं होती। बाह्य वचन तो निमित्त मात्र हैं और उन वचनों की ओर का राग भी यथार्थ त्यागधर्म नहीं है, किन्तु उससमय स्वभाव के आश्रय से जो ज्ञानसामर्थ्य बढ़ता जाता है, वही त्याग है। वहाँ राग का त्याग होजाता है। यथार्थ भेदविज्ञान के बिना धर्माराधन नहीं होसकता और सच्चा क्षमाभाव नहीं होता। मिथ्यात्व ही सबसे महान क्रोध है, सम्यग्दर्शन के द्वारा उस मिथ्यात्व को नष्ट किये बिना क्षमाधर्म प्रगट नहीं होता।

अनादिकाल से अज्ञानभाव के कारण अपने आत्मस्वभाव पर स्वतः ही क्रोध किया है, वह क्रोध दूर होकर क्षमा किसप्रकार हो? उसकी बात कही जाती है। क्षमा हो आत्मस्वभाव को! अर्थात् पुण्य-पापरहित स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके वीतरागभाव प्रगट करूँ और राग के एक अंश से भी स्वभाव को खण्डित न करूँ-इसका नाम यथार्थ क्षमा है। जितना राग हो उतना अपराध है, और जो राग को आत्मा के स्वभाव का माने वह तो आत्मस्वभाव पर अपार क्रोध करनेवाला है।

धर्म-ग्रंथ आदि के दान करने को गृहस्थ का त्यागधर्म कहा है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ धर्मात्मा जानता है कि बाह्य में पुस्तकादि लेने-देने की क्रिया आत्मा की नहीं है और अंतरंग में 'वीतराग शासन जयवंत रहे, साधक-धर्मात्मा विद्यमान रहें और सम्यक्श्रुत ज्ञान की वृद्धि हो' ऐसी भावनारूप जो विकल्प हैं वह भी राग है। आत्मा उसका कर्ता नहीं है। अंतरंग में परिपूर्ण शुद्धचैतन्य स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक जो ज्ञान की निर्मलता बढ़ती है और राग दूर होता है, वह त्याग है, और वही धर्म है। परमार्थ से तो ज्ञान ज्ञान में स्थित हुआ वही त्याग है, आत्मा ने राग को छोड़ दिया-यह भी उपचार से है। पर्याय में राग था और उसे छोड़ा, यह कथन व्यवहारनय का-पर्याय अपेक्षा का है। स्वभाव से न तो आत्मा ने राग किया है और न उसे छोड़ा भी है। राग आत्मा के स्वभाव में था ही नहीं, तब फिर उसका त्याग किसप्रकार कहा जाये ? राग तो पर्यायदृष्टि में था, जहाँ पर्यायदृष्टि ही दूर होगई और स्वभावदृष्टि हुई वहाँ राग है ही नहीं। इससे आत्मा को राग का त्याग करनेवाला कहना सो उपचारकथन है। फिर जिससमय राग होता है उससमय तो उसका त्याग नहीं होता, किन्तु आत्मा जब स्वभाव में एकाग्र रहता है तब राग की उत्पत्ति ही नहीं होती; इससे 'राग का त्याग किया' ऐसा कहा जाता है। स्वभाव की लीनता में रहते हुए राग की उत्पत्ति ही नहीं हुई उसका ही नाम राग का त्याग है। त्रैकालिक स्वभाव रागरहित ही है-ऐसी श्रद्धा होने पर श्रद्धा में से समस्त राग का तो त्याग हो ही गया। रागरहित त्रैकालिक स्वभाव के अनुभव बिना पर्याय में से राग का त्याग नहीं होसकता। जो राग को अपना स्वरूप मानता हो वह जीव राग का त्याग कर ही नहीं सकता।

श्री समयसारजी गाथा ३४ में ज्ञान को ही प्रत्याख्यान कहा है, अर्थात् ज्ञान ज्ञानरूप में परिणमित होगया और रागादिरूप परिणमित नहीं हुआ, वही त्याग है। आत्मा को परभाव के त्याग

का कर्तृत्व तो नाममात्र है वह स्वतः ज्ञानस्वभाव है। परद्रव्य को पर जाना, पश्चात् परभावों का ग्रहण नहीं हुआ वही त्याग है। इसप्रकार स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। यह निश्चय से त्याग का स्वरूप है। मात्र ज्ञानस्वभाव में स्थिर होनेपर राग होता ही नहीं इससे वह ज्ञान स्वतः ही राग के त्यागस्वरूप है। आत्मा ने राग का त्याग कर दिया यह कहना भी व्यवहार है।

और यहाँ पद्मनन्दि में तो कहा है कि मुनिओं को पिछी-कमण्डल, शास्त्रादि देना वह उत्तमत्याग है, सम्यक्श्रुत की व्याख्या करना सो उत्तम त्याग है,-यह व्याख्या व्यवहार से है। सम्यग्दृष्टि जीव के जब आत्मस्वभाव में स्थिरता नहीं रहती उससमय किसप्रकार का शुभराग होता है वह बतलाया है और उस राग के समय जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र विद्यमान हैं उनका उपचार करके शुभराग को त्यागधर्म कहा है। वास्तव में तो अन्तरंग में ज्ञान का मंथन होने-पर जो वीतरागभाव की वृद्धि होती है सो वही त्याग है। पुस्तक देने-लेने की अथवा बोलने की क्रिया का कर्ता वास्तव में आत्मा है-ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, उसके पर का अहंकार है इसलिये उसके सच्चा त्याग नहीं होता। ज्ञानिओं को स्वभाव के बहुमान के बल से ज्ञान की एकाग्रता में वृद्धि हुई, इससे उससमय बाह्य में होनेवाली शास्त्रादि लेने देने की क्रिया में उपचार करके उनके त्यागधर्म कहा है। बाह्यक्रिया के समय एवं राग के समय ज्ञानी का अन्तरंग अभिप्राय क्या है-वह समझना चाहिये। यदि राग से भिन्न आत्मा के ज्ञानस्वभाव का विश्वास करे तो ज्ञानी का अन्तरंग-हृदय समझ में आये। जो स्वतः रागादि के साथ ज्ञानस्वभाव को एकमेक मानता है उसे ज्ञानी के हृदय की यथार्थ पहिचान नहीं होती। ज्ञानी का ज्ञान राग से और जड़ की क्रिया से भिन्न है। लोगों की भाषा में तो बाह्य से ऐसा कहा जाता है कि यह लिया और यह दिया, किन्तु ज्ञानी वास्तव में किसी भी बाह्य क्रिया में नहीं हैं, राग में भी नहीं हैं, ज्ञानी तो

चैतन्यस्वभाव में ही हैं, ऐसा भेदज्ञान अपने आत्मा में करना ही समाधान है। यदि स्वतः भेदज्ञान करे तो यह जानले कि ज्ञानी क्या करते हैं। कोई ऐसा कहे कि यह तो दूसरों को निरुत्तर बनाने का साधन है—तो कहते हैं कि भाई! यह निरुत्तर करने के लिये नहीं है किन्तु वस्तुस्थिति ही ऐसी है। उलटा तुझसे ऐसा कहा है कि प्रथम तू अपने ज्ञान को राग से भिन्न जान, अर्थात् तू स्वतः ज्ञानी हो, तो तुझे ज्ञात हो कि ज्ञानी क्या करते हैं? ज्ञानी ज्ञान-भाव ही करते हैं, जो राग होता है उसे स्वभावरूप से स्वीकार नहीं करते, इससे वे वास्तव में राग को ग्रहण नहीं करते किन्तु त्यागते हैं। ऐसे वस्तुस्वरूप का ज्ञान करना ही अनन्तकाल के मिथ्यात्व को त्याग करने का उपाय है। बाह्यदृष्टि जीव बाह्य के त्याग को देखते हैं; किन्तु आत्मस्वभाव की यथार्थ पहिचान करने पर धर्मात्मा के मिथ्यात्व का ऐसा अपूर्व त्याग होता है कि जो अनन्तकाल में भी नहीं हुआ हो, वे उसे नहीं देखते। ज्ञानी पर की क्रिया के कर्ता कभी होते ही नहीं, वे तो अपने ज्ञान का ही कार्य करते हैं, ज्ञानी राग को धर्म नहीं मानते, ज्ञान में स्थिर होने से राग का अभाव होता है, उसका नाम वास्तव में उत्तमत्याग धर्म है। अहो! जैनशासन में ज्ञान और राग की भिन्नता स्पष्ट ही कही है, किन्तु अज्ञानी उन्हें भिन्न न देखें तो इससे क्या?

यह दस धर्मों का कथन आत्मा की चारित्रदशा बतलाने के लिये है। चारित्रदशा सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होती जिसके सम्यग्दर्शन न हो उसे यह समझ में नहीं आयेगा कि चारित्रदशा कैसी होती है, और शास्त्र में व्यवहार के कथनों का आशय भी वह नहीं समझ सकेगा।

भाद्रपद शुक्ला १२ (द्वितीय)

दो द्वादशी होने से आज उत्तम त्यागधर्म के वर्णन का दूसरा दिन है। वह समस्त धर्म संवर धर्म के भेद हैं। मूल तो एक ही

प्रकार का वीतरागभावरूप संवर है, किन्तु राग के निमित्त से, उपचार से दस भेद कहे गये हैं। जितनी वीतरागता उतना ही धर्म है। किन्तु किसप्रकार के विकल्प से हटकर वीतरागभाव में एकाग्र होता है ? अर्थात् वीतरागभाव के पूर्व किसप्रकार का विकल्प था, वह बतलाने के लिये यह दस भेद हैं। यदि क्षमा सम्बन्धी विकल्प को तोड़कर वीतरागस्वभाव में स्थिर हो तो उसे 'उत्तमक्षमा धर्म' कहा है, इस भांति अनेक प्रकार से रागरहित आत्मा को समझे और राग के अनेक प्रकारों को जाने तो ज्ञान की दृढ़ता हो। रागरहित चैतन्यस्वभाव की श्रद्धापूर्वक आराधना करते हुए बीच में प्रमाद होने से विकल्प उठते हैं, उस प्रमाद को दूर करके स्वभाव के अवलम्बन से विशेष स्थिरता करना, उसे यहाँपर उत्तमत्याग धर्म कहा है। ऐसा त्याग मुख्यतयः सातवें गुणस्थान से होता है और गौणरूप से तो चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है।

मुनिदशा में स्वभाव की एकाग्रता से अनन्तानुबंधी आदि तीन प्रकार के कषाय का अभाव होगया है, उतना त्याग तो सामान्यरूप से है ही, उसकी यहाँपर बात नहीं है, किन्तु मुनि को विकल्प उठने पर छट्ठा गुणस्थान आये उससमय विशेष प्रमाद न होने देना और उस विकल्प को तोड़कर वीतरागी एकाग्रता प्रगट करना–ऐसे विशेष त्याग के लिये यह बात है। जितनी दशा प्रगट हुई है वहीं के वहीं में प्रमाद करके न रुककर, स्वरूपस्थिरता के बल से प्रमाद का परिहार करके आगे बढ़ने के लिये इन दसप्रकार के उत्तम धर्मों का उपदेश है। यहाँपर बाह्य के त्याग की बात ही नहीं है, मुनि के बाह्य में समस्त परिग्रह का त्याग होता है–ऐसे बाह्यत्याग की बात नहीं है; अन्तरंग में मुनि के अधिकांश विभाव दूर होगया है, उतना त्यागधर्म तो प्रगट हुआ है; किन्तु उसकी यहाँ बात नहीं है। स्वरूपस्थिरतारूप चारित्रदशा प्रगटी होने पर भी मुनि के जो शुभविकल्प उठते हैं उन्हें दूर करके, विशेष ज्ञान-ध्यान में आगे बढ़े–वह उत्तमत्याग धर्म है।

मुनिओं के चारित्रदशा विद्यमान रहती है और बाह्याभ्यंतर त्याग होता है–ऐसी बात त्याग धर्म के वर्णन में नहीं की है; क्योंकि यहाँपर तो जिन मुनिओं को विकल्प उठता है उनकी अपेक्षा से कथन है अर्थात् मुनिदशा में जो विकल्प उठता है उसका त्याग करके वीतरागभाव प्रगट करने की बात है। तथापि यहाँ निमित्त की अपेक्षा से कथन है; इससे कहा गया है कि मुनि जो श्रुत का व्याख्यान करते हैं सो उत्तमत्याग धर्म है। वास्तव में तो वाणी जड़ है, शब्द जड़ हैं, और जो व्याख्यान का विकल्प है सो राग है, इसमें कहीं त्यागधर्म नहीं है। किन्तु उससमय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्वभाव की भावना के बल से जो ज्ञान की एकाग्रता में वृद्धि होती है और राग नाश होता है वही त्याग धर्म है।

शास्त्र का व्याख्यान करने को उत्तमत्याग कहा है, उसका क्या आशय है? शास्त्र का प्रयोजन वीतरागभाव है। सर्व शास्त्रों के सारभूत शुद्धात्मा को पहिचानकर वीतरागभाव प्रगट करना ही परमार्थ से श्रुत का व्याख्यान है, और वही उत्तमत्याग है। मात्र शास्त्रों की व्याख्या तो अज्ञानी भी करते हैं, अभव्य जीव ग्यारह अंगों का पठन करले और शास्त्रों का व्याख्यान करे तथापि उसके अंशमात्र भी त्यागधर्म नहीं होता। इसलिये मात्र शास्त्र की बात नहीं है, किन्तु शुद्धआत्मा की भावना के बल से निश्चय चारित्रदशा की वृद्धि होती है और राग नष्ट होता है वह धर्म है। यहांपर बाह्य निमित्त से कथन किया है।

मुनिवरों को शास्त्रादि देना, उसे भी त्याग धर्म कहा है। कोई मुनि स्वतः कोई नवीन शास्त्र पढ़ रहा हो और किसी अन्य मुनि को वह शास्त्र पढ़ने की उत्कंठा हो तो उसीसमय उसे पढ़ने के लिये दे देते हैं; स्वयं शास्त्र की ओर के विकल्प को तोड़कर स्वभाव में स्थिर होजाते हैं। स्वभाव के बल से विकार की जो

अस्वीकृति है उसका नाम त्याग है। वहां मुनि के चारित्रदशा की वृद्धि होती है।

मुनिओं के शास्त्र पढ़ने का आग्रह नहीं है-विकल्प की पकड़ नहीं है; किन्तु वीतरागभाव की भावना है। मुनि शास्त्र का स्वाध्याय कर रहे हों और दूसरे मुनि को वह शास्त्र देखकर हर्ष हो, तो तुरन्त ही पहले मुनि वह शास्त्र उन्हें पढ़ने के लिये देते हैं। किन्तु 'इस नये शास्त्र में क्या विषय हैं, वे पहले मैं देख लूं, और पश्चात् उन्हें दूँ' ऐसा आग्रह नहीं होता; क्योंकि शास्त्र का प्रयोजन तो वीतरागभाव है, और स्वतः भी शास्त्र की ओर का विकल्प तोड़ना ही चाहते हैं। अंतरंग में स्वभाव के बल से पढ़ने की वृत्ति का वेग नष्ट कर देते हैं, उसका नाम उत्तमत्याग धर्म है। श्रुत की प्रभावना हो, अर्थात् वास्तव में तो अपने आत्मा में स्वभाव के आश्रय से राग को नष्ट करके ज्ञान की वृद्धि हो-ऐसे भाव से जो शास्त्र की ओर के विकल्प का नाश कर देते हैं उन मुनि का उत्तमत्याग धर्म है। शास्त्र पढ़ने में भी ज्ञान की वृद्धि का और राग को कम करने का प्रयोजन था, वही प्रयोजन शास्त्र की वृत्ति को तोड़कर सिद्ध किया। स्वभाव में लीन होने से शास्त्र के ओर की वृत्ति को तोड़कर अनन्त केवलज्ञान को निकट लाते हैं। स्वभाव की प्रतीति पूर्वक गृहस्थों के भी अपनी भूमिकानुसार उत्तमत्याग धर्म होता है।

यहां उत्तमत्याग धर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

९—उत्तमआकिंचन्य धर्म

भाद्रपद शुक्ला—१३

(शिखरणी)

विमोहा मोक्षाय स्वहितनिरताश्चारुचरिता
गृहादि त्यक्त्वा ये विदधति तपस्तेऽपि विरलाः ।
तपस्यंतोन्यस्मिन्नपि यमिनि शास्त्रादि ददतो
सहायाः स्युर्ये ते जगति यमिनो दुर्लभतरा ॥ १०२ ॥

जिनका मोह नष्ट होगया है और अपने आत्महित में निरंतर लीन हैं तथा पवित्र चारित्र को धारण करनेवाले हैं और जो गृहादि को त्यागकर मोक्ष के अर्थ से तप कर रहे हैं—ऐसे मुनि विरले ही होते हैं। जो अपने हित के लिये तप कर रहे हैं उसी-प्रकार अन्य तपस्वी मुनिओं को शास्त्रादिक दान करते हैं और उनके सहायक हैं-ऐसे योगीश्वर इस जगत में दुर्लभ हैं।

मुनिओं के शास्त्र का अगाध ज्ञान हो तो भी उसका उनके ममत्व अथवा अभिमान नहीं होता। दूसरे मुनिओं को ज्ञान का उपदेश देने में वे किंचित् संकोच नहीं करते, "मैं अपना सारा रहस्य इससे कह दूंगा तो यह मुझसे आगे बढ़ जायेगा" ऐसे ईर्ष्याभाव का विकल्प भी मुनि के नहीं होता। अन्य कोई अपने से आगे बढ़कर अपने से पूर्व केवलज्ञान प्राप्त करता हो तो उसमें अनुमोदना है। इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि गृहस्थों को भी ज्ञान-चारित्रादि गुणों में जो अपने से बढ़ा हुआ हो उसके प्रति अनु-

मोदना और बहुमान होता है। विकल्प के समय यदि अधिक गुणवान के प्रति अनुमोदना न हो तो वैसे जीव को गुण की रुचि नहीं है। मुनिजन अंतरंग में किंचित् भी छिपाये बिना सरलता से पात्र जीव को सर्व रहस्य का उपदेश करते हैं। उपदेश के विकल्प को भी अपना नहीं मानते। जिनके शरीर का और विकल्प का ममत्व नहीं है तथा आहार एवं उपदेशादि के विकल्प को तोड़कर वीतरागस्वभाव में स्थित हैं—ऐसे उत्तम आकिंचन्यधर्म में रत मुनिगण इस संसार में धन्य हैं। उनके चारित्रदशा विद्यमान है, केवलज्ञान प्राप्त करने की पूरी तैयारी है, बारह अंग का ज्ञान हो तो भी उसमें आसक्ति नहीं है; अभी किसी समय किंचित् उपदेशादि की वृत्ति उठती है उसे छोड़कर स्वभाव में एकदम संपूर्ण स्थिरता द्वारा केवलज्ञान प्रगट करने के कामी हैं—ऐसे मुनिजन दुर्लभ हैं। उपदेशादि में किसी उत्तम बात को अथवा महिमावंत न्याय को मुनि छुपाते नहीं हैं, ज्ञानदान देने से कहीं ज्ञान कम रह जाता हो ऐसा नहीं है, किन्तु उलटे अपने ज्ञानस्वभाव की भावना का मंथन करने से ज्ञान एकदम विकसित होता जाता है। लोकव्यवहार में भी जिसे अपने पुण्य का विश्वास होता है वह जीव दान में लक्ष्मी आदि खर्च करने में सहज में ही उदार होता है; दान में अधिक लक्ष्मी खर्च करने से मेरी लक्ष्मी घट जायेगी ऐसी शंका उसे नहीं होती। वैसे ही लोकोत्तर मुनिवरों को भी अपने पुरुषार्थ की प्रतीति है कि मेरे ज्ञान का विकास रुकनेवाला नहीं है, अपने स्वभाव के आश्रय से मेरे ज्ञान की वृद्धि ही है। वे मुनि दूसरों को शास्त्रज्ञान देने में किंचित् भी हिचकिचाहट नहीं करते। स्वतः को उपदेश की वृत्ति में अटकने की भावना नहीं है, किन्तु वृत्ति को तोड़कर स्वभाव में ही एकाग्र रहकर पूर्ण ज्ञान की भावना है—ऐसे मुनिवरों के उत्तमआकिंचन्य धर्म होता है। आकिंचन्य अर्थात् परिग्रह रहितता। ममता ही परिग्रह है। ममतारहित वीतरागभाव सो उत्तमआकिंचन्य धर्म है। भेदज्ञान

द्वारा पर से भिन्न स्वभाव के जाने बिना पर के ऊपर का ममत्व दूर नहीं होता और धर्म भी नहीं होता ।

श्री मुनिओं के आकिंचन्यधर्म को अभी विशेषरूप से समझाते हैं:—

(शिखरणी)

परं मत्वा सर्वं परिहृतमशेषं श्रुतविदा
वपुः पुस्ताद्यास्ते तदपि निकटं चेदिति मतिः ।
ममत्वाभावे तत्सदपि न सदन्यत्र घटते
जिनेन्द्राज्ञा भंगो भवति च हठात् कल्मषमृषेः ॥ १०३ ॥

श्रुत के रहस्य को जाननेवाले वीतरागी मुनिओं ने समस्त परवस्तुओं को अपने आत्मा से भिन्न जानकर उनका त्याग कर दिया है; इससे उनके उत्तमआकिंचन्य धर्म है । यदि कोई पूछे कि शरीर और पुस्तकादि तो निकट हैं—उनका त्याग क्यों नहीं किया ? उसका उत्तरः—वह भी त्याग समान ही है । शरीरादि में ममत्व का अभाव होने से वे नहीं होने के समान ही हैं । आयुकर्म नाश हुए बिना शरीर नहीं छूटता किन्तु शरीर के ऊपर का ममत्व छूट सकता है । अरिहंतों के भी बाह्य में शरीर तो विद्यमान है किन्तु उनके ममत्व का नितांत अभाव है इसमे उन्हें शरीर का भी परिग्रह नहीं है । मुनि यदि हठपूर्वक शरीर को छोड़े तो जिनाज्ञा का भंग हो । हठ से प्राणत्याग करना तो हिंसा है ।

देह का संयोग छूटना मुनि के अधीन नहीं है । वस्त्रादि का राग छूट जाने पर बाह्य में वस्त्रादि भी छूट जाते हैं,—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु वस्त्र की भांति, शरीर के ऊपर का ममत्व छूट जानेपर शरीर भी छूट जाये—ऐसा नियम नहीं देह तो परमाणुओं का संयोग है, उसका वियोग आयु स्थिति पूर्ण होने पर होता है, किन्तु उसका ममत्व छोड़

चैतन्यस्वभाव में जागृत रहना सो उत्तमआकिंचन्य धर्म है। मुनिओं के शरीर, वाणी, पुस्तकादि विद्यमान होनेपर भी उनके प्रति वे किंचित् ममत्व नहीं रखते इससे उनके उत्तम आकिंचन्य धर्म है।

यहांपर कोई प्रश्न करे कि मुनिओं के जैसे शरीरादि बिना ममत्व होते हैं वैसे ही बिना ममत्व वस्त्र भी माने जायें तो इसमें क्या आपत्ति है? उत्तर—शरीर, आहार, पुस्तक इत्यादि तो संयम के निमित्त हैं, वस्त्र संयम के निमित्त नहीं हैं; वस्त्र तो राग के—असंयम के निमित्त हैं। बुद्धिपूर्वक वस्त्र रखे—वस्त्र की ओर का विकल्प हो तथापि कोई कहे कि मुझे उसके प्रति राग नहीं है, तो उसकी बात मिथ्या है। वस्त्र का संयोग कब निर्ममत्वरूप से गिना जाये? जब मुनिराज सम्यग्दर्शन-ज्ञानयुक्त आत्मध्यान में लीन हों, एवं बाह्य पदार्थों का लक्ष्य ही न हो उससमय अन्य कोई आकर उनके ऊपर वस्त्र डाल जाये तो उससमय परीषह माना जाता है और उससमय उन मुनि को वह वस्त्र राग का नहीं किन्तु ज्ञान का निमित्त है। उस वस्त्र के साथ ज्ञेयज्ञायक संबंध है। वस्त्र धारण करने का राग होनेपर भी यदि मुनित्व माने तो उस जीव के सम्यक्दर्शन भी नहीं होता। मुनिदशा का और निर्ग्रंथता का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु मुनिदशा का और वस्त्र का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है। वस्त्र पर से ममत्व छूट जाने पर पश्चात् वस्त्र धारण करने की बुद्धि हो ऐसा हो ही नहीं सकता। वस्त्रत्याग करने की क्रिया आत्मा की नहीं है, वस्त्र तो स्वतः उनके अपने कारण से छूटते हैं। किन्तु वस्त्र का राग छोड़ने पर बाह्य में बुद्धिपूर्वक वस्त्र का संग होता ही नहीं, ऐसा नियम है। मुनिदशा में विकल्प उठे उससमय शास्त्र इत्यादि का आलम्बन होता है, किन्तु उनका भी आग्रह नहीं होता; फिर वस्त्र धारण करने का राग तो अशुभभाव है, वह तो मुनिदशा में होता ही नहीं। वास्तव में शास्त्र तो वीतरागभाव का निमित्त है, जब साक्षात् वीत-

राग भाव में लीनता नहीं होती और विकल्प उठता है उससमय अशुभभाव से बचकर जितना वीतरागभाव स्थिर रखता है, उतना ही परमार्थ से आकिंचन्यधर्म है, उससमय के शुभराग को उपचार से आकिंचन्यधर्म कहा जाता है। जिसे शुभराग का ममत्व है उसके तो मात्र अधर्म है। राग का ममत्व छोड़कर रागरहित स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक ही धर्म होता है।

कोई स्वच्छन्दी जीव ऐसा कहे कि:—जैसे मुनिओं को शरीर के प्रति ममत्व न होने पर भी शरीर होता है, वैसे ही हमारे अंतरंग में ब्रह्मचर्य का भाव प्रवर्तमान है तथापि बाह्य में स्त्री का संग हो तो क्या विरोध है? उसकी बात बिल्कुल विपरीत है। शरीर तो आयुकर्म के कारण ममत्व-रहित भी होसकता है, किन्तु स्त्रीसंग अब्रह्मचर्यरूप पापभाव के बिना नहीं होसकता। ब्रह्मचर्यभाव हो और स्त्रीसंग की बुद्धि हो—ऐसा नहीं होता। जो शरीर और शास्त्र के प्रति ममत्व करे उस मुनि के भी जिन-आज्ञा का भंग है। मुनि का अर्थ है अत्यंत निस्पृह वीतरागता; मुनि आकाश की भांति निरावलम्बी वृत्ति वाले होते हैं। एकबार आहार लेते हैं, वह भी शरीर के ममत्व के कारण नहीं लेते; किन्तु संयम के निभाव की वृत्ति से लेते हैं। आहार लेने को जाते हुए यदि आहार में दोष का विकल्प उठे तो अन्तराय जानकर, आहार की वृत्ति को छोड़कर किंचित्मात्र खेद के बिना लौट जाते हैं, और पश्चात् आत्मानुभव में लीन होजाते हैं। इसप्रकार शरीर से भी अत्यन्त विरक्ति होती है, और अपने स्वभाव में वीतरागता का मंथन करते हैं। ऐसे मुनिओ के उत्तम आकिंचन्य धर्म होता है, वह मोक्ष का कारण है।

हैं उत्तमआकिंचन्य धर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

१०—उत्तमब्रह्मचर्य धर्म

भाद्रपद शुक्ला–१४

आज दशलक्षणपर्व का अन्तिम दिन है। आज उत्तमब्रह्मचर्य धर्म का दिन माना जाता है। 'ब्रह्म' का अर्थ है आत्मा का स्वभाव; उसमें विचरना, परिणमन करना, लीन होना सो ब्रह्मचर्य है। विकार और पर के संग से रहित आत्मस्वभाव कैसा है—वह जाने बिना उत्तमब्रह्मचर्य नहीं होता। लौकिकब्रह्मचर्य शुभराग है, धर्म नहीं है और उत्तमब्रह्मचर्य धर्म है राग नहीं है। शुद्ध-आत्मस्वभाव की रुचि के बिना विषयों की रुचि दूर नहीं होती। मेरी सुखदशा मेरे ही स्वभाव में से प्रगट होती है, उसके प्रगट होने में मुझे किसी की अपेक्षा नहीं है—ऐसी पर से भिन्न स्वभाव-की दृष्टि हुए बिना विषयों की रुचि नहीं छूटती। बाह्य में विषयों का त्याग करदे, किन्तु अंतरंग से विषयों की रुचि दूर न करे तो वह ब्रह्मचर्य नहीं है। स्त्री, घरबार छोड़कर त्यागी होजाये, अशुभ-भाव छोड़कर शुभ करे, किन्तु उस शुभभाव में जिसे रुचि एवं धर्म-बुद्धि है उसके वास्तव में विषयों की रुचि दूर नहीं हुई। शुभ अथवा अशुभ विकार परिणामों में एकताबुद्धि ही अब्रह्मपरिणति है, और विकाररहित शुद्ध आत्मा में परिणाम की एकता ही ब्रह्मपरिणति है। यही परमार्थ ब्रह्मचर्यधर्म है।

यहांपर सम्यग्दर्शनपूर्वक मुनि की चारित्रदशा के ब्रह्मचर्य की बात है। जगत के सर्व विषयों से उदासीन होकर आत्मस्वभाव में चर्या प्रगट हुई—वह ब्रह्मचर्य है और उसके फलस्वरूप उनको

परमात्मपद अवश्य मिलेगा ही। स्वभाव में एकता की, और पर से निरपेक्ष हुआ-वहाँ जो वीतरागभाव प्रगट हुआ वह ब्रह्मचर्यधर्म है। यहाँपर श्री पद्मनंदि मुनिराज ब्रह्मचर्यधर्म का वर्णन करते हैं:—

(स्रग्धरा)

यत्संगाधारमेतच्चलति लघु च यत्तीक्ष्णदुःखौघ धारं,
मृत्पिण्डीभूतभूतं कृतबहुविकृति भ्रान्ति संसारचक्रम्।
ता नित्यं यन्मुमुक्षुर्यतिरमलमतिः शान्तमोहः प्रपश्ये-
ज्जामीः पुत्रीः सवित्रीरिवहरिणदृशस्तत्परं ब्रह्मचर्यम् ॥१०४॥

इस श्लोक में 'अमलमति' शब्द पर भार है। अमलमति का अर्थ है पवित्रज्ञान-सम्यग्ज्ञान। जिनके सम्यग्ज्ञान हुआ है-ऐसे आत्मा कदापि स्त्री आदि में सुखबुद्धि नहीं करें। आत्मा में एकाग्र रहनेवाले मुमुक्षु और मुनिजन कभी भी स्त्री का संग-परिचय न करें। स्त्री आदि विषयों में सुखबुद्धि करने से जीव संसार में परिभ्रमण करता है। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि-जैसे कुम्हार के चाक का आधार कीली है और उस चाक पर रखे हुए मिट्टी के पिण्ड के अनेक आकार बनते हैं-ऐसे ही इस संसाररूपी चाक का आधार स्त्री है और अनेकप्रकार के विकार करके जीव चारों गतियों में परिभ्रमण करता है। जो मोक्षाभिलाषी जीव सम्यग्ज्ञान-पूर्वक विषयों की रुचि छोड़कर उन स्त्रियों को माता, बहिन, पुत्री के समान मानता है उसके ही उत्तमब्रह्मचर्य धर्म का पालन होता है। जिनकी बुद्धि निर्मल हुई है और मोह शांत होगया है-ऐसे ब्रह्मचारी आत्माओं को कदापि स्त्रीसंग नहीं करना चाहिये।

उपदेश में जहां निमित्त की मुख्यता से वचन आयें, वहाँ उनका सच्चा भावार्थ समझ लेना चाहिये। यहाँपर स्त्री को संसार का आधार कहा है वह निमित्त की अपेक्षा से है। वास्तव में कहीं स्त्री, जीव को परिभ्रमण नहीं कराती, किन्तु अपने स्वभाव से

छूटकर स्त्री की सुन्दरता में और विषय में जीव को रुचि हुई–वह मिथ्यापरिणति है तथा वही संसार का आधार है। स्वभाव की अपेक्षा एवं पर की उपेक्षा सो ब्रह्मचर्य है, और वह मोक्ष का आधार है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पहिले भी जिज्ञासु जीवों के विषयों की मिठास छूटकर ब्रह्मचर्य का प्रेम होता है। जिसके अन्तर में विषयों की मिठास भरी है उस जीव के चैतन्यतत्व की प्रीति नहीं है। चैतन्य का सहजानन्द विषयरहित है। उस सहज-आनन्दमय चैतन्यस्वरूप की रुचि छूटकर जिसे इन्द्रानी आदि की ओर के राग में मिठास आती है वह जीव मिथ्यादृष्टि है। निमित्तों की उपेक्षा करके स्वभाव में एकता करना सो ब्रह्मचर्य है, वह मुक्ति का कारण है; और आत्मा को निमित्तों की अपेक्षा है–ऐसी पराश्रितदृष्टि विषय है, वह संसार का कारण है।

आत्मस्वभाव की प्रतीति के बिना स्त्री को छोड़कर यदि ब्रह्मचर्य पाले तो वह पुण्य का कारण है, किन्तु वह उत्तमब्रह्मचर्य धर्म नहीं है, और उससे कल्याण नहीं होता। विषयों में सुखबुद्धि अथवा निमित्त की अपेक्षा का उत्साह संसार का कारण है। यहाँपर जिसप्रकार पुरुष के लिये स्त्री को संसार का कारणरूप कहा है, उसीप्रकार स्त्रियों को भी पुरुष की रुचि सो संसार का कारण है।

आचार्यदेव कहते हैं कि यदि इस जगत में स्त्री न होती तो यह संसार भी न होता, अर्थात् जीव की दृष्टि यदि स्त्री आदि निमित्तों पर न होती तो उसकी दृष्टि स्वभाव पर होती, और स्वभावदृष्टि होती तो यह संसार न होता। स्वभावदृष्टि से स्वभाव का आनन्द प्रगट हुए बिना नहीं रहता। स्वभावदृष्टि को छोड़कर मिथ्यात्व से स्त्री आदिक में सुख माना–तब स्त्री को संसार का कारण कहा गया। स्त्री आदि निमित्त के आश्रय से राग करके ऐसा माने कि 'इसमें क्या अड़चन है?' अथवा 'इसमें सुख है' ऐसा माननेवाला जीव स्वभाव का आश्रय चूककर संसार में भ्रमण

करता है। आत्मा का शुद्ध उपादान स्वभाव तो परम-आनन्द का कारण है; किन्तु उसे भूलकर निमित्त का आश्रय किया-इससे उस निमित्त को ही संसार का कारण कहा है। यह क्षणिक संसारभाव जीव के स्वभाव के आधार से नहीं होता किन्तु निमित्त के आधार से होता है-ऐसा बताने के लिये स्त्री को संसार का आधार कहा है। जैसे छोटी सी कीली के आधार पर चाक घूमता है वैसे ही अपनी परिणति की गहराई में पराश्रय में सुख मानता है, उस मान्यतारूपी धुरी के ऊपर जीव अनन्तप्रकार के संसार में भ्रमण करता है, जीव के संसारचक्र की धुरी मिथ्यात्व है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि:—

"आ सघला संसारनी रमणी नायकरूप,
ओ त्यागी त्याग्युं बधुं केवल शोकस्वरूप।"

यह बात निमित्त की अपेक्षा से है। वास्तव में स्त्री संसार का कारण नहीं है। पूर्व भवों में अनन्तबार द्रव्यलिंगी साधु होकर स्त्री का संग छोड़ा और ब्रह्मचर्य व्रत पालन किया तथापि कल्याण नहीं हुआ। अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर निमित्त का-पुण्य का-व्यवहार का आश्रय माना वही मैथुन है। पुण्य-पाप भावों की रुचि ही महान भोग है। उसके बाह्य में कदाचित् संयोग न दिखलाई दे किन्तु अन्तरंग में तो प्रतिक्षण विकार का ही उपभोग करता है।

पूर्ण वीतरागी ब्रह्मचर्य दशा पुरुष के ही होसकती है, इससे पुरुष की मुख्यता से कथन है। स्त्री को पांचवें गुणस्थानपर्यंत की दशा होती है, विशेष उच्चदशा नहीं होती, पंचपरमेष्ठी पद में उसका स्थान नहीं है; इससे शास्त्रों में उसकी बात मुख्यरूप से नहीं आती, किन्तु गौणरूप से उसकी भूमिका के अनुसार समझना चाहिये। स्त्री के लिये पुरुष के संग की रुचि सो संसार का कारण है।

शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की नववाड़ कहा है, वह नववाड़ उसप्रकार के राग से बचने के लिये है, किन्तु 'परद्रव्य हानि करती है'-ऐसा बतलाने के लिये नहीं कही है। 'अपने भाव शुद्ध हैं और परद्रव्य हानि नहीं पहुँचाते, इसलिये बाड़ तोड़ने में क्या आपत्ति है? स्त्री आदिक के परिचय में क्या अड़चन है? ऐसे कुतर्क से यदि रुचिपूर्वक ब्रह्मचर्य की बाड़ को तोड़े तो वह जीव जिनाज्ञा का भंग करनेवाल मिथ्यादृष्टि है। 'परद्रव्य हानि नहीं करते इसलिये ब्रह्मचर्य की बाड़ को तोड़ने में क्या बाधा है?' अर्थात् स्वद्रव्य का अवलम्बन छोड़कर परद्रव्य का अनुसरण करने में बाधा क्या है? ऐसी बुद्धिवाला जीव मिथ्यादृष्टि है। हे स्वच्छन्दी! परद्रव्य हानि नहीं करते, यह बात तो ऐसी ही है, किन्तु यह जानने का प्रयोजन तो परद्रव्य से परांगमुख होकर स्वभाव में सन्मुख होना था या स्वच्छन्दरूप से परद्रव्यों के अनुसरण करने का? जैसे परद्रव्य हानि नहीं करते वैसे ही परद्रव्य से तुझे लाभ भी नहीं होता—ऐसा समझनेवाले के पर के संग की भावना ही कैसे हो? पर से हानि नहीं है इसलिये पर का संग करने में बाधा नहीं है-ऐसी जिसकी भावना है वह जीव स्वच्छन्दी मिथ्यादृष्टि है, वह तत्त्व को नहीं समझा। जो तत्वज्ञान वीतरागता का पोषक है उस तत्वज्ञान की ओट में स्वच्छन्दी जीव अपने राग का पोषण करता है, उसे कभी भी यथार्थ तत्त्वज्ञान परिणमित नहीं होता। 'अहो! मेरे आत्मा को पर से कुछ भी लाभ-हानि नहीं है'—ऐसा समझने से तो पर की भावना छूटकर स्वभाव की भावना होती है। उसके बदले में जिसको स्वभाव की भावना न हुई किन्तु पर के संग की की रुचि हुई-वह मिथ्यादृष्टि है, वीतरागमार्ग से भ्रष्ट है, उसने विकार को विघ्नकारक नहीं माना। पहले तो स्त्री आदिक के संग से पाप मानकर भयभीत रहता था, और अब पर से हानि नहीं है-ऐसा मानकर उलटा निःशंकरूप से राग के प्रसंगों में युक्त होकर स्वच्छन्दता का पोषण करता है, ऐसे जीव के विकार और स्वभाव का भेदज्ञान

करने की महिमा नहीं है। उसमें सत् के समझने एवं सुनने की भी पात्रता नहीं है। ज्ञानमूर्ति चैतन्यस्वभाव के भानपूर्वक जो नववाड़ है वह उसप्रकार के अशुभराग का अभाव बतलाती है। ब्रह्मचारी जीव के वैसा अशुभराग सहज ही नष्ट होगया है। ब्रह्मचारी हो और स्त्री के परिचय का भाव आये–ऐसा नहीं होता। यदि कोई जीव ब्रह्मचर्य की बाड़ को तोड़कर स्त्री का संग–परिचय करे, उसके साथ एकान्तवास करे तथापि ऐसा कहे कि 'मैं तो ब्रह्मचर्य की परीक्षा करता हूँ। तो ऐसा जीव पराश्रय की रुचि से संसार में भ्रमण करेगा। हे भाई! तुझे स्त्री का परिचय करने की आकांक्षा हुई वहीं पर तेरी परीक्षा होगई कि तुझे ब्रह्मचर्य का यथार्थ रंग नहीं है। तुझे यदि परीक्षा करना है तो स्वभाव के आश्रय से कितना वीतरागभाव स्थिर होता है–उसपर से परीक्षा कर।

यहाँपर तो मुनिओं के, सम्यक्‌दर्शनपूर्वक कैसा उत्तमब्रह्मचर्य होता है उसकी उत्कृष्ट बात है। वास्तव में तो वीतरागभाव ही धर्म है, किन्तु उसके पूर्व निमित्तरूप से ब्रह्मचर्य का शुभराग था। उसे छोड़कर वीतरागभाव हुआ–ऐसा बतलाने के लिये उस वीतरागभाव को उत्तमब्रह्मचर्य धर्म कहा है। मुनिराज के जब शुद्धोपयोग में रमणता न रहे और विकल्प उठे तब वे ब्रह्मचर्यादि पंचमहाव्रत पालते हैं; उससमय कदाचित् स्त्री की ओर लक्ष्य जाये तो अशुभवृत्ति न होकर उसके प्रति माता बहिन अथवा पुत्री के समान विकल्प होता है और उस शुभविकल्प का भी निषेध प्रवर्तमान रहता है। इससे वहाँपर भी उत्तमब्रह्मचर्य धर्म है। स्त्री आदि के परलक्ष्य से जो शुभविकल्प उठा है वह तो राग है, वह परमार्थ से ब्रह्मचर्य नहीं है, किन्तु त्रैकालिक शुद्धस्वभाव की रुचि के बल से वह स्त्री आदि की ओर के विकल्प की रुचि को मिटाता हुआ विकल्प हुआ है इससे उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। और उस विकल्प को भी छेदकर साक्षात् वीतरागभाव प्रगट करना सो परमार्थ से उत्तमब्रह्मचर्य धर्म है, वह केवलज्ञान का साक्षात् कारण है।

जिसने स्वभावदृष्टि को तोड़कर स्त्री में ही सुख माना है उसे अनन्त-संसार का भ्रमण होता है, और उसके लिये स्त्री ही संसार का कारण है—ऐसा कहा जाता है। भरतचक्रवर्ती गृहस्थदशा में क्षायिकसम्यग्दृष्टि थे और हजारों रानियाँ थीं, तथापि उसमें स्वप्न में भी सुख की मान्यता नहीं थी; उसीप्रकार उसमें जो राग था उसे भी अपना स्वरूप नहीं मानते थे। इससे स्वभावदृष्टि के बल से उस राग को छेदकर त्यागी होकर उसी भव में केवलज्ञान और मुक्ति प्राप्त की।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध है—ऐसी जो दो पदार्थों के सम्बन्ध की बुद्धि है वह व्यभिचारिणी बुद्धि है; वह मिथ्यात्व है, वही अब्रह्मचर्य है और वही वास्तव में संसार-परिभ्रमण का आधार है। जिसे एक भी अन्य द्रव्य के साथ सम्बन्ध की वृत्ति है उसे वास्तव में समस्त पदार्थों में एकत्वबुद्धि है, उसे भेदज्ञान नहीं है और भेदज्ञान के बिना ब्रह्मचर्य धर्म नहीं होता। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि स्व-पर का भेदज्ञान करके स्त्री आदि में किंचित् भी सुख नहीं है—ऐसा मानकर ब्रह्मचारी-संत एवं मुमुक्षुओं को स्त्री आदि के सन्मुख नहीं देखना चाहिये, उनका परिचय, संग नहीं करना चाहिये; सर्व परद्रव्यों के ओर की वृत्ति को तोड़कर स्वभाव में स्थिरता का अभ्यास करना चाहिये।

अब आचार्यदेव वीतरागी ब्रह्मचारी पुरुषों की महिमा बतलाते हैं:—

(मालिनी)

अविरतमिह तावत्पुण्यभाजो मनुष्या
हृदिविरचितरागाः कामिनीनां वसन्ति ।
कथमपि न पुनस्ता जातु येषां तदंघ्री
प्रतिदिनमतिनमास्तेऽपि नित्यं स्तुवन्ति ॥ १०५ ॥

आचार्यदेव पुण्य और पवित्रता को भिन्न करके समझाते हैं। इस संसार में जिनके ऐसा सुन्दर रूपादि है कि जिसे स्त्रियां चाहें वे पुण्यवंत हैं; किन्तु ऐसे पुण्यवंत, इन्द्र, चक्रवर्ती इत्यादि भी, जिनके हृदय में स्त्री सम्बन्धी किंचित्मात्र विकल्प नहीं है-ऐसे वीतरागी संतों के चरण में मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं। इसलिये पुण्य की अपेक्षा पवित्रता ही श्रेष्ठ है। इससे जीवों को पुण्य की और उसके फल की-स्त्री आदि की रुचि में न रुककर आत्मा के वीतरागी स्वभाव की रुचि एवं महिमा करना चाहिये।

जिस पुरुष का शरीर रूपवान है उसका स्त्री के हृदय में वास वह पुण्यवंत है,अरो है किन्तु ऐसे पुण्यवंत भी पवित्रता के पास नतमस्तक होजाते हैं। जिनके हृदय में स्वप्न में भी स्त्रियां वास नहीं करतीं, स्त्री सम्बन्धी विकल्प भी जिनके नहीं है, अर्थात् आत्मभानपूर्वक स्त्रीआदि का राग का छोड़कर जो वीतरागी मुनि हुए हैं वे ही पुरुष इस जगत में धन्य हैं। जिन्हें स्त्रियां चाहती हैं-ऐसे इन्द्र और चक्रवर्ति आदि महानपुरुष भी उन पवित्र पुरुषों को नमस्कार करते हैं, उनका स्तवन करते हैं जिनके हृदय में से स्त्रियों का वास हट गया है। स्त्रियां पुण्यवंत को चाहती हैं और पुण्यवंत धर्मात्मा संत को नमस्कार करते हैं; इसलिये पुण्य की अपेक्षा पवित्रता का-धर्म का पुरुषार्थ उच्च है।

इन्द्राणी इन्द्र को चाहती है, पद्मिनी स्त्री (स्त्रीरत्न) चक्रवर्ती को चाहती है-इसप्रकार स्त्रियाँ पुण्यवन्त को चाहती हैं, और पुण्यवंत को जगत के जीव श्रेष्ठ मानते हैं; किन्तु वे चक्रवर्ती आदि पुण्यवंत पुरुष भी मुनिराज आदि पवित्र पुरुषों को नतमस्तक होते हैं, इसलिये पवित्रता ही श्रेष्ठ है, पवित्रता चाहने योग्य है; पुण्य नहीं।

पूर्व का पुण्य श्रेष्ठ है, या वर्तमान में स्वभाव का आश्रय करके पुण्य का विकल्प तोड़दिया है वह श्रेष्ठ है? यहाँपर आचार्य

देव ऐसा बतलाते हैं कि जिसने आत्मस्वभाव का आश्रय करने का पुरुषार्थ किया है वह श्रेष्ठ है; पुण्य करके स्त्रीआदि को प्रिय लगे-उसमें आत्मा की श्रेष्ठता नहीं है, वह आदरणीय नहीं है। पूर्वपुण्य के फलरूप स्त्री आदि की प्राप्ति हुई उनके राग में रुकना अच्छा नहीं है, किन्तु पुण्य को तृणतुल्य जानकर तथा स्त्री के प्रति राग को छोड़कर स्वभाव के आश्रय से वीतरागता प्रगट करना ही सर्वश्रेष्ठ है। इसलिये हे जीव! तू स्त्री आदि संयोगों की, वैसे ही पुण्य की प्रशंसा छोड़कर स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता का पुरुषार्थ कर, वह धर्म है।

चैतन्यरूपी जहाज में चढ़कर जो संसार-समुद्र का पार पारहे हैं ऐसे संतो के चरणों में इन्द्र-चक्रवर्ति भी मस्तक झुकाते हैं, उन संतों के स्वभाव की लीनता से पर की ओर का राग ही नष्ट होगया है; उसीका नाम उत्तमब्रह्मचर्य है। परलक्ष्य से ब्रह्मचर्य का शुभभाव तो पुण्यबंध का कारण है, वह उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म नहीं है।

पुण्य और उसका फल तो नाशवान हैं और वर्तमान में भी आकुलता-दुःख के कारण हैं। पुण्यरहित आत्मस्वभाव ध्रुव है, उसके आश्रय से जो ब्रह्मचर्य प्रगट हुआ वही प्रशंसनीय है, पुण्य प्रशंसनीय नहीं है। जो ब्रह्मानन्द-आत्मा के ज्ञानस्वरूप का आनंद है, उसका सेवन करके मुनिजन मोक्षरूपी स्त्री की साधना करते हैं। पुण्यवंत के तो जितने समयतक पुण्य रहेगा उतने ही समयतक वह स्त्री को प्रिय लगेगा, किन्तु चैतन्य के आश्रय से जिसने ब्रह्मचर्य प्रगट किया है उसे सदैव मोक्षरूपी स्त्री की प्राप्ति रहती है और इन्द्रादिक सर्वोत्तम जीव भी उसे नमस्कार करते हैं। इसलिये वही भव्यजीवों को आदरणीय है। आत्मस्वभाव में सुख है तथा स्त्री आदि किसी भी विषय में सुख नहीं है—प्रथम ही ऐसी यथार्थ श्रद्धा एवं ज्ञान करना सो धर्म है।

यहाँपर उत्तमक्षमादि दस धर्मों का वर्णन करके आचार्यदेव अब उन धर्मों की महिमा बतलाते हैं:—

(स्रग्धरा)

वैराग्यत्यागदारुकृतरुचिरचना चारु निश्रेणिका यैः
पादस्थानैरुदारैर्दशभिरनुगता निश्चलैर्ज्ञानदृष्टेः ।
योग्या स्यादारुरुक्षोः शिवपदसदनं गन्तुमिष्येतु केषाम्
नोधर्मेषुत्रिलोकीपतिभिरपि सदा स्तूयमानेषुदृष्टिः ॥१०६॥

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि—जो त्रिलोक के स्वामी इन्द्रों से भी वंदनीक हैं—ऐसे इन दस उत्तमधर्मों को धारण करने में किसे हर्ष न होगा? समस्त मोक्षार्थी जीव उनका पालन सहर्ष करते हैं। यह दस धर्म मुनिदशा में होते हैं। मुनिदशा मोक्षमहल की सीढ़ी है, उसके एक ओर वैराग्यरूपी और दूसरी ओर त्यागरूपी सुन्दर-सुदृढ़ काष्ठ लगे हुए हैं तथा दस धर्मरूपी दस विशाल सीढ़ियाँ हैं। मोक्षमहल में चढ़ने की भावना वाले पुरुषों को ऐसी सीढ़ियां चढ़ने योग्य हैं। अर्थात् इन दस धर्मों का पालन करने से जीव मुक्ति प्राप्त करता है। ऐसे उत्तम दसधर्मों के प्रति किस मोक्षार्थी को उल्लास न होगा?

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! वीतरागी दसधर्मों का ऐसा सुन्दर वर्णन सुनकर किसे व्रतादि की भावना जागृत नहीं होगी? रागरहित चैतन्यस्वभाव के आश्रय की भावना किसे नहीं होगी? आचार्यदेव स्वतः सावधानीपूर्वक दसधर्मों का पालन करते हैं इससे कहते हैं कि इन दसधर्मों को सुनकर समस्त संसार को हर्ष होगा। सभी जीवों को यह धर्म सुनने से निश्चल सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक उत्तम त्याग-वैराग्यादि की आकांक्षा होगी। ऐसे मांगलिकपूर्वक यह अधिकार पूर्ण होता है।

दशलक्षणधर्म के व्याख्यान पूर्ण हुए।

धर्म का स्वरूप

"दंसण मूलो धम्मो"–धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यक्-दर्शन ही प्रथम धर्म है और आत्मा के ज्ञान–चारित्रादि समस्त धर्मों का मूल है। सम्यग्दर्शन के बिना भगवान ने धर्म नहीं कहा है। सम्यग्दर्शन इस जगत में सर्वश्रेष्ठ कल्याणकारी वस्तु है। उसकी महिमा अपूर्व है।

हे भव्य ! अनंतकाल में आत्मस्वरूप समझने का अवसर आया है, यदि सम्यग्दर्शन के द्वारा यथार्थ नहीं समझा तो कोई तुझे शरणभूत नहीं है। पुण्य-पापरहित चैतन्य स्वभाव की प्रतीति के बिना तेरे त्यागादि सब व्यर्थ हैं, उनसे संसार के दुःखों का अन्त नहीं आयेगा।

आत्मस्वभाव की यथावत् प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है। और वह सम्यग्दर्शन ही अहिंसा, सत्य इत्यादि समस्त धर्मों का मूल है। वस्तुस्वभाव की प्रतीति द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना किसी भी जीव के अहिंसा, सत्य इत्यादि धर्म कदापि नहीं हो सकते, किन्तु अज्ञानता से मिथ्यात्वरूप महाहिंसा एवं असत्य का ही निरंतर सेवन होता है। आत्मा को समझे बिना जो लौकिक सत्य है वह भी परमार्थ से हिंसा ही है। परजीवों का मैं कुछ कर सकता हूँ–ऐसा मानना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व ही सर्व पापों का मूल है। जिस जीव के सम्यग्दर्शन नहीं होता उसके अन्य कोई भी धर्म नहीं होता।

सर्वज्ञदेव के उपदेशित धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञदेव की परम्परा से जो जिनमत प्रवर्तमान है उसमें धर्म के स्वरूप का यथार्थ निरूपण है; तथा निश्चय और व्यवहार-ऐसे दो प्रकार से धर्म का कथन किया है। धर्म की प्ररूपणा चार प्रकार से है.— (१) वस्तुस्वभावरूप धर्म (२) उत्तमक्षमादिक दसप्रकार धर्म (३) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म और (४) जीव रक्षारूप धर्म। यदि वहां निश्चय से विचार किया जाये तो इन चारों प्रकारों में शुद्ध चेतनारूप धर्म एक ही प्रकार का है, वह समझाया जारहा है:—

(१) वस्तुस्वभाव सो धर्म:—जो दर्शन-ज्ञान-परिणाममयी चेतना है वह जीववस्तु का परमार्थस्वभाव है, जब उस चेतना के परिणाम सर्व विकाररहित शुद्धचेतनारूप परिणमित हों तब वह धर्म है। इसप्रकार वस्तु का स्वभाव सो धर्म-ऐसा कहने से शुद्धचेतनारूप धर्म सिद्ध होता है।

यहाँपर शुद्धचेतनपरिणाम को ही धर्म कहा है। जितनी पर-जीव की दया, दान, पूजा, व्रत, भक्ति की शुभ अथवा हिंसादि की अशुभ वृत्तियां उठती हैं वह सब अधर्मभाव है। देहादि की क्रिया तो आत्मा कर ही नहीं सकता, किन्तु शुभपरिणाम करे वह भी धर्म नहीं है। धर्म तो शुद्धचेतनामय है, इससे पुण्य-पाप के भाव होते हैं वह मेरा कर्तव्य नहीं है, किन्तु उन विकार भावों का भी मैं ज्ञाता ही हूँ, ज्ञाता-दृष्टापना ही मेरा स्वरूप है-ऐसी प्रतीति-पूर्वक ज्ञान-दर्शनमय चेतना की जो शुद्धपर्याय है वही 'धर्म' है। धर्म द्रव्य अथवा गुण नहीं किन्तु शुद्धपर्याय है। धर्म के चार प्रकार के कथन में शुद्धपर्याय का वास्तव में एक ही प्रकार है। जितने अंश में चेतना निर्विकाररूप से परिणमित हो उतने अंश में धर्म है और जितने अंश में पुण्य-पाप के विकाररूप परिणमित हो उतना ही अधर्म है। जो शरीर की क्रिया में धर्म माने वह तो बिल्कुल बहिर्दृष्टि है-मिथ्यादृष्टि है। यहाँपर तो पुण्य में धर्म

माने वह भी मिथ्यादृष्टि है। पुण्य और देह की क्रिया मेरा स्वरूप नहीं है, ज्ञाता-दृष्टापन ही मेरा वास्तविक स्वरूप है—ऐसा जानने वाले ज्ञानी के भी निम्नदशा में पुण्य-पाप के परिणाम होते अवश्य हैं, किन्तु वे ऐसा जानते हैं कि पुण्य-पाप के विकार से रहित शुद्धचेतना परिणति में जितनी स्थिरता करूं उतना ही धर्म है, और चेतना की उन्मुखता जितनी बहिर्मुख हो—वह सब अधर्म भाव है। जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई वही धर्म है। वास्तव में तो धर्म पर्याय है, किन्तु शुद्धपर्याय का द्रव्य के साथ अभेदत्व होने से अभेदरूप से वस्तु के स्वभाव को ही धर्म कहा है। प्रथम पुण्य-पापरहित स्वभाव की प्रतीति होनेपर जब सम्यग्दर्शन धर्म प्रगट होता है तब चेतना के परिणाम अंशत: शुद्ध और अंशतः अशुद्ध होते हैं। ज्ञानी शुद्धपरिणाम में ही धर्म समझते हैं, इससे वे अशुद्ध परिणाम का स्वभाव में स्वीकार नहीं करते; इसीसे पुण्य-पापरहित स्वभाव की स्थिरता द्वारा क्रमशः चारित्र की पूर्णता करते हैं। जब पूर्ण शुद्ध चेतनापरिणाम प्रगट होते हैं उस समय केवलज्ञान प्रगट होता है और पुण्य-पाप का अभाव होता है।

"शुद्धचेतनारूप धर्म" कहने से ही यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान-दर्शन के अतिरिक्त आत्मा अन्य कुछ नहीं कर सकता। ज्ञान-दर्शन के अतिरिक्त दूसरा जो कुछ कर्तृत्व मानता है वह अधर्मभाव है।

मात्र ज्ञान-दर्शनमय स्वभाव को माना उसमें पर का करने की बात ही कहाँ आई? अरे, ज्ञान में शुभविकल्प भी कहाँ आया? चेतना का स्वभाव ही विकल्परहित ज्ञाता-दृष्टा है, और वह विकाररहित चेतना ही धर्म है।

(२) उत्तमक्षमादि दसप्रकार के धर्म:—आत्मा क्रोधादि कषायरूप परिणमित न हो और अपने स्वभाव में स्थिर रहे, वही उत्तमक्षमादिरूप धर्म है; इसप्रकार उत्तमक्षमादिरूप धर्म कहने से भी शुद्धचेतना के परिणामरूप धर्म ही सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें चेतना के परिणामों

को पुण्य-पाग से छुड़ाकर ज्ञानस्वभाव में ही स्थिर करना कहा है। मैं ज्ञानस्वरूप ज्ञाता हूँ, मेरे ज्ञान में कोई परद्रव्य इष्ट-अनिष्ट नहीं है, मेरे ज्ञान के लिये कोई शत्रु अथवा मित्र नहीं है, दुर्जन या सज्जन नहीं है- ऐसे भानपूर्वक स्वरूप की स्थिरता हो वहीं उत्तमक्षमा होसकती है। 'अपने को सहन करना सीखना चाहिये' इसप्रकार परद्रव्यों को सहन करना माने और स्वभाव के भान बिना क्षमा रखे-वह उत्तमक्षमा नहीं है। मेरा स्वभाव जानने का है, मेरा ज्ञान सर्व पदार्थों को समरूप से जाननेवाला है, जानने में ऐसी वृत्ति करना कि 'यह अच्छा है और यह बुरा है'-वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है। ऐसे भानपूर्वक मान, अपमान की वृत्ति को तोड़कर स्वरूप में स्थिर होना ही शुद्धचेतनारूप धर्म है। यहाँपर मुख्यतः मुनि के लक्ष्य से बात की है, तथापि सम्यग्दृष्टि के भी अंशतः शुद्ध-चेतना होती है, प्रतीतरूप से उनके समस्त द्रव्यों के प्रति क्षमा प्रवर्तमान है। परलक्ष्य से क्रोध या क्षमा की अल्पवृत्ति होजाये उसे ज्ञानी अपने स्वभाव में स्वीकार नहीं करते, इससे उनके निरंतर अंशतः उत्तमक्षमारूप धर्म प्रवर्तमान रहता है। आत्मस्वभाव के भान बिना द्रव्यलिंगी जैन निर्ग्रंथ मुनि हो और उसके शरीर को जीवित जला डाले तब भी क्रोध की वृत्ति न करे-तथापि उसके उत्तमक्षमा नहीं है, क्योंकि क्षमा की शुभवृत्ति को वह अपना स्वरूप मानता है, किन्तु उसे शुद्धचेतना परिणामों की खबर नहीं है। शुभ-परिणामों से भी शुद्धचेतना भिन्न है-ऐसे भान बिना धर्म नहीं होसकता। ज्ञानस्वरूप में किसी भी राग का अंश नहीं है, अशुभ या शुभ दोनोंप्रकार के रागरहित शुद्धचेतना ही धर्म है।

शुभभाव विकार हैं उन्हें जो धर्म में सहायक माने उसके मिथ्यात्व का महापाप है, पुण्यभाव में भी लोभकषाय की मुख्यता है, वह पुण्यभाव अशुद्ध चेतना है, शुद्ध चेतनारूप धर्म तो एक ही प्रकार का है उसमें शुभाशुभ विकल्पों को भी अवकाश नहीं है।

इसप्रकार रूप वस्तुस्व धर्म और उत्तमक्षमादिरूप धर्म–इन दोनें में शुद्धचेतना के परिणामरूप एक ही प्रकार सिद्ध हुआ।

(३) दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म:—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र–इन तीनें में मात्र शुद्धचेतना के ही परिणाम हैं, इससे दर्शन-ज्ञान-चारित्र में भी शुद्धचेतनारूप धर्म ही सिद्ध होता है। शुद्धज्ञान–चेतना में पुण्य-पाप नहीं हैं, शरीरादि की क्रिया नहीं है, मात्र शुद्धस्वभाव है, वही धर्म है। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म कहने से भी शुद्ध चैतन्यत्व सिद्ध हुआ।

(५) जीवदयारूप धर्म:—'जीवदया' के नाम से लोग शुभराग में धर्म मान रहे हैं, किन्तु जीवदया के यथार्थस्वरूप के नहीं समझते। क्रोधादि कषायें के वश होकर अपनी, वैसे ही परजीव की हिंसा का भाव न करना सो जीवदया है। सबसे महान क्रोध मिथ्यात्व है और वही वास्तविक जीवहिंसा है। मिथ्यात्व का त्याग किये बिना कभी भी जीवहिंसा नहीं रुक सकती। स्व-जीव की हिंसा न करना ही मुख्य जीवदया है, और जब स्वतः क्रोधादि द्वारा स्व-जीव की हिंसा नहीं की तब क्रोध का अभाव होने के कारण परजीव के मारने का भाव भी न आया, इससे परजीव की दया भी आगई। किन्तु स्वजीव की दया कब होसकती है? जो जीव पुण्य से धर्म मानता है वह विकारभाव के द्वारा स्वभाव की हिंसा करता है; मेरा शुद्धस्वरूप पुण्य-पाप रहित है–ऐसी पहिचान करने के पश्चात् दया की शुभवृत्ति के भी छोड़कर स्वरूप में स्थिर होगया और शुद्ध ज्ञान-चेतना के अनुभव में लीन हुआ सो ही जीवदया धर्म है। इसलिये इसमें भी जो चेतना के शुद्ध परिणाम हैं वही धर्म है–ऐसा आया है। परजीव के वास्तव में न तो मार सकता है न जीवित कर सकता है, मात्र भाव करता है। किसी जीव के दुःख न देना, उसमें स्वतः भी सम्मिलित है; अब, स्वतः के भी दुःखी न करना सो यथार्थ दया है। अशुभ परिणामों के

समय स्वयं तीव्र दुःखी होता है और दयादि के शुभपरिणामों के समय भी जीव को आकुलता का ही वेदन होने से वह दुःखी है, इससे अशुभ और शुभ–दोनों भावों से जीव को बचाना अर्थात् मात्र शुभाशुभरहित ज्ञानस्वभावरूप दशा करना, उतनी ही जीवदया है। जो जीव शुद्धज्ञान-चेतना द्वारा स्वरूप में एकाग्र हुआ, उसजीव के अशुभभाव होते ही नहीं, इसलिये वहाँ स्वयं ही परजीव की दया का पालन होता है।

यदि परजीव की दया पालन करने के शुभराग में धर्म हो तो सिद्धदशा में भी परजीव की दया का राग होना चाहिये ? किन्तु शुभराग धर्म नहीं है; वह अधर्म है, हिंसा है।

प्रथम सम्यग्दर्शन द्वारा स्वभाव को पहिचानने पर श्रद्धा की अपेक्षा से अहिंसकत्व प्रगट होता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य-पाप के जो भाव होते हैं उन्हें, अपने स्वभाव का नहीं मानते; इसप्रकार मान्यता में अपने स्वभाव को पुण्य-पाप से बचाकर रखते हैं–इससे उनके सच्ची जीवदया है। अज्ञानी जीव अपने को क्षणिक पुण्य-पाप जितना ही मानकर त्रिकाल विकाररहित स्वभाव का नाश करता है, वही हिंसा है।

पुनश्च "जीवदया"–ऐसा कहा जाता है। कहीं 'शरीरदया' नहीं कहा जाता; क्योंकि जो शरीर है वह जीव नहीं है। लोग शरीर की क्रिया से माप करते हैं वह ठीक नहीं है। जीव तो शरीर से भिन्न निरंतर चैतन्यस्वरूप है, उसे श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता में ही स्थिर रखना और विकार में न जाने देना सो जीवरक्षा है।

'परजीव की रक्षा करूं'–ऐसी दया की जो वृत्ति है सो भी परमार्थ से जीवहिंसा ही है–ऐसा प्रथम श्रद्धा में स्वीकार करना चाहिये और ऐसी मान्यता होने के पश्चात् भी अस्थिरता के कारण शुभविकल्प आयें किन्तु वह धर्म नहीं है।

मिथ्यादृष्टि जीव जीवरक्षा के शुभभाव करता हो तब वह ऐसा मानता है कि मैं परजीव को बचा सकता हूँ, तथा इस शुभभाव से मुझे धर्म होगा। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीव यदि युद्धादि कर रहा हो और उसके अशुभपरिणाम हों किन्तु अंतरंग में भान होता है कि यह युद्ध की-देह की क्रिया मेरी नहीं है, अशुभभाव मेरे पुरुषार्थ के दोष से होते हैं उतनी हिंसा है, किन्तु वास्तव में वह मेरा यथार्थस्वरूप नहीं है। उससमय इन दोनों जीवों में से मिथ्यादृष्टि जीव के अनन्तहिंसा प्रवर्तमान है और सम्यग्दृष्टि जीव के अल्पहिंसा है। अरे! श्रद्धा की अपेक्षा से तो युद्ध के समय भी वह अहिंसक है क्योंकि उसके अंशतः शुद्ध चेतनापरिणाम प्रवर्तमान हैं। जितने अंश में शुद्ध चेतनापरिणाम प्रवर्तमान हो उतने अंश में युद्ध के समय भी जीवदया वर्त रही है। और मिथ्यादृष्टि जीव के किंचित् भी शुद्ध चेतनापरिणाम नहीं हैं इससे उसे जीवरक्षा के भाव के समय भी जीवहिंसा ही है, यह माप तो अंतरंग शुद्ध चेतना परिणामों से है; शरीर की क्रिया तो दूर रही, किन्तु पुण्य-पाप के भावों पर से भी जीवदयारूपी धर्म का यथार्थ माप नहीं होता।

परमार्थ धर्म अर्थात् निश्चय धर्म—सच्चा धर्म, तो एक ही प्रकार का है; फिर उसे जीवदया कहो अथवा वस्तुस्वभाव कहो; उसमें मात्र शुद्धचेतनापरिणाम ही धर्म है। 'शुद्ध चेतना को धर्म कहते हैं और कभी-कभी शुभ को भी धर्म कहते हैं'—ऐसा स्वरूप निश्चय धर्म का नहीं है। निश्चय धर्म तो एक ही प्रकार से है।

'मैं आत्मा कौन हूँ' उसके भान बिना शुद्धचेतना कहाँ से लायेगा? बाह्य में जीव मरें या जियें, उनकी संख्यापर से हिंसा अथवा दया का वास्तविक माप नहीं होता। सम्यग्दर्शन होनेपर अहिंसा का प्रारम्भ होता है, तथापि सम्यग्दृष्टि के भी अस्थिरता के

कारण जितनी वृत्ति उठे उतनी चारित्र की हिंसा है; किन्तु जो आत्मभान प्रवर्तमान है उतनी जीवदया है। इसप्रकार साधक के अंशतः अहिंसा और अंशतः हिंसा-दोनों साथ में ही होती हैं। अज्ञानियों के एकांत जीवहिंसा ही है; वीतरागी ज्ञानी के संपूर्ण अहिंसा है। वस्तुस्वभावरूप जैनशासन में त्रिकाल, धर्म का ऐसा ही स्वरूप है।

अपने भावों में अनन्त परद्रव्यों का स्वामित्व-अभिमान न होने देना और अपने ज्ञानमात्र स्वरूप को पुण्य-पाप से भिन्नरूप श्रद्धा में स्थिर रखना-ऐसी यथार्थ जीवदया है, उसका जगत को माहात्म्य नहीं है और शुभ का महात्म्य होता है। जिसने पुण्य के विकल्प से अपने को लाभ माना है उसने पुण्य को अपना स्वरूप ही माना है; क्योंकि जिसे अपना स्वरूप मानेगा उसीसे अपने को लाभ मानता है; और जिस जीव ने पुण्य को अपना स्वरूप माना-उसने जगत के समस्त आत्माओं के स्वभाव को भी पुण्यरूप माना। इसप्रकार जगत के समस्त आत्माओं को विकारी माना है-इससे उसने अपनी मान्यता में विश्व के सर्व जीवों की हिंसा की है, यह महान जीवहिंसा का पाप जगत को ज्ञात नहीं होता।

हिंसादि के अशुभभाव करने की बात ही नहीं होती, अशुभभावों में तो तीव्र आकुलता है। किन्तु जो शुभभाव होते हैं उनमें भी आकुलता ही है। उन दोनों आकुलताओं में हिंसा है; उससे रहित निराकुलता और ज्ञान-चेतना का जितना अनुभव है उतनी ही जीवरक्षा है। अपने शुद्ध जीवपरिणाम की रक्षा करना, उसका हनन न होने देना सो ही शुद्ध चेतनापरिणामरूप धर्म है। शुद्ध चेतनापरिणाम के बिना दया अथवा दर्शन-ज्ञान-चारित्र एवं क्षमा इत्यादि कोई धर्म सच्चा होता ही नहीं।

'परजीव को बचाने का भाव करना अपना कर्तव्य है'-यह मान्यता मिथ्या है। परजीव के बचाने का भाव तो विकार है,

क्या विकार करना आत्मा का कर्तव्य है? ज्ञानी तो जानते हैं कि मात्र ज्ञातारूप से स्वभाव में स्थिर रहना हमारा कर्तव्य है, जितना मैं अपने ज्ञातास्वभावरूप से स्थिर रहूँ उतना धर्म है, और ज्ञातापने के अतिरिक्त अन्य जिस वृत्ति का उत्थान होता है वह मेरा कर्तव्य नहीं है; इसप्रकार ज्ञानी जीव ज्ञाता-द्रष्टारूप से अपने चैतन्यपरिणाम को स्थिर रखता है, वही धर्म है।

वस्तु का स्वभाव सो धर्म, उत्तमक्षमादि दसप्रकार धर्म, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म, और जीवरक्षा धर्म—इन चार प्रकारों की प्ररूपणा में शुद्ध चेतनापरिणाममय एक ही प्रकार का धर्म है-ऐसा बताया है। निश्चय धर्म एक ही प्रकार का है।

आत्मधर्म ज्येष्ठ २४७५
वर्ष पांचवां, अङ्क २

धर्मात्मा का समभाव

[परमात्म-प्रकाश गाथा १०४ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

[अंक ४८ से आगे]

आत्मा अनादि-अनन्त ज्ञानमूर्ति है, वही मैं हूँ, वर्तमान अवस्था में जो राग द्वेष होते हैं वह मेरा स्थायी स्वरूप नहीं है, अन्य कोई वह राग-द्वेष नहीं कराता, मेरे पुरुषार्थ की अशक्ति से ही वह राग-द्वेष होता है किन्तु उस राग-द्वेष का स्वीकार मेरे स्वभाव में नहीं है। इसप्रकार अपने स्वभाव के आश्रय से धर्मी जीव किसी को भी अपना शत्रु या मित्र नहीं मानते, किन्तु स्वभावदृष्टि से सभी आत्माओं को अपने ही समान परिपूर्ण चैतन्यमूर्ति मानते हैं, इससे उन्हें सबके प्रति समभाव ही है।

ज्ञानी के जो अल्प राग-द्वेष होता है उसमें एकत्वबुद्धि नहीं होती इसलिये उसकी कोई गिनती नहीं है। पर के कारण राग नहीं मानते, स्वभाव में से राग नहीं आता, और जो राग होता है उसमें एकता नहीं मानते किन्तु अपने स्वभाव को उससे भिन्न ही अनुभव करते हैं, इससे ज्ञानी के वास्तव में राग होता ही नहीं, किन्तु स्वभाव की एकता ही बढ़ती है।

सभी जीव परिपूर्ण सिद्ध समान हैं, ऐसी दृष्टि से देखनेवाले को दूसरों का भला-बुरा करने की मान्यता कहाँ रही? उसे किसी के ऊपर राग-द्वेष करने का अभिप्राय नहीं रहा, अर्थात् उसके अभिप्राय में अनन्त समभाव प्रगट हुआ। कोई किसी का भला या बुरा करने के लिये त्रिकाल में भी समर्थ नहीं है, स्वभाव से सभी आत्मा समान हैं—ऐसी श्रद्धा जबतक जीव नहीं करता तबतक उसके यथार्थ समता नहीं होती-अर्थात् धर्म नहीं होता। कोई शरीर के टुकड़े करदे तथापि, 'भगवान की इच्छानुसार होता है'-ऐसा मानकर शुभभाव रखे, क्रोध न करे तो भी उसके वास्तविक समभाव नहीं है,

क्षमा नहीं है। भगवान मुझे समभाव रखायें–ऐसा जो मानता है उसे आत्मा की प्रतीति नहीं है। अथवा कोई जीव भगवान को कर्ता न माने किन्तु, मुझे संयोग से लाभ-हानि होती है,–ऐसा माने तो उसके भी समभाव नहीं होता। मेरा स्वभाव ही राग द्वेषरहित साक्षीस्वरूप है, ऐसे स्वभाव की प्रतीति के बिना सच्ची समता नहीं होती।

ज्ञानी धर्मात्मा किसी को शत्रु या मित्र नहीं मानते। और वास्तव में आत्मा का जीवन-मरण भी नहीं मानते। देह ही मेरी नहीं है, देह का संयोग-वियोग सो मैं नहीं हूँ, देह की अवस्था उसके अपने कारण से होती है, देह की अवस्था को स्थिर रखने या हटाने के लिये कोई समर्थ नहीं है, त्रिकाली ज्ञानानंदमूर्ति ही मेरा स्वरूप है–ऐसी बुद्धि में ज्ञानी को शरीर का जीवन-मरण देखकर राग-द्वेष नहीं होता, इससे उन्हें जीवन-मरण पर समभाव है।

आत्मा को धर्म किसप्रकार होता है–उसकी यह बात चल रही है। आत्मा का धर्म कहीं बाह्य में नहीं होता, स्वतः जैसा अन्तर में है वैसा ही माने तो धर्म हो। कोई आत्मा कभी दूसरे को जिला नहीं सकता और न मार ही सकता है। शरीर का संयोग-वियोग होता है किन्तु उससे आत्मा का जीवन-मरण नहीं है, और उसके कारण राग या द्वेष भी नहीं होते। धर्मात्मा जीव को अपने में त्रैकालिक स्वभाव की दृष्टि है, इससे उनको जीवन-मरण से रहित ही देखते हैं, इसलिये पर्याय में जीवन-मरण देखकर उन्हें राग-द्वेष नहीं होता। अज्ञानी जीव पर के जीवन-मरण को देखकर उसके कारण से राग-द्वेष मानते हैं, उनका राग-द्वेष पर में एकत्वबुद्धि सहित है, ज्ञानी के वैसे राग-द्वेष का अभाव है।

प्रश्नः—भगवान की इच्छानुसार होता है–ऐसा मानकर कोई जीव क्रोध न करे तो उसके समभाव है या नहीं? क्योंकि उसमें तो अपनी निरभिमानता आती है?

उत्तरः—भगवान की इच्छानुसार होता है–अर्थात् भगवान मेरे परिणामों के कर्ता हैं, यह मान्यता महान अज्ञानमय है, उसमें अंशमात्र भी समभाव या निरभिमानता नहीं है। स्वतः स्वतंत्र तत्व है, उसे नहीं माना। भगवान मेरे

कर्ता और मैं पर का कर्ता, इस मान्यता में अनन्त परद्रव्य का अहंकार विद्यमान है। धर्मी जीव समझते हैं कि मैं अपना परिणाम जैसा करूँ वैसा होता है। मेरे परिणाम का कोई कर्ता नहीं है और मैं किसी अन्य का कर्ता नहीं हूँ, इससे ज्ञानियों के ही सच्ची निरभिमानता होती है। मैं दूसरे को हानि-लाभ करूँ या दूसरा कोई मुझे लाभ-हानि करे, ऐसा ज्ञानी नहीं मानते। धर्मी के अन्तरस्वभाव का दृष्टि है, अपनी पर्याय की भी दृष्टि नहीं है; जितनी स्वभाव में एकाग्रता हो उतना ही धर्मी को लाभ है, पैसा या राजपाट से धर्मात्मा लाभ नहीं मानते। क्षायिक सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, राजा हो, चक्रवर्ती हो और छहखण्ड की साधना करे, किन्तु उससे आत्मा को लाभ नहीं मानता। पर से लाभ है—ऐसी मान्यतापूर्वक ज्ञानी को किंचित् राग नहीं होता और पर से हानि है—ऐसी मान्यतापूर्वक किंचित् द्वेष नहीं होता, इससे लाभ या हानि में ज्ञानी के परमार्थ से समभाव है।

यह समभाव किसप्रकार कहा जाता है वह समझने योग्य है। यहाँ स्वभावदृष्टि सिद्ध की है। स्वभावदृष्टि का कार्य सबीपर समभाव है। पर की क्रिया मेरी नहीं है, दूसरे को मुझसे लाभ-हानि नहीं है, मेरी अवस्था में जो राग होता है वह समयपर्यंत का है, त्रैकालिक स्वभाव में वह राग नहीं है। मैं ज्ञानस्वभाव से एकरूप हूँ— इसप्रकार स्वभावदृष्टि के बल में स्वभाव की एकता बढ़ती जाती है, इसलिये ज्ञानी के सभी पर समभाव है।

शरीरादि तो अजीव तत्व है; दया, भक्ति इत्यादि जो परिणाम होते हैं वे पुण्य हैं, और हिंसा, चोरी आदि के जो परिणाम होते हैं वे पाप हैं; यह पुण्य और पाप दोनों आस्रव तत्व हैं, उनसे जीवतत्त्व भिन्न है; और जानने की जो दशा है वह एकसमयपर्यंत की है, उस एकसमय की दशा जितना ही जीवतत्व नहीं है। त्रिकाल एकरूप रहनेवाला चैतन्यस्वभावरूप जो द्रव्य है वह जीवतत्व है; ऐसे जीवतत्व को पहिचानने से धर्म होता है। त्रैकालिक जीवतत्व की दृष्टि होने से ज्ञानी के पर्यायदृष्टि नहीं है, अर्थात् ज्ञानी पर्याय जितना ही जीव को नहीं

मानते, इससे उनके पर्यायबुद्धि का राग द्वेष होता ही नहीं। पर्याय को जानने पर भी द्रव्यस्वभाव में एकता की वृद्धि ही करते हैं, पर्यायबुद्धि में नहीं अटकते इसलिये उनको किसी पर्याय पर विषमभाव नहीं, किन्तु सभीपर समभाव है। सिद्धपर्याय अथवा निगोद पर्याय—सभी को जानने से समभाव कब रहता है? जिसकी बुद्धि पर्याय में ही रुकी हुई है उसे, सिद्धपर्याय को देखकर राग और निगोदपर्याय को देखकर द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा, अर्थात् पर्याय के आश्रय से समभाव नहीं रह सकता। स्वभावदृष्टिवाला जीव सिद्धपर्याय के समय भी पूर्णस्वभाव को देखता है और निगोदपर्याय के समय भी पूर्ण स्वभाव को ही देखता है, इससे सभी पर्यायों पर उसे समभाव रहता है। कदाचित् अल्प राग-द्वेष हो तो उससमय भी अपने स्वभाव की एकता नहीं छूटती, इससे वास्तव में उसके राग-द्वेष नहीं हुआ किन्तु स्वभाव की एकता ही हुई है। स्वभावबुद्धि का स्वीकार और पर्याय-बुद्धि का निषेध ही समभाव है।

आत्मा वर्तमान भाव जितना नहीं है किन्तु त्रिकाल अखण्ड ज्ञान-मूर्ति है—ऐसी श्रद्धा सो द्रव्य-बुद्धि का स्वीकार और पर्यायबुद्धि का अस्वीकार है। त्रैकालिक स्वभाव की बुद्धि से आत्मा को माननेवाला सम्यग्दृष्टि है और पर्याय-बुद्धि से आत्मा को माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि को गृहस्थाश्रम में राजपाट और हजारों स्त्रियों का संयोग भी हो और उस सम्बन्धी राग हो, तथापि उस समय अखण्डस्वभाव की दृष्टि नहीं हटती, किन्तु स्वभाव की अधिकता ही है, इससे उनके सम-भाव ही वर्त रहा है।

यहाँ पर राग-द्वेष दूर होकर जो वीतराग दशा होती है उसकी बात नहीं है, किन्तु धर्मात्मा के रागद्वेष होने पर भी सम्यक्‌श्रद्धा-रूप समभाव कैसा होता है—उसकी बात है। मुनिओं के विशेष सम-भाव होता है, इससे उनके परम सामायिक कही जाती है। गृहस्थ के भी सम्यक्‌श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक जितना समभाव है उतनी तो सामायिक है। ज्ञानसामायिक, दर्शनसामायिक, देशविरतसामायिक और सर्वविरत-सामायिक—ऐसी चार प्रकार की सामायिक है। अपने पूर्ण ज्ञान-स्वभाव का आदर होना, और

विकार का आदर न होना सो ज्ञान-दर्शनरूप सामायिक है। पहले मिथ्यात्व के कारण ऐसा मानता था कि 'पुण्य अच्छा और पाप बुरा, अमुक मुझे लाभ करता है और अमुक हानि करता है'—इसमें श्रद्धा और ज्ञान में विषमभाव था। अब, कोई भी पर मुझे लाभ-हानि करनेवाला नहीं है, तथा पुण्य-पाप दोनों मेरा स्वरूप नहीं हैं—इसप्रकार स्वभाव के आश्रय से सम्यक्श्रद्धा होनेपर ज्ञान-दर्शन में समभाव प्रगट हुआ। दया-भाव हो अथवा हिंसाभाव हो—वह मेरा स्वरूप नहीं है, जो त्रिकाल चैतन्यभाव है सो मैं हूँ—ऐसी स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान करना सो श्रद्धा-ज्ञानरूप सामायिक है। आरम्भ परिग्रह में रहनेवाले सम्यग्दृष्टि के भी वह सामायिक होती है। वह सामायिक दो घड़ी की ही नहीं होती, किन्तु सदैव प्रवर्तमान रहती है। उसके पश्चात् स्वभाव की लीनतारूप भाव प्रगट हो और रागादि नष्ट हो तब देशविरतरूप सामायिक होती है, और अधिकांश स्वभाव-स्थिरता प्रगट होने से सर्वसंग परित्यागी मुनिदशा प्रगट होती है, वह सर्वविरतिरूप सामायिक है। "करेमि भंते सामायियं"—ऐसी भाषा में सामायिक नहीं है, वह वाणी तो जड़ है। मैं उस वाणी को बोलता हूँ—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। और सामायिक की ओर का विकल्प भी राग है, उस राग को धर्म माने तो मिथ्यात्व है। वाणी और विकल्प रहित ज्ञानस्वभाव है सो मैं हूँ—ऐसी श्रद्धा-ज्ञान सो दर्शन-ज्ञानरूप सामायिक है; जिनके ऐसी सामायिक होती है वे जीव सभी जीवों को समान जानते हैं; जगत में कोई शत्रु या मित्र नहीं है, एकेन्द्रिय-पन्चेन्द्रियादि आत्मा नहीं किन्तु सभी जीव ज्ञान-दर्शन की मूर्ति हैं—ऐसा देखने वाले को किसके कारण राग होगा ? और किसके कारण द्वेष होगा ? पर के देखने के कारण जो राग द्वेष मानता था वह राग-द्वेष दूर होगया और सभी के ऊपर समभाव हो-गया। यह धर्म है और यही मुक्ति का उपाय है।

ज्ञानी और अज्ञानी की देखने की रीति भिन्न है। ज्ञानी पर्याय-दृष्टि से नहीं देखते, किन्तु स्थायी स्वभाव की दृष्टि से देखते हैं, इससे

पर्यायबुद्धि का फलरूप राग-द्वेष उनके होता ही नहीं। अज्ञानी जीव स्थायी स्वभाव को नहीं जानते किन्तु पर्याय को ही देखते हैं, इससे पर्यायबुद्धि से उनके राग-द्वेष होता ही है। ज्ञानी जीव स्वभावदृष्टि से सभी जीवों को समान जानते हैं किन्तु इसमें जगत के जीवों की पर्याय में जो अन्तर है वह कहीं दूर नहीं हो जाता। पर्याय से तो जो सिद्ध सो सिद्ध हैं और जो निगोद सो निगोद है। सिद्ध को सिद्धरूप से और निगोद को निगोदरूप से जानना वह कहीं विषमभाव का कारण नहीं है; किन्तु सिद्ध को सिद्ध पर्याय जितना ही मानकर उनके ऊपर राग और निगोद को निगोद पर्याय जितना ही मानकर उनपर द्वेष करना—ऐसी पर्यायबुद्धि ही विषमभाव का कारण है। ज्ञानी जब पर को जानता है उस समय भी स्वभाव की एकता दूर नहीं होती, इससे उसके समभाव है। केवली भगवान समस्त जीवों को और सभी पर्यायों को जानते हैं, तथापि उनके स्वभाव की सम्पूर्ण एकता होने से समभाव ही है। पर्याय को जानते पर भी उसमें एकत्व-बुद्धि नहीं होती इससे वास्तव में केवली भगवान सभी जीवों को शुद्ध स्वभावरूप ही जानते हैं—ऐसा कहा जाता है। केवली भगवान की भाँति साधक सम्यग्दृष्टि जीव भी अपनी स्वभावसत्ता को शुद्ध जानते हुए अन्य सभी को शुद्ध ही देखते हैं। मैं रागादि स्वरूप नहीं हूँ, और दूसरे जीव भी रागादि स्वरूप नहीं हैं, सभी जीव शुद्ध चैतन्य-सत्तास्वरूप हैं। ऐसी दृष्टि में धर्मी जीव दूसरों की पर्याय को देखने पर उस पर्याय जितना ही जीव को नहीं मानते, क्योंकि धर्मात्मा के पर्यायदृष्टि से देखना नहीं है। स्वभावदृष्टि ही धर्म है। धर्मी जीव स्वभावदृष्टि रखकर पर्याय को जानते हैं, वहाँ उनको स्वभावदृष्टि के फल की ही वृद्धि है, पर्यायदृष्टि का फल (अर्थात् विषमभाव) उनके नहीं है।

ज्ञानी के अभिप्राय में कोई जीव शत्रु या मित्र नहीं है, इससे किसी पर के कारण उन्हें राग-द्वेष नहीं होता। चारित्र के दोष का जो अल्प राग-द्वेष होता है उससे स्वभाव अधिक है। स्वभाव की अधिकता रखकर ज्ञानी देखते हैं कि सभी आत्मा शुद्ध परमेश्वर हैं।

प्रश्नः—सम्यग्दृष्टि जीव, क्या स्त्री और माता को भी समान मानते हैं?

उत्तरः—यहाँ स्वभावदृष्टि की बात है, और स्वभावदृष्टि में सभी जीव समान हैं। स्त्री का जीव स्त्री-पर्याय जितना ही नहीं है, किन्तु पूर्ण चैतन्य भगवान है और माता का जीव भी वर्तमान पर्याय जितना नहीं किन्तु पूर्ण चैतन्य भगवान है। एकरूप स्वभावदृष्टि में कोई माता या स्त्री है ही नहीं। सिद्ध या निगोद, एकावतारी या अनन्त-संसारी, स्त्री अथवा माता—यह समस्त जीव परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप समान हैं। ऐसी स्वभावदृष्टि में अनन्त वीतराग भाव आजाता है।

प्रश्नः—यदि सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री को भी परमेश्वर मानता हो तो राग छोड़कर एक ओर क्यों नहीं बैठ जाता?

उत्तरः—स्वभावदृष्टि से तो सम्यग्दृष्टि एक ओर ही बैठा है। एक ओर बैठने की व्याख्या क्या है? परद्रव्य में तो कोई आत्मा बैठता नहीं है। अज्ञानी जीव विकार में ही अपनापन मानकर उसमें स्थित हुआ है तथा ज्ञानी धर्मात्मा जीव संयोगों से और विकार से अपने स्वभाव को भिन्न जानकर स्वभाव की एकता में स्थित है। ज्ञानी के स्त्री आदि सम्बन्धी जो राग हो उस राग से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव करते हैं, राग का आदर नहीं करते इससे वास्तव में ज्ञानी जीव अपने स्वभाव में ही बैठे हैं।

कौन सा जीव बाह्य की क्रिया करता है? शरीर को चलाने की या स्थिर रखने की क्रिया तो कोई भी आत्मा तीनलोक और तीनकाल में नहीं कर सकता, अज्ञानी जीव मात्र उसका अहंकार करता है कि 'मैं करता हूँ' तो भी वह जीव पर में कुछ भी नहीं कर सकता, वह अपने अहंकार भाव में बैठा है, वही अधर्म है। ज्ञानी शरीर की किसी अवस्था को अपनी नहीं मानता, इससे वह पर में से और विकार में से उठकर अपने स्वभाव की रुचि में ही स्थित है—यही धर्म है।

परमाणु इस जगत की स्वतंत्र वस्तु है, परमाणुओं के संयोग से शरीरादि बनते हैं, उनकी जो वर्तमान अवस्था हो वह जड़ की स्वतंत्र क्रिया है, आत्मा उसका कर्ता

नहीं है। अज्ञानी जीव अपने स्वतंत्र ज्ञातास्वभाव को भूला है इसलिये पर को भी परतंत्र मानता है। अपने त्रैकालिकस्वभाव को न जानने से अपने को क्षणिक विकार जितना मानता है, इससे पर की पर्याय को जानने से उन पदार्थों को भी वह क्षणिक पर्याय जितना ही मानता है, और उनकी पर्याय में इष्ट-अनिष्ट के भेद करके एकत्वबुद्धि का राग-द्वेष करता है, यह महा अधर्म है। पर से और विकार से मुक्त-ऐसा अपना ज्ञानमात्र स्वभाव है, उसकी श्रद्धा, पहिचान करके उसमें अभेद होना, उसका नाम अकेला बैठा कहलाता है। नग्न होकर जंगल में जाकर बैठे और ऐसा माने कि शरीर की क्रिया मैं करता हूँ, और इससे मुझे धर्म होता है, तो वह जीव अकेला नहीं है किन्तु शरीर के अहंकार को साथ में रखकर बैठा है, उसके अभिप्राय में वह अनन्त पदार्थों के संग का सेवन कर रहा है।

अन्धश्रद्धा से कुछ भी मान लेना सो धर्म का मार्ग नहीं है। स्वतः युक्तिद्वारा समझकर अपने आत्मा को जँचे तब मानना चाहिये। जबतक समझ में न आये तबतक बारंबार सत्समागम से परिचय करके निर्णय करना चाहिये। स्वतः निर्णय किये बिना मात्र निमित्त के लक्ष्य से स्वीकार कर लेने से धर्म नहीं होता।

अज्ञानी जीव ऐसा कहते हैं कि–'निश्चय से तो जीव पर का न करे, किन्तु व्यवहार से पर का कर सकता है–ऐसा अनेकान्तवाद जैनमत में है'–उसकी बात मिथ्या है। उसे निश्चय और व्यवहार का ज्ञान ही नहीं है। निश्चयनय से या व्यवहारनय से आत्मा पर का कुछ कर ही नहीं सकता। पर की क्रिया स्वतंत्ररूप होती है, उसका ज्ञान करना और उससमय के निमित्त का ज्ञान कराने के लिए 'इसने यह किया'–ऐसा मात्र उपचार से कहना सो व्यवहार है। किन्तु जीव व्यवहार से पर का कर सकता है–ऐसा मानना तो व्यवहारनय नहीं है–किन्तु मिथ्यात्व है।

पुनश्च, "मनुष्य जीवित हो उस समय खाने-पीने, बोलने आदि की क्रिया होती है और मुर्दा खाता-पीता या बोलता नहीं है, इसलिये जीव ही वह क्रियायें करता है"–

ऐसा अज्ञानी कहते हैं, वह मान्यता भी बिल्कुल मिथ्या है; खाना-पीना-बोलना यह सभी जड़द्रव्य की स्वतंत्र क्रियाएँ हैं। प्रथम यह निश्चित् करो कि 'खाने' का अर्थ क्या है? वह कोई द्रव्य है? गुण है? या पर्याय है? खाना जड़-परमाणुओं की पर्याय है। अमुक वस्तु बाहर थी वह क्षेत्रांतर होकर पेट में पहुँची उसे लोग 'खाया' कहते हैं। यह तो जड़ की क्रिया है, जीव ने उसमें क्या किया? जीव नहीं खाता और जड़ भी नहीं खाता। 'खाया'—यह तो बोलने की रीति है,—परमाणु की पर्याय को जानने के लिये एक नाम है। 'छींक खायी, आलस्य खाया, इत्यादि कहा जाता है, वह भिन्न-भिन्न दशा को जानने की भाषा है, जड़ की अवस्था का परिणमन है, आत्मा उसे व्यवहार से भी नहीं करता; किन्तु आत्मा अपने ज्ञानसहित पर का ज्ञान करता है—उस ज्ञान को व्यवहारनय कहा जाता है।' अपने स्वभाव का ज्ञान करे सो निश्चयनय है और पर का ज्ञान करे सो व्यवहारनय है। किन्तु निश्चय से अपने आत्मा की क्रिया करे और व्यवहार से पर की क्रिया करे—ऐसा मानना सो एकान्त मिथ्यात्व है।

यहाँ तो पर्याय की दृष्टि को ही उड़ाते हैं। पर को जानने वाली ज्ञानपर्याय जितना आत्मा को माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। ज्ञान स्वतः परको और पर्याय को जाने अवश्य, किन्तु त्रैकालिक स्वभावरूप में उसका स्वीकार न करे, अपने एकरूप चैतन्यस्वभाव को ही स्वीकार करे सो धर्मदृष्टि है। आत्मा अपने स्वभाव से ईश्वर है। जड़ अपनी शक्ति से ईश्वर है। मैं पर का करूँ-ऐसी जिसकी मान्यता है वह तो जड़बुद्धि-मिथ्यादृष्टि है। और मेरी पर्याय में जो रागादि होते हैं उसका मैं कर्ता हूँ, वह मेरा स्वभाव है—ऐसा जो माने वह भी पर्यायमूढ़—मिथ्यादृष्टि है। अनन्त ज्ञान-दर्शन स्वभाव का आदर सो द्रव्यदृष्टि है, यथार्थदृष्टि है, निश्चयदृष्टि है, सत्यदृष्टि है, तथा वह धर्म है, समभाव है, सुख है और वही मोक्ष का मार्ग है।

मैं पर की आशा रखनेवाला नहीं हूँ, क्योंकि मुझे पर का आश्रय नहीं है, मेरी अवस्था में विकार होता है, उसके आधार से भी मैं स्थिर नहीं होता; जिस त्रिकालस्था-

थी स्वभाव में से मेरी पर्याय का प्रवाह आता है उसी स्वभाव का मुझे आधार है । इसप्रकार स्वभाव का आश्रय ही धर्म है।

जिन्होंने स्वभाव का आश्रय किया है-ऐसे ज्ञानी जीव शुद्ध संग्रहनय से समस्त जीवों को समान जानते हैं। इस समय अधिकांश लोग ऐसी जो बातें करते हैं 'कि सभी जीवों को समान मानना, और विश्व-वात्सल्य करना चाहिये'-यह तो मात्र पराश्रय से बातें करते हैं; विश्ववात्सल्य का यथार्थ अर्थ नहीं समझते, इससे पर के साथ सम्बन्ध जोड़ने की बात करते हैं; पर से सम्बन्ध जोड़ने की बात इसमें नहीं है। आत्मा के पर का सम्बन्ध मानना सो मिथ्यात्व है। यहाँ जो सभी जीवों को समान कहा गया है वह परलक्ष की बात नहीं है। ज्ञानी किसप्रकार सबको समान जानते हैं ? स्वतः अपने में स्वभावदृष्टि करके, पर्यायदृष्टि को हटा दिया है इससे, अन्य जीवों में पर्याय से जो भेद है उसे न देखकर, शुद्ध संग्रहनय से सभी के स्वभाव को समान मानते हैं, और इससे उनके सभी पर समभाव है।

शुद्ध संग्रहनय का अर्थ क्या ? समस्त जीव शुद्ध चैतन्यसामर्थ्य से समान हैं-ऐसा देखना और पर्याय में हीनाधिकता के जो भेद हैं उनसे जीवों में भेद न करना-इसका नाम शुद्ध संग्रहनय है। जहाँ अपने स्वभाव का आदर हुआ वहाँ ज्ञानी जीव अन्तर एकता के प्रभाव द्वारा सभी जीवों को समान स्वभाववाला जानते हैं, उनके शुद्ध संग्रहनय होता है। अज्ञानी के शुद्धसंग्रहनय नहीं होता।

किसी भी सच्चे नय का हेतु वीतरागभाव की साधना है। शुद्ध संग्रहनय में वह हेतु किसप्रकार आया ? पर्यायदृष्टि से देखने पर पर्याय के भेद ही दिखाई देते हैं, और पर्याय के भेदों को देखने से विषमता और राग-द्वेष होता है। इसलिये भेददृष्टि छोड़कर अभेद स्वभाव की दृष्टि करके, शुद्ध संग्रहनय से सभी जीवों को समान जानने पर विषमता दूर होजाती है और वीतरागी समभाव प्रगट होता है-यह शुद्ध संग्रहनय का हेतु है। ज्ञानी जीव अभेद स्वभाव के आदर में भेद को नहीं देखते, इससे भेद को देखने का फल (अर्थात् पर्यायबुद्धि को देखने का

फल) जो बंधन है वह उनके नहीं होता।

सामने तो समस्त आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, और उनके द्रव्य तथा पर्याय दोनों हैं। सिद्धपर्याय भी है और निगोद पर्याय भी है। ज्ञानी जीव ऐसा मानते हैं कि—'समस्त जीव पूर्ण स्वभावयुक्त हैं, किन्तु इससे कहीं निगोद के जीव को स्वभाव-दृष्टि नहीं होजाती, निगोद दशा मिटकर सिद्ध दशा नहीं होजाती; जगत में तो निगोददशा और सिद्धदशा-सभी दशाएं जैसी की वैसी हैं, किन्तु धर्मी जीव स्वतः पर्यायदृष्टि छोड़कर स्वभावदृष्टि से देखने वाले हैं; इसलिये उनके पर्यायदृष्टि का बन्धन नहीं है। जगत के जीवों की पर्याय में जो भेद है वह तो है ही; और ज्ञानी उन भेदों को जानते भी अवश्य हैं, किन्तु अखण्डस्वभाव में एकता रख-कर देखने के कारण ज्ञानी को उन भेदों में एकत्वबुद्धि नहीं होती, इससे उनके समभाव ही है। स्व-भाव में ही एकता है, और पर्याय में एकता नहीं है--इस अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानी पर्याय को देखते ही नहीं, मात्र स्वभाव को ही देखते हैं। स्वभावदृष्टि से देखने वाले ज्ञानी के सर्वत्र समभाव ही है।

प्रश्नः—क्या आत्मा की पहि-चान होते ही जीव वीतराग हो-जाता है?

उत्तरः—श्रद्धा की अपेक्षा से तो वीतराग है। ज्ञानी को अस्थिरता के कारण राग-द्वेष होते हैं, जो-कि उनके पुरुषार्थ का ही दोष है, किन्तु ज्ञानी उस राग को या पुरुषार्थ के दोष को अपने स्वभाव में नहीं मानते, रागरहित ज्ञानस्व-भाव में ही ज्ञानी को एकताबुद्धि है, राग में एकताबुद्धि नहीं है। स्वभाव में एकताबुद्धि से राग वास्तव में दूर होता जाता है और स्वभाव की एकता बढ़ती जाती है, इसलिये ज्ञानी के परमार्थ से राग होता ही नहीं, किन्तु अपने स्वभाव की एकता ही होती है। जो राग होता है वह स्वभाव की एकता में नहीं आया किन्तु ज्ञेयरूप में रह गया। राग के समय भी स्वभाव की ही अधिकता है, इसलिये ज्ञानी के मात्र स्वभाव ही होता है; राग नहीं होता। ऐसी धर्मात्मा जीव की दशा है।

प्रश्नः—इस धर्म में त्याग या ग्रहण करने की बात तो कुछ नहीं आई?

उत्तर:—इसीमें यथार्थ ग्रहण-त्याग की बात आजाती है। ग्रहण या त्याग किसी बाह्य वस्तु का नहीं होसकता, किन्तु अन्तर में ही होता है। हरियाळी आदि वस्तुओं को छोड़ने की बात नहीं आई क्योंकि यह वस्तुएँ तो आत्मा से पृथक् हैं ही। मैं दूसरी वस्तुओं का ग्रहण या त्याग कर सकता हूँ अथवा उन्हें छोड़ सकता हूँ, ऐसी मान्यता तो अधर्म है। भले ही शाक, फलादि हरी वस्तुएँ न खाता हो, तो भी ऐसी मान्यता वाळा जीव अधर्मी ही है। और कोई भगवान के नामका जाप करने की बात नहीं आई, क्योंकि जाप के शब्द तो जड़ हैं और उसओर का शुभराग सो विकार है—मन्दकषाय है, वह धर्म नहीं है, इसलिये मैं परवस्तु का ग्रहण या त्याग कर सकता हूँ ऐसी विपरीत मान्यता का और राग से मुझे धर्म होता है, उस विपरीत मान्यता का त्याग करना आया है। तथा जड़ से और विकार से भिन्न अपना स्वभाव पूर्ण ज्ञायकमूर्ति है, उसकी यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता को ग्रहण करना आया है। श्रद्धा में पूर्णस्वभाव का ग्रहण और अपूर्णता का त्याग सो धर्म है।

'ॐ अर्हम्'—ऐसे शब्द के जाप में आत्मा नहीं है और उस ओर के शुभविकल्प में भी आत्मा नहीं है। 'ॐ अर्हम्' का जाप करते समय मन्दकषाय हो तो अशुभ दूर होकर शुभ होता है—इससे इन्कार नहीं है, किन्तु उससे आत्मा को क्या? अशुभ को दूर करके शुभ तो अभव्य जीव भी करता है, अशुभ को दूर करके शुभभाव करे उससे कहीं आत्मा को धर्म नहीं होता, शुभराग से आत्मा को लाभ नहीं है। रागरहित ज्ञानमयस्वभाव की रुचि—आदर—श्रद्धा और लीनता करना ही सच्चा जाप है, उसमें पूर्ण भगवान आत्मा आजाता है, और वही धर्म है। जिसमें समस्त—परिपूर्ण आत्मा न आये वह धर्म नहीं है। आत्मा का स्वभाव पूर्ण है, उसे पूर्णरूप से माने तो उसके आश्रय से पर्याय में धर्म प्रगट हो। और पूर्ण न मानकर अपूर्ण या विकारी माने तो पर्याय में अधर्म हो। परिपूर्ण स्वभाव की प्रतीति करने से जो सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान प्रगट हुआ वह समभाव है, उससे अवश्य मुक्ति प्रगट होती है।

किसीको ऐसा लगता हो कि यह तो बहुत भारी बात है, अपने से नहीं होसके-ऐसी बात है, तो उसे मनमें से निकाल देना चाहिये। यह स्वयं आत्मा की ही बात है, किन्तु अपरिचित होने के कारण कठिन मालूम होती है; परिचय करे तो बिल्कुल सरल-समझ में आने योग्य बात है। केवलज्ञान प्राप्त करने में अनन्त पुरुषार्थ है इससे वह बड़ी बात है। किन्तु यह तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की छोटी बात है. केवलज्ञान की अपेक्षा इसमें अल्प पुरुषार्थ है। चैतन्यतत्व क्या है और उसका चिन्ह क्या है-उसे स्वयं जाने बिना धर्म नहीं होता। जैसे अंक और अक्षर जाने बिना हिसाब नहीं लिख सकता वैसे ही चैतन्य का अंक (चिन्ह) क्या है और उसका अक्षर (जिसका नाश न हो वह) स्वभाव क्या है-वह जाने बिना धर्म का हिसाब नहीं होता और चैतन्य में स्थिरता नहीं होती। भले ही उपवास, भक्ति, व्रत, दानादि करे किन्तु उसमें कहीं भी आत्मलाभ नहीं है।

अहो! अपना स्वभाव कैसा महान महिमावान् है, वह कभी रुचिपूर्वक सुना नहीं, जाना नहीं, अन्तर में उसकी रुचि नहीं की; इसके अतिरिक्त दया, दानादि सर्व प्रकार के शुभभाव कर चुका है, किन्तु उससे किंचित् कल्याण नहीं हुआ, इससे यहाँ कहते हैं कि सभी जीवों का स्वभाव शुद्ध परिपूर्ण है। जो स्वतः अपने स्वभाव का अनुभव करे वही जीव उसके परिपूर्ण स्वभाव को जान सकता है और उसके ही समभावरूप धर्म होता है।

अपने में पूर्णता की दृष्टि में "सभी जीव अपने स्वभाव से शुद्ध हैं"-ऐसा ज्ञानी जानते हैं, इससे ज्ञानी को किसी पर के कारण राग-द्वेष नहीं होता। श्री शांतिनाथ, कुंथनाथ, अरहनाथ-यह तीनों तीर्थंकर चक्रवर्ति थे, क्षायिक-सम्यग्दर्शन के धारक थे, छहखण्ड का राज्य और हजारों रानियों का संयोग था एवं राग भी था किन्तु उसमें हेयबुद्धि थी, एकताबुद्धि अंशमात्र भी नहीं थी, स्वभाव की दृष्टि से समभाव ही था। पर्याय के राग का ज्ञान था, स्त्रियों को और राजपाट इत्यादि को भी जानते थे, किन्तु स्वभाव की एकता नहीं छूटती थी। स्वभाव की एकता के

बल से प्रतिक्षण राग दूर ही होता रहता था।

प्रश्नः—यदि ज्ञानी परपदार्थ को अपना नहीं मानते हों तो 'यह पुस्तक मेरी, यह वस्तु मेरी'—ऐसा क्यों कहते हैं?

उत्तरः—अरे भाई! भाषा में ऐसा बोला जाता है, तथापि अन्तर में पर को अपना नहीं मानते; वह कपट नहीं है। भाषा बोलने की क्रिया ही आत्मा की नहीं है, वह तो जड़ है, किन्तु यह समझना चाहिये कि उससमय ज्ञानी का अन्तरंग अभिप्राय क्या है?

प्रश्नः—भाषा जड़ की है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है,—ऐसा कहा है; फिर जिससमय आत्मा निकल जाता है तब मुर्दा बोलता क्यों नहीं?

उत्तरः—भाई! तू धीरज रख, और देहदृष्टि को छोड़कर चैतन्य को देख। क्या चैतन्य के अस्तित्व के कारण जड़-परमाणुओं में भाषा होने की योग्यता होती है? जब परमाणुओं की स्वतंत्र योग्यता हो तब भाषा होती है और योग्यता न हो तो भाषा नहीं होती। उसमें चैतन्य का कुछ काम नहीं है। आत्मा भाषा बोलता है अथवा शरीर की क्रिया करता है—ऐसी मान्यता तो बड़ी भारी भूल है। यहाँ पर की तो बात ही नहीं है, एकदम स्वभावदृष्टि की बात है। जहाँ स्वभावदृष्टि हुई कि निरंतर समभाव रहता है। और उस स्वभाव में लीनता करने से व्रत और मुनिदशा प्रगट होती है। मैं ज्ञानमूर्ति वीतरागस्वरूप ही हूं, मेरे राग भी नहीं है और शरीर भी नहीं है तो फिर देश इत्यादि कौन मेरा है? देश का मैं क्या करूँ? चैतन्यस्वभावरूप मेरा स्वदेश असंख्यप्रदेशी है, वह स्वतंत्र है, मेरे चैतन्यप्रदेश में विकार का प्रवेश नहीं है, और पर का तो मुझमें त्रिकाल अभाव है,—ऐसा जानकर अपने चैतन्यप्रदेश में रहना सो धर्म है।

सम्यग्दर्शन अर्थात् अपने त्रैकालिक स्वभाव की प्रतीति और अनुभव। साधकदशा में पर्याय के अनेकप्रकार होते हुए भी, धर्मात्मा ने जो एकरूप स्वभाव जाना है उसका अनुभव एक ही प्रकार का है। पर्याय की अनेकता से स्वभाव की एकता में भंग नहीं पड़ता। साधकजीव के पर्याय पर्याय में

निर्मलता बढ़ती ही जाती है। जो अनेक निर्मल पर्यायें प्रगट होती रहती हैं वे सब पर्यायें स्वभाव में ही एकता करके अभेद होती हैं। पर्याय की जो निर्मलता बढ़ती जाती है उस अपेक्षा से अनेकता है, किन्तु उस प्रत्येक पर्याय के अनुभव में तो एक ही प्रकार का स्वभाव आता है, अनेक पर्यायों के अनुभव का तो एक ही प्रकार है, जिस स्वभाव को श्रद्धा में स्वीकार किया है उस एक स्वभाव की एकता का ही समस्त पर्याय में अनुभव होता है; इससे वास्तव में ज्ञानी एकरूप स्वभाव को ही देखते हैं, पर्याय के भेद को नहीं देखते। पर्याय में जो हीनाधिकता के भेद हैं वह तो व्यवहारज्ञान का विषय है। जिसे ज्ञान जानता है वह पदार्थ ज्ञान का विषय कहलाता है, और जहाँ एकता माने उसे दर्शन का विषय कहते हैं। अखण्ड स्वभाव में एकता सो सम्यग्दर्शन का विषय है। पर में राग करके और राग में एकता मानकर ज्ञान रुक गया सो मिथ्यादृष्टि का विषय है। अज्ञानी जीव राग में अपने ज्ञान की एकता करते हैं और ज्ञानी जीव रागरहित स्वभाव में ज्ञान की एकता करते हैं। स्वभाव की ओर उन्मुख होने से निर्मल पर्याय के अनेकप्रकार होते हैं, किन्तु उस प्रत्येक पर्याय में स्वभाव की ही एकता है, प्रत्येक पर्याय अभेद एकरूप स्वभाव की ओर ही उन्मुख होती है। पर्याय की निर्मलता के अनेकप्रकारों का, और जो पुण्य-पाप होते हैं उनका ज्ञान होता है, किन्तु श्रद्धा में उसका स्वीकार नहीं है। पूर्णतत्व की एकता रखकर भंग-भेद को जानते हैं वहाँ पर्यायबुद्धि नहीं होती, इससे राग-द्वेष नहीं होते और समभाव ही रहता है। स्वभाव की एकता में वृद्धि होते-होते सम्पूर्ण रागरहित पर्याय प्रगट होती है और मुक्ति होजाती है।

जीवने अनन्तकाल से अपने पूर्णतत्व को नहीं जाना। नवतत्वों को जाना, किन्तु नवतत्वों में स्वतः अखण्ड जीवतत्व है उसे नहीं जाना—नहीं माना। अपना आत्मा नवतत्व के विकल्पजाल से रहित है, इसे नहीं जाना और नवतत्वों के विकल्प में रुकगया। विकल्पों के द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और जैसा निजस्वरूप

है वैसा श्रद्धा-ज्ञान में आये बिना समभाव नहीं होता; समभाव सम्यग्दर्शन से ही होता है। परजीव मेरा शत्रु या मित्र है, पर मुझे लाभ-हानि करने वाला है-ऐसी मान्यता की वहाँ उसके ऊपर समभाव नहीं रहा किन्तु दो भाग होगये। यह शत्रु और यह मित्र-ऐसा जहाँ माना कि एक के ऊपर द्वेष और दूसरे पर राग आगया। पुण्य अच्छा और पाप बुरा-ऐसा जो मानता है उसे भी पुण्य-पाप-रहित एकरूप स्वभाव की दृष्टि नहीं है, इससे उसके समभाव नहीं है। जिसके अपने ज्ञानस्वभाव की दृष्टि है वह सभी जीवों को ज्ञानस्वभावी जानता है, ज्ञानस्वभाव को कोई शत्रु या मित्र नहीं है, अर्थात् अपने ज्ञानस्वभाव की दृष्टि से सभी पर समभाव होगया। पुण्य-पाप दोनों मेरे ज्ञानस्वभाव से भिन्न हैं-ऐसा जानते ही उनके ऊपर समभाव होगया। इसप्रकार जिसे अपने एकरूप स्वभाव की दृष्टि है वह समस्त जीवों को समान जानता है और उसके समभावरूप धर्म होता है।

जो जीव सभी को समान नहीं जानता, किन्तु पर्याय को देखकर भेद करता है उस जीव के पर्यायदृष्टि है, आत्मस्वभाव की दृष्टि नहीं है और उसके समभाव नहीं है।

जिसप्रकार अन्य मतों में ईश्वर को जगत्कर्ता माना जाता है, वैसे ही जैनमत में जो कर्मों को राग-द्वेष कराने वाला मानता है वह भी मिथ्यादृष्टि है, उसने कर्मों को ईश्वर के रूप में माना है। और जो पुण्य से धर्म मानते हैं वे विकार को ही आत्मा मानते हैं, वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। जो एक पर्याय जितना ही आत्मा को मानें वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। अपना पूर्णस्वभाव ही अपना ईश्वर है; उस स्वभाव की दृष्टि करके उसमें एकता करना सो संसार के नाश करने का उपाय है। जिसके चैतन्यस्वभाव की दृष्टि न हुई उसे संसार के नाश का उपाय प्राप्त नहीं हुआ और जिसके चैतन्यस्वभाव की दृष्टि हुई है वह जीव संसार का नाश करके मुक्ति प्राप्त करता है।

मोह को क्षय करने का उपाय

[श्री प्रवचनसार गाथा ८० में बतलाया है कि 'जो जीवद्रव्य से, गुण से और पर्याय से अर्हन्त को जानता है वह जीव अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य नष्ट होता है।' इसपर विस्तृत व्याख्यान गतांकों में प्रगट होचुके हैं उनके पश्चात् यहाँ पर विशेष दिया गया है]

मोह के क्षय का उपाय

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में मोह का नाश करने की रीति बतलाते हैं। जो जीव अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से जानते हैं वे अपने आत्मा को जानते हैं और उनका मोह अवश्य विलीन होजाता है। आचार्यदेव कहते हैं कि हमने मोह के क्षय करने का उपाय प्राप्त किया है। अरहंत अपने पुरुषार्थ की शक्ति से कर्मों का क्षय करके पूर्णदशा को प्राप्त हुए हैं वैसे ही मैं भी अपने पुरुषार्थ के बल से कर्म-क्षय करके पूर्णदशा को प्राप्त करनेवाला हूँ, बीच में कोई विघ्न नहीं है। जो अरहंत की प्रतीति करता है वह अवश्य अरहंत होता ही है। अब यहाँ ८०वीं गाथा के भावार्थ पर प्रवचन होते हैं।

अर्हन्त को जानने से अपने द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञात होते हैं

भावार्थः—अरहंत भगवान और अपना आत्मा निश्चय से समान हैं। पुनश्च, अरहंत भगवान मोह राग-द्वेष रहित होने के कारण उनका स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है, इससे जो जीव द्रव्य-गुण-पर्यायरूप उस (अरहंत भगवान के) स्वरूप को प्रथम मन द्वारा समझ ले तो "यह जो 'आत्मा, आत्मा' ऐसा एकरूप (कथंचित् सदृश) त्रैकालिक प्रवाह सो द्रव्य है, उसका जो एकरूप रहनेवाला चैतन्यरूप विशेषण है सो गुण है और उस प्रवाह में जो क्षणवर्ती व्यतिरेक हैं सो पर्यायें हैं"—इसप्रकार अपना आत्मा भी उसे द्रव्य गुण-पर्यायरूप से मन द्वारा ज्ञान में आता है।

द्रव्य-गुण-पर्याय की व्याख्या

आत्मा त्रिकाल कथंचित् सदृश है; त्रिकाल 'आत्मा, आत्मा'-ऐसी जो समानता है सो द्रव्य

है, त्रैकालिक प्रवाह में एकरूप रहनेवाला द्रव्य है। त्रैकालिक प्रवाह में एक-एक क्षण का भिन्न परिणमन सो पर्याय है। 'प्रवाह' कहते ही परिणमन सिद्ध होजाता है। त्रिकाल प्रवाह में जो निरन्तर सदृश 'आत्मा, आत्मा' रहता है वह द्रव्य है। समस्त पदार्थों में द्रव्य तो समान ही रहनेवाला है। और उस द्रव्य का एकरूप रहनेवाला जो 'चैतन्य, चैतन्य'—ऐसा विशेषण सो गुण है और द्रव्य के प्रवाह में जो क्षणवर्ती भेद हैं सो पर्यायें हैं। इसप्रकार अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से पहिचानने पर अपना आत्मा भी विकल्प द्वारा ज्ञान में आता है।

अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने के पश्चात् क्या करना चाहिये ?

इसप्रकार अपने आत्मा को ज्ञान में विकल्प द्वारा जानने के पश्चात् मोह का नाश किसप्रकार होता है वह बतलाते हैं। "इस-प्रकार त्रैकालिक निजात्मा को मनद्वारा ध्यान में लेकर पश्चात् जैसे मोतियों को और सफेदी को हार में ही अन्तर्गत करके केवल हार को ही जाना जाता है, वैसे ही आत्मपर्यायों को और चैतन्य गुण को आत्मा में ही अन्तर्गर्भित करके केवल आत्मा को जानने से परि-णामी–परिणाम-परिणति के भेद का विकल्प नष्ट होते रहने के कारण जीव निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है और इससे मोह (दर्शनमोह) निराश्रय होकर विनाश को प्राप्त होता है।"

सम्यक्दर्शन के पश्चात् क्या करना चाहिये ?

इसप्रकार मात्र अभेद आत्मा ही लक्ष्य में आजाने से सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् क्या करना शेष रहा ? शरीर का कर्ता तो पहले भी नहीं था, पहले रागादि का कर्ता था, उसे छोड़कर अब ज्ञानमात्र भाव का कर्ता हुआ; अब ज्ञान में ज्ञान को एकाग्र करने की क्रिया करना शेष रहा। उस एकाग्रता की क्रिया पूर्ण होने से ही केवलज्ञान-अरिहंतदशा प्रगट होती है।

निष्क्रिय ज्ञानमात्र भाव प्रगट होने से मोह का क्षय होता है

जीव अपने अन्तरस्वभाव में ढलने से निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को

प्राप्त होता है और ज्ञान में भेद के विकल्परूप क्रिया नहीं रहती। जहाँ जीव चिन्मात्र भाव को प्राप्त हुआ कि वहीं मोह का नाश होजाता है। परवस्तुओं की क्रिया तो आत्मा कर नहीं सकता और रागरूप क्रिया करने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है, इसप्रकार ज्ञान-स्वभाव निष्क्रय ही है। ऐसे स्वभाव में ढलने से निष्क्रय ज्ञानमात्र भाव प्रगट होता है और मिथ्यात्व नाश को प्राप्त होता है। 'ज्ञान-मात्र भाव को प्राप्त होता है' और 'मोह का क्षय होता है'–इसप्रकार अस्ति-नास्ति से कथन है। अज्ञान के आश्रय से मोह था, अब मात्र ज्ञानभाव के प्रगट होने से मोह निराश्रय हुआ, इससे वह नाश को प्राप्त होता है।

इसप्रकार, 'ज्ञानमात्र भाव ही मैं हूं'–ऐसे निर्णय में ही सुख समाधानरूप धर्म है। और पश्चात् जीव ज्यों-ज्यों ज्ञानभाव में एकाग्रता करे वैसे ही वैसे सम्यक्चारित्र में वृद्धि होती जाती है। ज्ञानमात्र भाव में सम्पूर्ण एकाग्रता करने से सम्पूर्ण ज्ञानमात्र भाव–केवलज्ञान भाव प्रगट होता है और मोह का सर्वथा क्षय होजाता है।

मोह की सेना को जीतने का उपाय

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि–यदि देखा है, तो मैंने मोह की सेना को पराजित करने का उपाय प्राप्त किया है।

इस ८०वीं गाथा में शुद्ध आत्मा का निर्णय करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने का और दर्शन-मोह को दूर करने का उपाय बतलाया है। सम्यग्दर्शन से शुद्धात्मस्वभाव को जानने के बाद उसमें स्थिरता होती है और चारित्र-मोह नाश को प्राप्त होता है–यह ८१वीं गाथा में कहेंगे। दया, व्रत, अहिंसा इत्यादि के जो शुभ विकल्प हैं सो मोह की सेना है। अरहंत भगवान समान अपने शुद्धात्मा को जानना और शुद्धोपयोग के द्वारा उसमें लीन होना सो मोह की सेना को नाश करने का उपाय है।

स्वरूप को समझने का सरल उपाय

समस्त आत्मा अरहंत जैसे ही हैं। जो अपने स्वरूप को समझना चाहता है वह समझ सकता है। उसे समझने का मूल सरल

उपाय इस गाथा में कहा है। मिथ्यात्व को नाश करने का उपाय यह एक ही है कि:—

'जे जाणतो अर्हंतने
गुण द्रव्य ने पर्याय पणे,
ते जीव जाणे आत्मने,
तसु मोह पामे लय खरे।'

प्रत्येक पदार्थ द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप है। अपने आत्मा की अरिहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ समानता करके और फिर अरिहंत का लक्ष छोड़कर मात्र अपने आत्मा को अभेदरूप से लक्ष में लेना–उसमें अनन्त पुरुषार्थ है। स्वरूप की रुचि के बिना यह पुरुषार्थ नहीं होता। जीव के अंतरंग में स्वभाव की महिमा आये बिना उस स्वभाव को प्राप्त करने का प्रयत्न वह नहीं करेगा। जो अपने अरहंत के समान शुद्ध-स्वरूप को प्राप्त करना चाहे वह अवश्य प्राप्त कर सकता है।

अपना भला करने के लिये क्या करना चाहिये ?

हे जीव! तुझे अपना हित करना है न? तो इस जगत में तू यह खोजले कि सबसे अच्छा किसने किया है? किसने पूर्ण हित प्रगट किया है? अरिहंत भगवान इस जगत में सम्पूर्ण सुखी हैं, उन्होनें आत्मा का सम्पूर्ण हित किया है। अरिहंत-भगवान ने किसप्रकार अच्छा किया है? प्रथम तो अपने आत्मस्वभाव को अरिहंत के समान जाना और फिर उसमें लीन होकर मोह का क्षय करके वीतरागता और केवल-ज्ञान प्रगट किया, इससे वे सुखी हैं। उनके आत्मा को वह केवल-ज्ञानदशा कहाँ से आई? जो त्रिकाल द्रव्यगुण है उसमें से वह दशा प्रगट हुई है। अरिहंत जैसे ही द्रव्य-गुण तुझमें भी हैं, अपने उस स्वभाव की तू श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता करे तो तेरे द्रव्य-गुण में से पूर्ण केवलज्ञान दशा प्रगट हो, यही अच्छा करने का उपाय है। संसार में अच्छे से अच्छा करने-वाले तो अरिहंत हैं, तू उन्हीं को आदर्शरूप रख। जहाँ तू अपने पूर्ण स्वभावसामर्थ्य की पहिचान करके उसमें लीन हुआ कि वहीं पूर्णदशा प्रगट हुई अर्थात् सम्पूर्ण भला होगया और कोई बुराई नहीं रही।

जगत में सम्पूर्ण सुखी कौन है ?

यदि अच्छा करने के पश्चात् भी कुछ और अच्छा करने को शेष रहे तो उस जीव ने अभी वास्तव में पूर्ण अच्छा नहीं किया, और उसीसे वह दुःखी है। जिसने पूर्ण अच्छा करलिया है और अब कुछ भी करना शेष नहीं रहा- ऐसा जो है वही पूर्ण सुखी है। ऐसे श्री अरिहंतदेव हैं। जगत के जीवों को दुःखी देखकर अथवा जगत का कुछ करने के लिये अरिहंतभगवान अवतार नहीं लेते। उन्होंने अपने आत्मा में सम्पूर्ण अच्छा करलिया है इससे वे कृत-कृत्य हैं। जगत के जीव राग-द्वेष-मोह से दुःखी होरहे हैं। अहो! जिनके मोह नहीं है, अवतार नहीं है, मरण नहीं है, विकल्प नहीं है, पर की उपाधि नहीं है, भूख-प्यास नहीं है, पूर्ण केवलज्ञान जिनके प्रगट होगया है-ऐसे अरहंतभगवान का आत्मा इस जगत में सम्पूर्ण सुखी है। इससे वही इस आत्मा के लिये दर्पण के समान है। अरहंत के स्वरूप को जानने पर परमार्थ से अपने स्वरूप का प्रतिबिंब ही ज्ञात होता है। अरिहंत भगवान जैसे द्रव्य-गुण तो मुझमें त्रिकाल हैं, और पर्याय में जहाँतक अरिहंत भगवान जैसा न हो वहाँतक मैं अपूर्ण हूँ, वह अपूर्णता मेरा स्वरूप नहीं है।

अरिहंतों ने पर का कुछ भी नहीं किया

श्री अरिहन्तों ने क्या किया? यदि अरिहंत भगवान पर का कुछ करने से अरहंत हुए होते तो पूर्णता होने के बाद परद्रव्यों का बहुत करते, किन्तु भगवान ने पर का कुछ किया ही नहीं। भगवान तो पहले भी जानते थे कि आत्मा परद्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। पर से भिन्न अपने आत्मस्वभाव को जानकर उसीमें स्थिर हुए और केवलज्ञान प्रगट किया। इसके अतिरिक्त भगवान ने अन्य कुछ भी नहीं किया।

अरिहन्त होने का उपाय

ऐसे सर्वश्रेष्ठ (पूर्ण शुद्ध) अरिहंत भगवान को जानकर जो जीव अरिहंत समान अपने आत्मा में उतर गया और आत्मा में उतरकर भेद के लक्ष को तोड़कर अभेद स्वभाव में उन्मुख हुआ कि वहीं

उसे जीव के सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ और मोह का नाश होगया। और उस जीव के अरिहंत भगवान जैसी पूर्ण शुद्धता प्रगट करने का उपाय प्रगट हुआ है। अनन्त तीर्थंकरों ने यही उपाय किया है और दिव्यध्वनि में भी यही उपदेश दिया है।

अपने में द्रव्य–पर्याय की एकता होने से सम्यग्दर्शन होता है।

प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि ८०वीं गाथा मे कही है। जैसा द्रव्य-गुण-पर्याय से अरिहंतदेव का स्वभाव है, वैसा ही इस आत्मा का है, अरिहंत के रागादि नहीं हैं वैसे ही इस आत्मा के भी रागादि अपना स्वरूप नहीं है–ऐसा जो जीव निश्चय करता है उस जीव को आत्मस्वभाव का सम्यक्दर्शन होता है। परमार्थ से अरिहंत के स्वरूप में और इस आत्मा के स्वरूप में अन्तर नहीं है। अरिहंत भगवान पूर्ण स्पष्टस्वरूप होने से इस आत्मा को वे आदर्श स्वरूप हैं। अरिहंत भगवान के द्रव्य और गुण पूर्ण हैं और पर्याय भी पूर्ण प्रगट हुई है, वह पर्याय द्रव्य–गुण में से आई है। ऐसे द्रव्य–गुण–पर्याय स्वरूप को जानले तो अपने द्रव्य-गुण के आधार से वर्तमान पर्याय की अपूर्णता को दूर करने का उपाय करे। मैं अपूर्णता या विकार जितना नहीं हूँ, किन्तु अरिहंत जैसा ही हूँ–इस-प्रकार पहले अरिहंत के लक्ष्य से अपने आत्मा का विचार करके फिर स्व में अपने आत्मा की ओर उन्मुख होकर निर्णय करने से सम्यग्दर्शन होता है। देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष्य से निर्णय करनेवाली अवस्था का अपने स्वभाव में समावेश करलिया अर्थात् उसको स्वोन्मुख किया, वहाँ पर में और विकार में एकता की मान्यता छूटकर अपने में द्रव्य-पर्याय की एकता हुई अर्थात् मोह का नाश हुआ और सम्यग्दर्शन होगया। स्वाश्रय की एकता द्वारा सम्यक्दर्शन होने से ही पराश्रय की एकतारूप मोह का नाश होता है।

अरिहंतों के पहले अज्ञानदशा थी और पश्चात् ज्ञानदशा हुई तथा पूर्णज्ञान प्रगट हुआ। उनकी पहली और पीछे की सभी अवस्थाओं में रहनेवाला आत्मद्रव्य है। चैतन्यता

उनका गुण है, और वर्तमान पर्याय में पूर्ण ज्ञान है। अरिहंत जैसा ही मेरा आत्मा है—ऐसा निर्णय करने पर राग में एकत्व-बुद्धि दूर होजाती है और अपने स्वभाव का आश्रय होता है। पहले निमित्तों के साथ और विकार के साथ एकत्व मानता था इससे अपने में द्रव्य-पर्याय का भेद होकर अवस्था में अज्ञान था, वह संसार का मूल था। अब, रागादि से रहित अपने चिन्मय स्वरूप में एकता करने से, द्रव्य-पर्याय का भेद टूट जाने से (पर्याय द्रव्य में ही लीन होने से), मिथ्यात्व और अज्ञान निराश्रित होते हुए नाश को प्राप्त होते हैं। द्रव्य में मिथ्यात्व और अज्ञान नहीं हैं, और उस द्रव्य में पर्याय की एकता हुई इससे मिथ्यात्व और अज्ञान को उस पर्याय का आश्रय नहीं रहा, पर्याय स्वतः सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित होगई एवं मिथ्यात्व तथा अज्ञान नष्ट होगये। यही मोह के नाश का अर्थात् धर्म का उपाय है।

पराश्रय से मिथ्यात्व, और स्वाश्रय से सम्यक्त्व

पहले पर्याय पर के आश्रय से परिणमित होती थी, तब, उस पर्याय के आश्रय से मिथ्यात्व बना रहता था। किन्तु अब, वह पर्याय अपने स्वभाव में अभेद होने से मिथ्यात्व को उसका आधार नहीं रहा, अर्थात् वह नष्ट होगया। इसमें आत्मा के ज्ञान की ही क्रिया है, बाहर का कुछ भी नहीं है। आत्मा का जो वीर्य विकार में काम करता था वह वीर्य विकार की एकता से छूटकर अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ वहाँ पर का अवलम्बन नहीं रहा अर्थात् मिथ्यात्व हो नहीं रहा। भेद के आश्रय से मिथ्यात्व रहता है और अभेद स्वभाव के आश्रय से मिथ्यात्व नष्ट होजाता है। अभेद स्वभाव के आश्रय से मिथ्यात्व का नाश होने के पश्चात् चारित्रमोह का नाश कैसे होता है? वह आगे की गाथा में कहेंगे। शुभभाव का अवलम्बन भी मोह है, इससे जब स्वभाव के आश्रय से उसका भी भेदन करता है तब सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा प्रगट होता है।

सम्यग्दर्शन से पहले की भूमिका में जीव को क्या करना चाहिये?

८० वीं गाथा के कथनानुसार जिसने द्रव्य-गुण-पर्याय से अरिहंत

भगवान को जाना उसके कुदेव-कुगुरु-कुधर्म की मान्यता तो छूट ही गई। अरिहंत को जानकर वहीं नहीं रुकजाता किन्तु स्वाश्रय की ओर आता है। अरिहंत की ओर का लक्ष्य छोड़कर स्व में ऐसा विचार किया कि मेरे सम्यग्दर्शनादि के लिये अपने द्रव्य-गुण का ही आश्रय है, किसी पर का आश्रय नहीं है—इसप्रकार बारम्बार स्वाश्रय की भावना और अभ्यास करता है, और स्वाश्रय भाव में ढलने से शुद्धात्मा का साक्षात् अनुभव हुआ, पराश्रयभाव का तथा मिथ्यात्व का नाश हुआ।

आत्मा मिथ्यात्वादि का उत्पादक नहीं है।

अरिहंत की भाँति मेरा आत्मा त्रिकाल द्रव्य-गुण से पूर्ण-स्वाभावी है; जैसे अरिहंत के मिथ्यात्व-रागादि की उत्पत्ति नहीं है वैसे ही मेरा आत्मस्वभाव भी मिथ्यात्व-रागादि का उत्पादक नहीं है, किन्तु शुद्ध ज्ञान का ही उत्पादक है इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा अपने स्वभाव में पर्याय को उन्मुख किया कि वहाँ आत्मा मिथ्यात्व-रागादि का कारण नहीं रहा। शुद्धस्वभाव की प्रतीति करके उस स्वभाव के आश्रय से आत्मा रहा, इससे मिथ्यात्व और अज्ञान नष्ट होगये, क्योंकि स्वभाव के आश्रय से मिथ्यात्वादि विकार की उत्पत्ति नहीं होती। अरिहंत जैसा अपना पवित्र आत्मस्वरूप भासित होने से 'मैं विकार का कर्ता हूँ, ऐसी विपरीत प्रतीति हट गई और निर्मल सम्यक्प्रतीति हुई, अर्थात् जीव को मोह का नाश करने का उपाय प्राप्त हुआ।

अनुभव की विधि

अनन्त तीर्थंकर-संत मुनिवरों ने प्रथम यही उपाय किया है। स्वभाव का आदर करके अनुभव की विधि एक ही है—अन्य नहीं है। यहाँ ८० वीं गाथा पूर्ण हुई।

(गाथा ८१)

संपूर्ण मोहक्षय की भावना।

इसप्रकार दर्शनमोह का नाश करने के पश्चात् भी जहाँतक राग-द्वेष रहता है वहाँतक सम्पूर्ण शुद्धोपयोग प्रगट नहीं होता। इससे अब इस गाथा में श्री आचार्यदेव सम्पूर्ण शुद्धात्मा की (केवलज्ञान की) प्राप्ति के लिये राग-द्वेष के क्षय की भावना करते हैं।

मिथ्यात्वमोह का क्षय तो किया ही है।

सम्यग्दर्शन के पश्चात् चारित्र-मोह के क्षय के लिये पुरुषार्थ की जागृति

जिसे पास में रखने से, मन में जिस वस्तु का चिंतवन करे वही प्राप्त हो–ऐसा चिन्तामणि हाथ लग जाये तो उसकी संभाल कितनी तत्परता से करे? वह चिंतामणि तो जड़ है और उससे जड़ वस्तुएँ मिलती हैं। यहां आचार्यदेव कहते हैं कि हमने चैतन्य-चिंतामणि प्राप्त किया है–हमने परिपूर्ण चैतन्यचमत्कार चिंतामणि प्राप्त किया है। चैतन्यस्वभाव को ज्ञान में रखकर जैसी भावना करूं वैसी वीतरागता प्रगट हो। इस चैतन्यचिंतामणि स्वभाव में शुद्धोपयोगद्वारा एकाग्र होकर राग-द्वेष का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करूं। यदि शुभोपयोग मे रुक जाऊँ तो चैतन्यचिन्तामणि की चोरी होजाती है–केवलज्ञान रुक जाता है। अपने चैतन्यस्वरूप को भूलकर अनादि से पर में और विकार में अपना अस्तित्व मान रखा था, अब विकार-रहित शुद्ध चैतन्यस्वभाव से अपना अस्तित्व जाना और स्वभावोन्मुख अवस्था में चैतन्यचिन्तामणि की प्राप्ति हुई। अहो! अब शुद्धोपयोग द्वारा मैं जितना चैतन्य में एकाग्र होऊं उतना राग-द्वेष दूर होकर शुद्धात्मा की प्राप्ति हो। आचार्यदेव के स्वतः पवित्र मुनिदशा प्रवर्तमान है, अधिकांश शुद्धोपयोग प्रगट हुआ है और अधिकांश वीतरागता हुई प्रगट है, किन्तु अभी जो अल्प शुभराग रहा है उसे भी सर्वथा नष्ट करके सम्पूर्ण शुद्धात्मप्राप्ति की भावना करते हैं। इसप्रकार हमको 'चिन्तामणि प्राप्त होने पर भी प्रमाद चोर है'–ऐसा विचार करके आचार्यदेव जागृत रहते हैं। जिसप्रकार ८०वीं गाथा में कहा है उसप्रकार मोहक्षय का उपाय जानकर और उसप्रकार मोहक्षय का उपाय करके हमने चैतन्यचिन्तामणि प्राप्त किया है। चैतन्यस्वभाव को प्राप्त करके भी यदि उसमें मैं सम्पूर्ण एकाग्र होऊं तभी राग-द्वेष का क्षय हो और शुद्धात्मा की (केवलज्ञान की) प्राप्ति हो। द्रव्य-गुण–पर्याय से अपना आत्मस्वभाव जानकर, जितना द्रव्य–गुण में अपनी पर्याय को एकाग्र करूं

उतना ही शुद्धात्मअनुभव प्रगट हो, उतना ही शुद्धोपयोग हो और राग-द्वेष दूर हो। शुद्धचैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करके अब अपने स्वभाव में ही एकाग्रता प्रगट करूं वही मुक्ति का कारण है। चारित्रदशा प्रगटी होने पर भी अभी सम्पूर्ण शुद्धोपयोग से स्वरूप में एकाग्रता नहीं हुई है, इससे आचार्यदेव विशेष जागृति की भावना करते हैं। आचार्यदेव सम्पूर्ण मोह का क्षय करके केवलज्ञान प्रगट करने के लिये कटिबद्ध हुए हैं।

सम्यग्दर्शन के पश्चात् जीव राग-द्वेष को छोड़दे तो शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है

अपने उपयोग को वस्तुस्वभाव में उन्मुख करने से ही लाभ है–इस प्रकार वस्तुस्वभाव को निश्चत् करके मैंने चिन्तामणि प्राप्त किया है–अप्रतिहत सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, तथापि अभी मेरी अवस्था यदि शुभउपयोग में रुकी रहे तो मुझे हानि है–प्रमादरूपी चोर मेरी शुद्धता को चुरा लेजावेगे ऐसा सम्भव है। जितना परोन्मुखता का भाव होता है उतना प्रमाद है, और वह प्रमादरूपी चोर मेरी चैतन्यऋद्धि को लूट लेता है, इसलिये मैं जागृत रहता हूं–ऐसा इस गाथा में आचार्यदेव कहते हैं:—

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो
तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो
अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८१॥

जीव मोहने करी दूर,
आत्मस्वरूप सम्यक् पामीने।
जो राग द्वेष परिहरे तो
पामतो शुद्धात्मने ॥८१॥

अर्थ:—जिसने मोह को दूर किया है और आत्मा के सम्यक्तत्त्व को प्राप्त किया है–ऐसा जीव यदि राग-द्वेष को छोड़दे तो शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।

दर्शनमोह को दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने के पश्चात् चारित्रमोह को दूर करने की बात इसमें है। ८०वीं गाथा में कहा हुआ उपाय समझकर जिसने मिथ्यात्वमोह को दूर किया है ऐसा जीव यदि राग-द्वेष को छोड़ता है तो शुद्धात्मा की प्राप्ति करता है।

(अपूर्ण)

ग्राहकों से निवेदन

पाठकों को विदित हो चुका है कि इस वर्ष से हिन्दी आत्मधर्म के विशेष प्रचार की दृष्टि से उसका प्रबन्ध श्री जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ ने अपने हाथ में ले लिया है और उसके छापने का एवं रवानगी आदि का कार्य पूर्वानुसार 'अनेकान्त मुद्रणालय' मोटा आंकड़िया की ओर से ही होता रहेगा।

आत्मधर्म का प्रबन्ध करते हुए आत्मधर्म कार्यालय मोटा आंकड़िया को जो कठिनाइयाँ आती हैं वे सम्पादक और ट्रस्ट के लक्ष्य में आई हैं और वे कठिनाइयाँ ऐसी हैं जो ग्राहकों के सहयोग से दूर हो सकती हैं, इससे ग्राहकों से निम्नानुसार निवेदन किया जाता है:—

(१) यद्यपि हिन्दी आत्मधर्म के ग्राहकों की संख्या करीब १०६६ है तथापि नये वर्ष का चन्दा मात्र २४० ग्राहकों ने ही भरा है और इस कारण शेष ग्राहकों को वी. पी. करना पड़ती है उसमें समय भी अधिक लगता है और कार्यकर्ताओं की आवश्यक्ता पड़ती है। यदि ग्राहक महानुभाव ध्यान रखकर अपना वार्षिक चन्दा समाप्त होने से कुछ समय पूर्व ही मनिआर्डर द्वारा भेजदें तो उन्हें और कार्यालय को भी कष्ट न हो एवं अंक यथासमय प्राप्त होसके।

(२) मोटा आंकड़िया एक छोटा गाँव है, यहां ब्रांच पोस्टऑफिस है इससे वी० पी० कार्य बहुत ही कम होता है, प्रतिदिन २० वी. पी. से अधिक नहीं ली जाती। इस कारण ८०० वी. पी. करने में २-३ माह लग जायेंगे। किन्हीं ग्राहकों को तो अषाढ़ और श्रावण महीने में ही अंक प्राप्त होंगे जिस कारण वे उतने दिनतक स्वाध्याय से वंचित रहेंगे इससे ग्राहकों के उलहने आने लगते हैं। इन सब उलझनों को लक्ष्य में लेकर इस वर्ष वी. पी. राजकोट से करने का प्रबन्ध करदिया है क्योंकि सम्पादक राजकोट में कुछ दिनों के लिये ठहरे हुए थे और राजकोट में ५ पोस्ट आफिस हैं इसने यह कार्य शीघ्र समाप्त करा दिया है; जिससे आपको बैसाख मास के अन्ततक अथवा जेठ मास के प्रारम्भ तक बैसाख का अंक मिल जाये। इसप्रकार इस वर्ष तो जैसे भी जो

कुछ हुआ प्रबन्ध होगया है, लेकिन अगले वर्ष से ग्राहक महानुभाव मनि० द्वारा ही अपना वार्षिक चन्दा भेज देंगे ऐसी आशा है, और इस बात को लक्ष्य में रखने के लिये नम्र निवेदन है।

(३) इस वर्ष का प्रथम अङ्क दशलक्षणधर्म अंक के रूप में प्रगट किया गया है, जिसका रुचिपूर्वक अभ्यास करने से आप भली-भाँति जान सकेंगे कि धर्म क्या है और वह किसप्रकार हो सकता है, उस अंक का स्वाध्याय करने के लिये आप सबसे हमारा नम्र निवेदन है। आनेवाले पर्यूषण पर्व में यदि इस अंक के अनुसार ही अभ्यास करके धर्म का स्वरूप जिज्ञासुजन समझलें तो सम्भव है कि उनके आत्मा को एक महान लाभ होजाये।

(४) आत्मधर्म में जो विषय लिये जाते हैं उनमें निश्चय और व्यवहार दोनों नयों का स्वरूप बताया जाता है और प्रत्येक विषय का सभी पक्षों से निरूपण किया जाता है, तथापि कितने ही ग्राहक स्थूल शंकाएँ और प्रश्न पूछने के लिये बारबार पत्र लिखते हैं। उनकी शंकाओं का समाधान आत्मधर्म के अगले अंकों में आजाता है, इसलिये ग्राहक महानुभाव उन लेखों का भलीप्रकार स्वाध्याय और मनन करें तो अवश्य ही उनकी शंकाओं का समाधान होजायगा। परन्तु शंकाओं का समाधान पत्र-व्यवहार द्वारा होना अशक्य है, क्योंकि यदि एकबार के लिखने से उनकी शंका दूर नहीं हुई तो वे फिर से पत्र लिखते हैं और इस कारण पत्रव्यवहार का कार्य बढ़ता जाता है। यदि उपरोक्त उपाय से शंकाएँ दूर न हों तो उनके समाधान के लिये सोनगढ़ पधारने के लिये हमारा आग्रह है। यदि होसके तो कुछ समय निकालकर सोनगढ़ पधारकर अपनी शंकाओं का समाधान भलीभाँति कर सकते हैं, क्योंकि एक दूसरे के समक्ष जो स्पष्टीकरण और समाधान होसकता है वह पत्रव्यवहार द्वारा होना असम्भव है।

(५) यदि किसीको कोई सूचना देना हो अथवा कोई शिकायत हो तो सीधे जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र) के पते पर पत्र भेजें जिससे योग्य व्यवस्था होसके।

आत्मधर्म

आषाढ़ २४७५

वर्ष पांचवां, अङ्क तीसरा

तीर्थंकरों के पथ पर

श्री तीर्थंकर भगवन्तों ने किसप्रकार कर्मक्षय किया और जगत के जीवों को क्या करने का उपदेश दिया– यह बात श्री प्रवचनसार की ८०–८१–८२वीं गाथाओं में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने बतलाई है। और उन गाथाओं पर पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा किये गये यह विस्तृत प्रवचन तीर्थंकरों के मार्ग का स्वरूप स्पष्टरूप से दर्शाते हैं।

तीर्थंकरों का पथ स्वाश्रय का है। तीर्थंकरों के उपदेश में सम्पूर्ण स्वाश्रय का ही आदेश है। उन्होंने मोक्षमार्ग में अंशमात्र भी पराश्रयभाव का उपदेश नहीं किया। जो जीव स्वाश्रय नहीं करता वह तीर्थंकरों के उपदेश का आशय नहीं समझा। करणानुयोग हो या कथानानुयोग हो, चरणानुयोग हो अथवा द्रव्यानुयोग हो, किन्तु तीर्थंकरों ने तो सर्वत्र स्वाश्रयभाव का ही मोक्षमार्ग के रूप में उपदेश किया है। तीर्थंकरों ने स्वाश्रय द्वारा मुक्ति प्राप्त की है और स्वाश्रय को ही मोक्षमार्ग के रूप में दिव्यध्वनि में कहा है; इससे जो जीव स्वाश्रय की श्रद्धा–ज्ञान करता है वही जीव तीर्थंकरों के पथ पर है। जो जीव स्वाश्रय की श्रद्धा–ज्ञान नहीं करता और निमित्त–व्यवहार–कर्म–पुण्यादि के लक्ष्य से पराश्रय में धर्म मानता है वह तीर्थंकरों के पथ का नहीं है।

ऐसा श्री तीर्थंकरों का पथ ज्ञानी बतलाते हैं और जगत के जीवों को पुकारते हैं कि हे जगत के जीवो! मोक्षमार्ग आत्माश्रित है। तुम पराश्रय को छोड़कर इस स्वाश्रित मार्ग में निःशंकरूप से चले आओ! इसी मार्ग से तुम्हें मुक्ति मिलेगी, अन्य कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है। श्री तीर्थंकरदेवों ने इसी मार्ग से मुक्ति प्राप्त की है और जगत को इसी मार्ग का उपदेश दिया है।

"भगवान ने परजीवों को बचाया और उनकी सेवा करने का उपदेश दिया, भगवान ने स्याद्वाद से समस्त धर्मों का समन्वय किया, भगवान ने 'जियो और जीने दो' ऐसा कहा है, भगवान ने परजीवों की हिंसा को रोका, भगवान ने ऐसा कहा कि व्यवहार करते-करते धर्म होता है"–इत्यादि अनेकप्रकार से पराश्रयता में धर्म माना जारहा है और इसप्रकार भगवान के नामपर इससमय मिथ्या मान्यताओं का जोर शोर से प्रचार होरहा है।

सभी तीर्थंकरों ने क्या किया था और क्या कहा था ? वह इस प्रवचन में श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव के कथनानुसार बतलाया गया है। तीर्थंकरों के यथार्थ मार्ग को बतलाने वाला यह व्याख्यान समाज के सभी आत्मार्थी जीव बराबर पढ़ें. मनन एवं मंथन करें और तीर्थंकरों के पवित्रपंथ को यथार्थतया जानकर, विपरीत मार्ग से हटकर उसमें विचरण करें, तीर्थंकर देव के सच्चे अनुयायी बनें—ऐसी भावना है। [सम्पादक]

*

तीर्थंकरों ने क्या किया और क्या कहा ?

श्री प्रवचनसार की ८०-८१वीं गाथा में मोहका सर्वथा नाश करके सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा की प्राप्ति का उपाय आचार्यदेवने वर्णित किया। अब ८२वीं गाथामें समस्त तीर्थंकरों को साक्षीरूपसे लेकर आचार्यदेव कहते हैं कि जो उपाय यहां बतलाया है वही उपाय समस्त तीर्थंकरों ने स्वतः किया है और जगतके भव्य जीवों को ऐसा ही उपदेश किया है, उन्हें नमस्कार हो !

यह गाथा अत्यंत उच्च है। पुरुषार्थकी उग्रताकी इसमें बात है। अब, यही एक (पूर्वोक्त गाथाओं में जिसका वर्णन है वही) भगवन्तों ने स्वतः अनुभव करके दर्शाया हुआ निःश्रेयसका (मोक्ष का) पारमार्थिक पंथ है—इसप्रकार मतिको व्यवस्थित करते हैं:—

सव्वे वि य अरहंता
तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेसं
णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥८२॥

अर्हंत सौ कर्मो तणो
करी नाश अेज विधि वडे,
उपदेश पण अेमज करी
निर्वृत थया; नमुं तेमने ॥८२॥

अर्थः—समस्त अरिहंत भगवान इसी विधि से कर्मांशोंका (ज्ञानावरणादि कर्मभेदों का) क्षय करके तथा (अन्य सबको भी) इसीप्रकार उपदेश करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं; उन्हें नमस्कार हो !

इन ८०–८१ और ८२ गाथाओं में अनन्त तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि का; अनन्त संत-मुनिओं का और सर्व परमागमशास्त्रों का आशय आजाता है।

जो स्वाश्रय स्वभाव की प्रतीति करे उसे पराश्रित भावों की प्रतीति दूर होकर क्षायिकसम्यक्दर्शन हो-ऐसा स्वभाव जिसने श्रद्धा-ज्ञानमें लिया है वह जीव समस्त तीर्थंकरों के उपदेश के रहस्य को समझ गया है, वह जीव स्वतः तीर्थंकरों के पथ का है।

अनन्त तीर्थंकरोंने ८०-८१वीं गाथा में प्ररूपित मार्ग का स्वतः अनुभवन करके कर्मों का क्षय किया और जगत के जीवों को उसी मार्ग का उपदेश करके वे मुक्ति को प्राप्त हुए। अरिहंतोंने स्वतः जो किया है वही कहा है; जिस मार्गसे स्वतः पूर्ण सुख प्रगट किया वही मार्ग जगत के जीवों को दर्शाया है। अरिहंतों ने जो कहा है वही निःश्रेयसका सच्चा मार्ग है। इसप्रकार निश्चित् करके आचार्यदेव अपनी मति को व्यवस्थित करते हैं; लाखों दुनियां उसे न माने और विरोध करे तो भी अपनी मति न बदले ऐसी अप्रतिहत श्रद्धाकी बात है। मुझे मुक्तिके लिये किसी कालकी अपेक्षा नहीं है, क्षेत्रकी, महा-विदेह की अथवा भगवानकी अपेक्षा नहीं है, मात्र मैं ही सबसे उदासीन होकर अपने द्रव्य-गुण में पर्यायको एकमेक करूं-वही मेरी मुक्तिका परमार्थ साधन है। जो अपने पूर्णस्वभावको पहिचान कर उसमें लीन हुआ उसे मुक्ति के वास्तविक साधन प्राप्त हो-जाते हैं। त्रिकाल में यह एकही मार्ग है, सभी तीर्थंकरों ने इसी एक मार्ग का उपदेश दिया है। यहाँपर आचार्यदेव को स्वाश्रित मोक्षमार्ग की महिमा आने से वे कहते हैं कि अहो! उन अरिहंतोको नम-स्कार हो और उनके बताये हुए मार्ग को नमस्कार हो!

अरिहंत कहते हैं कि-हमने अपने द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेकर केवलज्ञान प्राप्त किया है, और हे जगतके जीवो! तुम भी अपने आत्माका ही आश्रय करो! मुक्तिका मार्ग स्वाभावाश्रित है, इसलिये पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव को जानकर उसीका आश्रय करो! इसप्रकार तीर्थंकरों के उपदेशमें तो पुरुषार्थ का आदेश है, किन्तु तीर्थं-करोंने उपदेशमें यह नहीं कहा कि: 'कर्म ढीले होंगे या काललब्धि का विपाक होगा तब मुक्ति होगी, या देव गुरुके आश्रयसे मुक्ति होगी,

अथवा हमने केवलज्ञान में देखा होगा तब तुम्हारी मुक्ति होगी,–यह सब तो पराश्रय की बातें हैं जैसा हमारा (अरिहंतों का) आत्मस्वभाव है वैसा ही तुम्हारा आत्मस्वभाव है, उसे जानकर उसीका आश्रय करो, देव-गुरु-शास्त्रका आश्रय छोड़ो, स्वाश्रयकी प्रतीति करके उसमें एकता करो, वही मुक्तिका उपाय है–ऐसा सभी अरिहंतोंका उपदेश है। 'तेरी काललब्धिका विपाक होगा तब मुक्ति होगी, पुरुषार्थ काम नहीं आयेगा'–ऐसी भगवान की वाणी नहीं है। तीर्थंकरोंकी दिव्यवाणी जगत के जीवों को मोक्ष-मार्ग के पुरुषार्थ में युक्त करने के लिये ही है, किन्तु मोक्षमार्ग के पुरुषार्थ से विमुख करने के लिये नहीं है।

पराश्रय से मुक्ति रुकती है

हे जीव! पूर्ण अवसर आ-चुका है, तू पुरुषार्थ कर! तू हमारे जैसा ही है। जिसप्रकार हमारे किसी परका आश्रय नहीं है उसीप्रकार तेरे भी किसीका आश्रय नहीं है; हमारा भी आश्रय तुझे नहीं है। तू अपने स्वभाव का आश्रय ले तो तेरी मुक्ति के लिये कालका विपाक हो ही गया है। किन्तु अपना आश्रय नहीं करता इसलिये तेरी मुक्ति रुक जाती है। काल कहीं तेरी मुक्तिको नहीं रोकता है।

स्वाश्रय के पुरुषार्थ से ही मुक्ति का काल पकता है

'काल पके तब मुक्ति होती है' यह वाक्य अज्ञानियों का है। क्योंकि कालका लक्ष्य पराश्रय है अथवा स्वाश्रय? पराश्रयभावसे कभी मुक्ति होती ही नहीं। 'काल पके तब' इसमें अपने स्वभावका स्वीकार कहाँ आया? अपने स्वभावको स्वीकार किये बिना मुक्ति कहाँसे होगी? जो स्वभाव को स्वीकार करता है उसके लिये काल पक ही गया है, और जो स्वभाव को स्वीकार न करे उसके लिये काल नहीं पका है। स्वभावका स्वीकार सो स्वाश्रय का पुरुषार्थ है, और स्वाश्रय से मुक्ति होती है। 'काल पके तब मुक्ति हो' इस मान्यतामें तो काल के समक्ष देखना ही रहा, किन्तु स्वभाव का आश्रय करने के स्वतंत्र पुरु-षार्थकी बात नहीं आई। मोक्षमार्ग पराधीन नहीं है, किन्तु वह स्वतंत्र पुरुषार्थ के आधीन है। 'काल पके तब मुक्ति हो' इसमें पराश्रय है। पराश्रयभाव और मोक्षमार्ग–यह एक

दूसरेके विरोधी हैं। स्वभावका आश्रय छोड़कर काल पर लक्ष गया सो पराश्रय है, पराश्रय अधर्म है। इसलिये काल पके तब मुक्ति हो–यह दृष्टि मिथ्या है। अपने पूर्ण आत्माकी प्रतीति और उसमें स्थिरता सो स्वाश्रय मात्र है; उससे मुक्ति होती है। जो स्वाश्रय करे उसे काल पक गया है–ऐसा कहा जाता है। जिसने स्वाश्रय के बदले पराश्रय से मुक्ति मानी है वह जीव मिथ्यादृष्टि है, वह अरिहंतों के उपदेशको नहीं समझा है, उसने अरिहंतों को नहीं पहिचाना है।

निमित्त अथवा व्यवहारादिका आश्रय करनेकी आज्ञा भगवानकी नहीं है।

पूर्वकथित मार्ग भगवानने स्वतः ही अनुभव करके दर्शाया हुआ एकमात्र परमार्थ मार्ग है, इसलिये इसके अतरिक्त अन्य सभी मार्ग मिथ्या हैं–ऐसा उसमें आजाता है। निमित्त मिलें तो जीवकी मुक्ति हो, काल पके तो मुक्ति हो, निमित्तद्वारा हो, व्यवहार करते-करते हो, पुण्य करते-करते मुक्ति हो–यह सभी मान्यताएँ पराश्रयदृष्टि वालों की हैं, वह सर्वज्ञ भगवन्तों के श्रीमुखकी आज्ञा नहीं है। सर्वज्ञभगवान ने वैसा किया नहीं है और न अपने ज्ञानमें ही वैसा जाना है। जो कर्मका, कालका, निमित्तका अथवा रागादिका अवलम्बन मानते हैं उनकी मुक्ति भगवानने नहीं देखी है, किन्तु जो पराश्रयबुद्धि छोड़कर अपने शुद्ध आत्मस्वभावका निर्णय करके स्वाश्रय से पुरुषार्थ करते हैं वे ही जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! ऐसा स्वाश्रय मुक्तिमार्ग बताने वाले अरिहंतों को हमारा नमस्कार हो!

स्वाश्रय की स्वीकृति के बिना मुक्तिमार्ग नहीं है।

मुक्ति अर्थात् परके सम्बन्ध से रहित मात्र शुद्ध आत्मा। इसका उपाय परके आश्रयसे नहीं है। जिनका वीर्य अभी पराश्रयकी श्रद्धामें रुका है वे जीव मुक्तिके मार्गका निर्णय नहीं कर सकते। तू मुक्तिकी बात करता है या परकी? यदि मुक्तिकी बात करता है तो पराश्रयकी श्रद्धा को छोड़! अरिहंतोंने पराश्रय नहीं किया है और पराश्रयको मोक्षमार्ग नहीं कहा है।

जगत को स्वाश्रयके मार्गदर्शक अरिहंतों को श्रीकुंदकुंदाचार्य नमस्कार करते हैं

श्री कुंदकुंदाचार्य कहते हैं कि 'णमोतेसिं' उन अरिहंतों को नमस्कार हो ! अहोहो, नाथ ! आपने अपने आत्मामें तो स्वभाव का सम्पूर्ण आश्रय प्रगट करके पराश्रय भावोंकी धूल उड़ादी, और अन्यजीवों के लिये आपके कथनमें भी पराश्रयकी धूल ही है ! आपका दिव्यउपदेश जीवों को पराश्रय से छुड़ाता है । आचार्यदेव के अधिकांश स्वाश्रयभाव तो प्रगट हुआ है और पूर्ण स्वाश्रय प्रगट करनेकी तत्परता है, इससे स्वाश्रय मुक्तिमार्ग का प्रमोद आने से कहते हैं कि- अहो ! जगत के जीवों को स्वाश्रयका उपदेश देनेवाले अरिहंतो ! आपको नमस्कार हो ! हे जिन भगवन्तो ! आपको नमस्कार करता हूं ।

अज्ञानभाव से अनन्तप्रकारके पराश्रय में अज्ञानी परिभ्रमण करते हैं । अहो ! जगतमें इतने-इतने पराश्रयभाव हैं, उन सबसे छुड़ाकर आत्माको एक अपने स्वभावके आश्रयमें ही लाकर स्थित करदिया है । हे तीर्थंकरो ! आप स्वतः भी स्वभावकी श्रद्धा और स्थिरता करके ही मुक्त हुए हैं और अपनी वाणी में जगत के मुमुक्षुओं को भी इसीप्रकार का उपदेश किया है । अहो, अरिहंतो ! आपको नमस्कार, आपके स्वाश्रितमार्ग को नमस्कार । मेरा आत्मा स्वाश्रय की साक्षी देता हुआ आपके अप्रतिहत मार्ग में चला आरहा है ।

अरिहंतों को नमन करनेवाले जीव कैसे होते हैं ?

हेनाथ ! हमें स्वाश्रय का उल्लास आता है । धन्य है प्रभु आपके कथनको ! आपको हम नमस्कार करते हैं । हमारा आत्मा स्वाश्रयमें नमन करता है, आपकी भाँति हम भी स्वाश्रयपूर्वक अरिहंतदशा प्रगट करनेके लिये आपके मार्गका अनुसरण करते चले आरहे हैं । अहो ! ऐसा नमस्कार कौन करता है ? किसे ऐसा उल्लास होता है ? जिसने अपने स्वभावकी श्रद्धा से स्वाश्रयकी ओर उन्मुखता की है और पराश्रय के अंशमात्रका भी निषेध किया है वह स्वाश्रयके उल्लास से अरिहंतों को नमस्कार करता है ।

अरिहन्तों के पदचिन्हों पर

अहो अरिहंतो ! मैं आपके पदचिन्हों पर चला आरहा हूँ । सर्व अरिहन्तों को मेरा नमस्कार है । 'समस्त अरिहन्तों ने इस एकही मार्ग से पूर्णता की है और उपदेश

में भी उन्होंने ऐसा ही कहा है' ऐसा कहकर पश्चात् उन सभी अरिहन्तों को आचार्यदेव ने नमस्कार किया है, इसमें आचार्यदेव की उच्च झन्कार है। 'उपदेश भी ऐसा ही किया है' ऐसा कहकर आचार्यदेव उपदेश देनेवाले अरिहंतों की अर्थात् तीर्थंकरों की बात लेना चाहते हैं। तीर्थंकरों को केवलज्ञान प्रगट होने के पश्चात् नियम से दिव्यध्वनि छूटती है और उस दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा ही स्वाश्रय के मार्ग का जगत के मुमुक्षुओं को उपदेश देते हैं। और उसे सुनकर स्वाश्रय करनेवाले जीव भी होते ही हैं। इसप्रकार संधि द्वारा स्वाश्रयमार्ग का अच्छिन्नप्रवाह बतलाया है।

मुक्त होने का उपाय

इस आत्मा का स्वभाव अरिहंत जैसा ही है। अरिहंत का द्रव्य एकरूप रहनेवाला सदृश्य (ध्रुव) तत्व पूर्णस्वभाव से है, वैसा ही अपना आत्मद्रव्य है। अरिहंत समान अपने आत्माको जाने बिना कोई जीव धर्मको प्राप्त नहीं कर सकता। त्रिकाल के समस्त तीर्थंकर इसी उपाय के द्वारा मोहका नाश करके केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए हैं, होरहे हैं और होंगे।

अरिहन्तों ने क्या किया और क्या कहा?

जो अरिहंत हुए हैं उन आत्माओं ने प्रथम क्या किया? पहले तो उनके पर्यायमें राग-द्वेष-मोह थे, किन्तु उन राग-द्वेष-मोहको अपना स्वरूप न मानकर, अरिहंतके शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय को पहिचानकर अपने आत्माको भी वैसाही जाना। अरिहंतके आत्मद्रव्य और चैतन्य गुण तो निरंतर एकरूप थे और उस स्वभाव के आश्रयसे पूर्ण निर्मल पर्याय नवीन प्रगट की है; रागादि आत्मा का मूलस्वरूप नहीं था इससे उसका नाश होगया है। अरिहंत की भाँति अपना आत्मा भी द्रव्यसे और गुणसे तो इससमय भी परिपूर्ण एकरूप है, पर्यायमें जो मोहभाव है वह अपना स्वरूप नहीं है—ऐसी पहिचान करके द्रव्य-गुणका आश्रय करनेसे पर्यायमें से मोह दूर होता है और शुद्धता प्रगट होती है; इसप्रकार अरिहंत होनेवाले सभी आत्माओंने अरिहंतदशा प्रगट होने से पूर्व जाना था। इसी रीति से प्रथम तो दर्शनमोह का नाश करके क्षायिकसम्यग्दर्शन प्रगट किया था और फिर स्वभावके ही आश्रयसे राग-द्वेष को दूर करके केवलज्ञान प्रगट

करके अरिहंत हुए थे; और अरिहंत होने के पश्चात् जो सहज दिव्यध्वनि खिरी थी उसमें इसी विधि से कर्म-क्षय होने का उपदेश था।

आत्मा सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप है, उसमें शरीर नहीं है, मन नहीं है, वाणी नहीं है, कर्म नहीं है, राग-द्वेष और अपूर्णता नहीं है। जैसे अरिहंत हैं वैसा ही पूर्ण आत्मा का स्वभाव है; उस स्वभावके आश्रय से ही धर्म है। पराश्रय की किसी भी वृत्ति में धर्म नहीं है। अरिहंतों का आश्रय छोड़कर तथा अपने में भी द्रव्य-गुण-पर्याय के भेदों का आश्रय छोड़कर, एकरूप अभेद द्रव्य के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान करने से मिथ्यात्व का नाश होता है और उस अभेदस्वभाव में ही एकाग्रता करने से रागद्वेष का नाश होता है। यही उपाय अनन्त तीर्थंकरों ने स्वतः किया है और इसी उपायका उपदेश दिया है।

एक ही विधि

देखो, यहाँपर कुन्दकुन्द प्रभु मोक्ष का उपाय बतलाते हैं और उसमें सर्व तीर्थंकरों की साक्षी देते हैं। अपना आत्मा ज्ञान-दर्शन-आनन्द-स्वरूप है, उसे लक्ष्य में लेकर उसीके आश्रय से शुद्धोपयोग प्रगट करके भेद और व्यवहार का क्षय करके अरिहंत भगवानने केवलज्ञान प्रगट किया है। त्रिकाल में मोह का क्षय करने की यह एक ही विधि है। तीर्थंकरों ने इसी विधि का आश्रय लिया है, और यही विधि कही है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई विधि मोक्ष के लिये है ही नहीं।

'निश्चयस्वभाव का आश्रय' यह एक ही विधि भगवान ने की है और कही है।

'मैं शरीरादि की क्रिया का कर्ता हूँ अथवा पुण्य-पापकी क्रिया मेरी है'—इसप्रकारकी (विकार के साथ के एकत्व की) मान्यता का स्वभाव के आश्रय से नाश करके और अपने स्वभावमें एकता करके समस्त तीर्थंकर केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं; और पश्चात् दिव्यध्वनि में अन्य जीवोंको भी इसीप्रकार मार्ग दर्शाकर वे मोक्षको प्राप्त हुए हैं। तीर्थंकरोंने स्वतः निश्चयस्वभावका आश्रय किया और व्यवहार के आश्रय को छोड़ा; दिव्यध्वनि में भी निश्चयरत्नत्रय का ही मोक्षमार्ग के रूपमें उपदेश दिया और व्यवहार-रत्नत्रय वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं

है किन्तु बन्धमार्ग है–ऐसा उपदेश भगवान ने दिया कोई तीर्थंकर व्यवहार रत्नत्रय से केवलज्ञान को प्राप्त नहीं हुए; स्वभाव आश्रित निश्चयश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से ही समस्त तीर्थंकर केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं। यह एकही प्रकारका मार्ग है। पुण्य-परिणाम मोक्ष का कारण हो–ऐसा उपदेश भगवानने नहीं किया है। तथा ऐसे मार्ग का भी उपदेश नहीं किया कि पुण्यपरिणाम से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र होते हैं। मोक्षमार्ग की विधि एक ही है कि–अपने शुद्धात्मा को पहिचानकर उसके आश्रय से मोहका क्षय करना। इससे विरुद्ध जितनी भी विधि है वह मोक्षमार्ग नहीं किन्तु संसारमार्ग है।

भगवान के उपदेश का सार है–'स्वभाव का आश्रय करना'

जैसा केवलीभगवान का ज्ञानस्वभाव है वैसा ही मेरा ज्ञानस्वभाव है, ऐसा निर्णय करके अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय करने से पर्याय में ज्ञानकी अपूर्णता दूर होती है और पूर्णता प्रगट होती है। पर्यायकी अपूर्णता विकार के आश्रय से दूर नहीं होती। भगवान के उपदेशका सार क्या है? "स्वभावका आश्रय करना"। स्वभाव का आश्रय ही निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। स्वभावके आश्रय का ही उपदेश भगवान ने किया है और सर्व पराश्रय को छुड़ाया है।

तीर्थंकरों का पथ

भगवन्तों ने स्वभाव के आश्रय से ही पूर्णता प्रगट की है और कर्मोंका क्षय किया है। जिस विधि से अरिहंत भगवन्तोंने स्वतः कर्मक्षय किया है उसीप्रकार उपदेश भी किया है। आत्मस्वभाव के आश्रय से ही मुक्ति होती है और पर के आश्रय से मुक्ति नहीं होती–इसप्रकार सभी अरिहंतोंने उपदेश किया है। यहाँ सिद्ध भगवानकी बात न लेकर तीर्थंकर–अरिहंतों की बात ली है। तीर्थंकरों के नियम से दिव्यध्वनि होती है और उस दिव्यध्वनिमें स्वाश्रय का उपदेश सुनकर अपने में स्वाश्रय प्रगट करके तीर्थंकरों के पथपर चलने वाले जीव होते ही हैं। इसप्रकार वक्ता और श्रोता की संधि से बात है।

अरिहंतों ने, उपदेशित स्वाश्रित मुक्तिमार्ग में 'व्यवहार का ज्ञान कराया है किन्तु उसका स्वाश्रय छुड़ाया है।

अरिहंतों ने सम्पूर्ण मोहका क्षय करके केवलज्ञान प्रगट किया है, उनको उपदेशादि की कोई इच्छा नहीं होती, तथापि सहज रूप से दिव्यध्वनि में जगत के मुमुक्षुओं को ऐसा उपदेश किया है कि–हे जीवो ! जैसा हमारा आत्मा है वैसा ही तुम्हारे आत्मा का स्वभाव भी है। जैसे हमारे द्रव्य–गुण–पर्याय हैं वैसे ही द्रव्य-गुण–पर्याय तुम्हारे आत्मा का स्वरूप है। इसके अतिरिक्त अन्य जो पराश्रित विकारी भाव हैं वह तुम्हारा स्वरूप नहीं है। व्यवहार-रत्नत्रय के परिणाम भी बाह्यलक्ष्य से होते हैं, वह बन्धमार्ग है। जो अपने स्वभाव के आश्रय से हो वही मुक्तिमार्ग है। देव गुरु शास्त्र की श्रद्धा, नवतत्व का ज्ञान तथा पंच महाव्रत का पालन सो व्यवहार-चारित्र है, भगवानने उसके आधारसे मोक्षमार्ग नहीं कहा है। भगवान ने स्वतः भी वह व्यवहार-रत्नत्रय छोड़कर पूर्णता प्रगट की है, कहीं व्यवहाररत्नत्रय के अवलंबन से पूर्णता नहीं हुई है। भगवान के उपदेशमें व्यवहार का स्वरूप तो बराबर बतलाया है परन्तु उस व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं कहा। मोक्षमार्ग तो निश्चयस्वभाव के आश्रय से ही है। व्यवहार के आश्रय से तो बंधमार्ग है। शुद्ध आत्माकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें पुण्य-पापरहित स्थिरता को ही भगवानने मोक्षमार्ग कहा है और उसका उपदेश दिया है। निश्चय और व्यवहार- दोनोंका स्वरूप बतलाकर भी, मोक्षमार्ग के रूप में तो निश्चय का ही उपदेश भगवानने किया है व्यवहारका नहीं; किन्तु उसका अवलम्बन छुड़ाने के लिये उसका ज्ञान कराया है। साधकदशा में बीचमें शुभरागरूप व्यवहार आजाता है किन्तु वह मुक्ति-मार्ग नहीं है–ऐसा भगवान ने कहा है। इसप्रकार भगवानने स्वाश्रय का ही उपदेश किया है। अनन्त तीर्थंकरों के उपदेशका सार इस गाथा में है। स्वाश्रितभाव का उल्लास आने से आचार्यदेव कहते हैं कि अहो ! भगवन्तों ने ऐसा स्वाश्रित मुक्तिमार्ग दर्शाया, उन्हें नमस्कार हो !

अरिहंतों का उपदेश समझने वाला जीव उल्लास से नतमस्तक होजाता है !

'अपना आत्मा अरिहंत भगवानके द्रव्य–गुण–पर्याय जैसा है, इसलिये अपनेको अरिहंतका आश्रय नहीं है किन्तु अपने आत्माका ही आश्रय है। प्रथम अरिहंत का लक्ष्य होता है किन्तु वह धर्म नहीं है, क्योंकि वह पराश्रय है। अरिहंत का लक्ष्य छोड़कर अपने परिपूर्ण स्वभावको अभेदरूप से लक्ष्य में लेना सो स्वाश्रय है, वह धर्म है। हे जीव ! तेरा आत्मा पूर्ण है, उसे जानकर उसके आश्रय से स्थिर हो–यही मुक्ति का मार्ग है–ऐसा उपदेश भगवानने तबतक किया जबतक उनके अरिहंत दशा थी। पश्चात् वाणी बन्द होगई, योगका कम्पन दूर होगया और भगवान निवृत्त हुये–सिद्ध होगये। अहो, भगवन्तो ! आपको नमस्कार हो, आपका पवित्र उपदेश हमारे अन्तरंगमें जम गया है और स्वाश्रयका अह्लाद उछल रहा है। प्रभो ! हम और तो क्या कहें ? नाथ ! 'नमो भगवद्भयः' भगवन्तों को नमस्कार हो। इसप्रकार अरिहंतोका उपदेश समझनेवाला जीव स्वाश्रय के उल्लास से भगवान को नमस्कार करता है।

अरिहंतों के पथ पर

किसी पुण्यभावसे अथवा निमित्तों के अवलम्बनसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु अपने द्रव्य–गुण पर्याय से अभेदस्वभावके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है। हमें ऐसा पवित्र उपदेश करके स्वाश्रयका मार्ग दर्शाया है, उसके लिये हे नाथ ! आपको हमारा नमस्कार हो। वर्तमानमें शुभविकल्प है, किन्तु उसओर न जाकर हम स्वभाव की महिमा की ओर सन्मुख होरहे हैं। स्वभावके आश्रयसे धर्मकी वृद्धि ही है। आपने जो दशा प्रगट की है उसे हम नमस्कार करके रागरहित चैतन्यस्वभाव का ही आश्रय और विनय करते हैं, विकल्पका आश्रय अथवा आदर नहिं करते। हे जिनेश ! आपका उपदेश सुनकर हमें स्वभाव और परभाव का भेदज्ञान हुआ–हमें निश्चय स्वाश्रय रागरहित स्वभाव प्राप्त हुआ–इससे हम आपको नमस्कार करते हैं, आपके दर्शाये हुए मार्ग पर आरहे हैं।

जिसने अपने आत्मा में स्वाश्रय का स्वीकार किया उसने अनन्त तीर्थंकरों के मार्ग को अंगीकार किया है। और जिसने किसी भी प्रकार से पराश्रयमें (जड़की क्रियामें, रागमें, निमित्तके आश्रयमें अथवा व्यवहार में) धर्म माना है, वह जीव अनन्त तीर्थंकरों के मार्ग का उल्लंघन करनेवाला है। सर्व तीर्थंकर स्वाश्रय भाव से ही कर्मों का नाश करके केवली हुए हैं और फिर उन्होंने उपदेश भी ऐसा ही किया है कि—स्वाश्रयभाव से धर्म है और पराश्रयभाव से अधर्म है। पुण्य भी पराश्रितभाव है, उसमें धर्म नहीं है। ऐसा होनेपर भी जो जीव स्वाश्रय को अंगीकार नहीं करता और पुण्यादि से धर्म मानता है वह जीव अनन्त तीर्थंकरों के उपदेश को नहीं मानता—वह अनन्त तीर्थंकरों का शत्रु महा मिथ्यात्वी है। यदि निर्मल सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो तो वह आत्मा के आधार से प्रगट होता है, किसी पर के आश्रय से प्रगट नहीं होता। ऐसा समझकर जो जीव स्वाश्रय करे वही जीव तीर्थंकरों के पथपर चलनेवाला है।

टीका

अतीतकाल में क्रमशः होगये समस्त तीर्थंकर भगवान, प्रकारान्तर की असम्भवता होने के कारण जिसमें द्वैत संभव नहीं है—ऐसे, इसी एकप्रकार से कर्मांशों के क्षय का स्वतः अनुभव करके (तथा) परमात्मपने के कारण भविष्यकाल में अथवा इस (वर्तमान)काल में अन्य मुमुक्षुओं को भी इसीप्रकार उसका (कर्मक्षय का) उपदेश करके, निश्रेयस को प्राप्त हुए हैं, इसलिये निर्वाण का अन्य (कोई) मार्ग नहीं है—ऐसा निश्चित होता है। अथवा, प्रलाप से बस करो, हमारी मति व्यवस्थित हुई है। भगवन्तों को नमस्कार हो!

अच्छिन्न धर्मप्रवाह

गतकालमें क्रमशः एकके बाद एक अनन्त तीर्थंकर होगये हैं। क्रमशः क्यों कहा? जैसे संसार अनादि-अनन्त है, उसीप्रकार स्वभाव को समझकर मोक्ष जानेवाले जीवोंका प्रवाह भी अनादि-अनन्त है। अनादि से एक के बाद एक तीर्थंकर होते चले आरहे हैं और उनके निमित्त से स्वभाव को समझकर मोक्षमें जानेवाले जीव भी

क्रमशः होते आरहे हैं। तीर्थंकरों का और मोक्षगामी जीवों का सर्वथा अभाव कभी नहीं होता। इसप्रकार धर्म का अच्छिन्नप्रवाह अनादि-अनन्त है।

यहाँपर मुख्यरूप से तीर्थंकरों की बात ली है। वाणीरहित-मूक केवली भगवन्तों की बात मुख्यरूप से नहीं है; क्योंकि तीर्थंकरों के नियम से दिव्यध्वनि होती है और उसके द्वारा स्वाश्रयस्वभाव को समझकर मोक्षगामी जीव भी होते हैं।

सभी तीर्थंकरों द्वारा कही गई मोक्ष की एक ही विधि

क्रमशः अनन्त तीर्थंकर हुए, अर्थात् अनन्तकाल पूर्व हुए उन्होंने और इसीसमय हुए उन्होंने-सभीने एक ही विधि का सेवन किया था। जो अनन्तकाल पूर्व हुए उन्होंने दूसरी विधि और जो वर्तमान में हुए उन्होंने कोई अन्य विधि की थी-ऐसा नहीं है क्योंकि मोक्ष की विधि दोप्रकार की नहीं है, एक ही प्रकारकी है। अभीतक जितने तीर्थंकर भगवान होगये हैं उन सबने क्या विधि की थी, और क्या उपदेश किया था? वह आचार्यदेव ने ८०—८१वीं गाथा में बतलाया है। श्री आचार्यदेव स्वतः स्वाश्रयस्वभाव की निःशंकता से सर्व तीर्थंकरोंकी साक्षी देते हैं कि-मोक्ष का जो उपाय हमने दर्शाया है वही उपाय सर्व तीर्थंकरों ने किया है और उसीका उपदेश समस्त तीर्थंकरों ने दिया है। मैं कोई नवीन उपाय नहीं बतला रहा हूँ, किन्तु अनन्त तीर्थंकरों ने जो किया और समवसरण में जो उपाय कह गये हैं वही मैं भी कह रहा हूँ।

अरिहंत के समान अपने आत्मस्वभाव को जानकर और शुद्धोपयोग द्वारा उसीका आश्रय करने से मोहका क्षय होता है; इसप्रकार ८०-८१ गाथा में जो मोहक्षयका उपाय बतलाया है उसीके द्वारा मोहका क्षय होता है, अन्यप्रकार से मोहका क्षय नहीं होता। अनन्त तीर्थंकरो ने एक ही प्रकार से कर्मों का नाश किया है। 'किन्हीं तीर्थंकरों ने निश्चयके आश्रयसे कर्मक्षय किया और किन्हींने व्यवहार के आश्रय से'-ऐसा नहीं है। मोक्षका मार्ग द्वैतरूप नहीं किन्तु एकही प्रकारका है।

एकान्त और अनेकान्त का स्वरूप: निश्चय और व्यवहार–दोनों को मुक्ति का उपाय मानना सो एकांत है।

वर्तमान पर्याय में अपूर्णता और अशुद्धता होनेपर भी उस पर्याय जितना सम्पूर्ण आत्मा को न मानकर, "अरिहंत समान ही परिपूर्ण हूँ" इसप्रकार अरिहंत द्वारा अपने परिपूर्ण स्वभाव की प्रतीति करके और उसीमें स्थिर होकर–इस एकही प्रकार से समस्त तीर्थकरों ने कर्मों का क्षय किया है। यह 'एकही उपाय है' इसीमें अनेकान्त आजाता है। स्वाश्रय ही उपाय है और पराश्रय उपाय नहीं है ऐसा अनेकान्त है; निश्चय ही उपाय है और व्यवहार उपाय नहीं है ऐसा अनेकान्त है। शुद्धउपयोग ही उपाय है और शुभ-अशुभ उपयोग उपाय नहीं है-ऐसा अनेकान्त है। किन्तु निश्चय सो मुक्ति का उपाय है और व्यवहार भी मुक्तिका उपाय है, स्वाश्रय भी मुक्ति का उपाय है और पराश्रय भी उपाय है, शुद्ध उपयोग उपाय है और अशुद्ध उपयोग भी उपाय है–ऐसा मानना सो एकांत-मिथ्यात्व है। एकप्रकार है दूसरा कोई प्रकार नहीं है यही अनेकान्तस्वरूप है। आत्मस्वभाव से धर्म होता है और राग से भी धर्म होता है-ऐसी मान्यता में आत्मा और रागकी एकत्वबुद्धि है, वह एकान्त है। मोक्षकी एक ही विधि है दूसरी कोई विधि नहीं है। आत्मा की श्रद्धा–ज्ञान–स्थिरता से ही धर्म होता है अन्यप्रकार से नहीं होता; निश्चयरत्नत्रय से ही धर्म होता है, व्यवहाररत्नत्रय से धर्म नहीं होता–इसीका नाम अनेकान्त है। निश्चयरत्नत्रय से धर्म होता है और व्यवहाररत्नत्रय से भी धर्म होता है–ऐसी मान्यतामें निश्चय-व्यवहार की एकत्वबुद्धि है वह एकान्त है। निमित्तों के आश्रय से धर्म होता है ऐसा जो मानता है उसे स्व-पर में एकत्वबुद्धिरूप एकान्त है। अपने स्वभावमें पुण्य-पापकी नास्ति है। यदि पुण्य पाप क्रिया को अपने स्वरूपमें नास्ति न माने तो मिथ्यात्व है। जो पुण्य-पाप से आत्माको लाभ मानता है उसने विकार को और आत्मा को एक माना है उसे अरिहंत समान अपने आत्मा की श्रद्धा नहीं है, वह अरिहंतों के मार्ग पर चलनेवाला नहीं है।

प्रथम या पश्चात् कभी भी शुभ-राग से धर्म नहीं होता।

भले ही सम्यग्दर्शन होने से प्रथम सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की ओर का शुभराग होता है, किन्तु उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता। जब देव-गुरु-शास्त्र का ओर रागका अवलम्बन छोड़कर अपने चैतन्य-स्वभाव का अवलम्बन (श्रद्धा-ज्ञान) करे तभी सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् पूर्ण वीतराग चारित्र होने से पूर्व जो शुभराग होता है वह भी चारित्र धर्मका कारण नहीं है। जो स्वभावाश्रित शुद्ध उपयोग है वही चारित्र-धर्म है। इसी एकप्रकार से अनंत तीर्थंकर भगवन्तों ने कर्मोंका क्षय किया है। स्वभावकी श्रद्धा ज्ञान और स्थिरता एक ही प्रकार का मोक्ष-मार्ग है। इसप्रकारसे तीर्थंकरोंने समस्त कर्मोंका क्षय करके शुद्धात्म स्वरूपका स्वत: अनुभव किया है। ऐसे तीर्थंकर सर्वज्ञ और वीतराग होनेसे आप्त हैं, जगत के जीवों को आत्महित के उपदेष्टा हैं। तीर्थंकरोंका उपदेश परम विश्वास योग्य है। तीर्थंकरों ने क्या उपदेश किया?

तीर्थंकरों द्वारा उपदेशित त्रिकाल के सर्व मुमुक्षुओं को एक ही उपाय

भगवानके श्रीमुख से ऐसी वाणी निकली है कि हम जो उपदेश कर रहे हैं उसीप्रकार से इसकाल के अथवा भविष्य कालके मुमुक्षु जीवोंको मोक्षका उपाय है। भगवानने ऐसा नहीं कहा कि भविष्यमें पंचमकाल कठिन आयेगा इसलिये उस कालका उपाय भिन्न है। भगवानका उपदेश भविष्यकाल के जीवों को भी एक ही प्रकारका है धर्म का अन्य कोई मार्ग है ही नहीं। आत्माकी श्रद्धा-ज्ञान-रमणता यह एकही उपाय तीनकाल और तीनलोक के मुमुक्षु जीवों के लिये है।

त्रिकाल के अरिहंतों का उपदेश एक ही प्रकार का है कि-स्वाश्रय से धर्म है। भूतकाल में भगवान मोक्ष को प्राप्त हुए वे सब इसी विधि से प्राप्त हुए हैं और अरिहंत दशा में उन्होंने उसकाल में प्रत्यक्ष श्रवण करनेवाले जीवों को इसी मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है, उसीप्रकार भविष्यकाल के मुमुक्षुओं के लिये भी यही एक उपाय स्थापित किया है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का परिवर्तन होनेपर कहीं धर्म का स्वरूप नहीं बदल जाता। आत्मा का स्वभाव सदा एकरूप है और उस स्वभाव के आश्रय से ही सदा मोक्षमार्ग है, इससे मोक्ष का मार्ग सदा एक ही प्रकार का है। जैसे मिष्टान्न राजा-महाराजाओं के यहाँ बने या निर्धन के यहाँ बने किन्तु घी-शकर और आटा इन तीनों वस्तुओं से ही बनता है, परन्तु घी के बदले पानी आदि नहीं डालते। आज, भूतकाल में अथवा भविष्य में मिष्टान्न बनाने का एक ही उपाय है; वैसे ही अनन्तकाल पूर्व, वर्तमान में, अथवा अनन्तकाल पश्चात् सभी मुमुक्षु जीवों को मोक्ष का उपाय एक ही प्रकार का है। अपने शुद्ध आत्मस्वभाव की पहिचान और उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। अरिहंत भगवान स्वतः उस उपाय से धर्म को प्राप्त हुए और अन्य मुमुक्षुओं को उसीका उपदेश करके सिद्ध हुए हैं। [अपूर्ण]

आत्मा का ज्ञान-स्वभाव

[श्री समयसार शास्त्रपर पूज्य श्री कानजीस्वामी का व्याख्यान]

"वस्तुस्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जासकने के कारण, वैसे ही वस्तुस्वभाव पर को उत्पन्न नहीं कर सकनेवाला होने से; जिसप्रकार आत्मा बाह्य पदार्थों की असमीपता में अपने स्वरूप से ही जानता है, उसीप्रकार बाह्य पदार्थों की समीपता में भी अपने स्वरूप से ही जानता है।"

[गु. समयसार पृ ४४२]

निकट की वस्तु का या दूर की वस्तु का आत्मा अपने स्वरूप से ही जाता है। इस निकट के शरीर से हरियाली आदि के काटने की जो क्रिया होती है उसे, वैसे ही दूर के (अन्य के) शरीर से जो हिंसादि की क्रिया होती है उसका समानरूप से अपने स्वरूप से ज्ञाता है। और उसीप्रकार निकट के अर्थात् अपनी अवस्था में होने वाले हिंसादि परिणामों को अथवा दूर के अर्थात् अन्य जीव में होने वाले दया-हिंसादि परिणामों को भी आत्मा अपने स्वरूप से जाननेवाला

है, निकट के रागादि को या दूर के रागादि को जानने में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता।

आत्मा अपने त्रैकालिक ज्ञान-स्वभाव के विश्वास से, जो निकट में (स्वतः में) रागादि हो उसे अथवा दूर में अन्य जीवों में हो उसे-दोनों को समानरूप से ही जानता है, उसमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। आत्मा निकट के या दूरवर्ती रागादि को अपने स्वरूप से ही प्रकाशित करता है। दूरवर्ती रागादि को जानने से ज्ञान में कहीं अन्तर नहीं पड़ता।

जैसे-दीपक निकटवर्ती या दूरवर्ती पदार्थों को अपने स्वरूप से ही प्रकाशित करता है, उसीप्रकार शुभ या अशुभ पदार्थों को समानरूप से ही प्रकाशित करता है। नीचे की अंगीठी और ऊपर की अरगनी-इन दोनों को दीपक अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है; उसीप्रकार दीपक के पास सोने का लोटा पड़ा हो या कोयला पड़ा हो-उन दोनों को दीपक अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है। सोने को प्रकाशित करने में दीपक का प्रकाश कहीं बढ़ नहीं जाता और कोयले को प्रकाशित करने में घटता नहीं है; दीपक अपने प्रकाशक स्वभाव से ही सबको प्रकाशित करता है। पर के कारण प्रकाशित नहीं करता। दीपक के निकट कोई पापादि करता हो अथवा उन्हें दूर करता हो किन्तु दीपक तो दोनों का प्रकाशक है।

उसीप्रकार यह आत्मा चैतन्य-दीपक है, वह अपने स्वरूप से त्रिकाल ज्ञाता है। उसके निकट हरियाली की हिंसा हो अथवा दूर अन्य के शरीर से हरियाली काटने की क्रिया हो, उसे अपने स्वरूप से जानता है। वैसे ही अपने में राग हो या दूसरे में राग हो, वह दोनों का अपने स्वरूप से ही प्रकाशक है। पर्याय में पुरुषार्थ की निर्बलता से राग होता है-यह बात यहाँ पर गौण है। पर्याय की निर्बलता गौण होने से और त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव की अधिकता होने से ज्ञान तो दूर के अथवा निकट के रागादि का प्रकाशक ही है। राग को जानता है-ऐसा कहना भी व्यवहार है। ज्ञान अपने को जानता है वह निश्चय है। अपनी अवस्था में होने वाले रागादि भाव निकट के हैं और अन्य जीव की अवस्था में होने वाले रागादि भाव दूरवर्ती हैं; उन

दोनों का आत्मा अपने ज्ञान से-व्यवहार से ज्ञाता है।

मैं एकसमय में पूर्णानन्द, पूर्णब्रह्म, पूर्णज्ञान हूँ-ऐसे परिपूर्ण स्वभाव की श्रद्धा से शुभ या अशुभ भावों का आत्मा अपने स्वभाव से ज्ञाता है। जीव को बचाने के दयादिभाव अथवा हरियाली काटने के हिंसादि भाव-उन्हें आत्मा अपने से जानता है। दोनों को जानने में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। वैसे ही निकट के शरीर की क्रिया या दूर के शरीर की क्रिया, उसे आत्मा अपने स्वभाव से प्रकाशित कर रहा है। ऐसे नित्य प्रकाशक स्वभाव का विश्वास होने से निकट या दूर के रागादि को जानने से आत्मा में कुछ भी हानि नहीं होती, और ऐसे प्रकाशक स्वभाव का विश्वास हटने से आत्मा में कुछ भी धर्म नहीं रहता।

प्रशंसा के शब्द या निंदा के शब्दादि पाँचों इन्द्रियों के शुभ या अशुभ विषय रागद्वेष के कारण नहीं हैं, उन्हें जीव अपने स्वरूप से जानता है। वैसे ही हरियाली काटने की अथवा झाड़ू से बुहारने की शुभाशुभ क्रिया निकट हो अथवा दूर हो-उसे अपने स्वभाव से जानता है। और निकट के अथवा दूर के राग को भी; नित्य ज्ञानज्योति स्वभाव के स्वीकार से आत्मा ज्ञाता ही है। ऐसे ज्ञानस्वभाव का विश्वास सो धर्म है।

कहीं दूर-अन्य के शरीर को कोई काट रहा हो या निकट में अपने शरीर को कोई काट रहा हो-उन दोनों का आत्मा अपने स्वभाव से प्रकाशक है। इस सुकुमार मुनि के शरीर को सियालनी खाये जाती है उसको, अथवा अन्य के शरीर को खा जाय, उन दोनों का एक समान स्वभाव से मुनि का आत्मा प्रकाशक है। जिसप्रकार अन्य का शरीर कटे उसे जानते हैं, उसीप्रकार अपना (निकट का) शरीर कटे उसे भी जानते हैं। चैतन्य के प्रकाश में निकट या दूर जो कुछ होता है उसे अपने स्वभाव से प्रकाशित करते हैं। निश्चय से अपने स्वभाव से स्वतः को ही प्रकाशित करते हैं, और व्यवहार से पर को प्रकाशित करते हैं।

भगवान की दिव्यध्वनि यहाँ खिरती हो अथवा दूर महाविदेह क्षेत्र में खिर रही हो, उस निकट को या दूर को आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है। कसाई यहाँ

निकट में सामने जीवहिंसा कर रहा हो अथवा दूर करता हो, किन्तु आत्मा अपने स्वभाव के आश्रय से उसका ज्ञाता है। पर का ज्ञाता भी व्यवहार से है; वास्तव में आत्मा जड़ की-शरीर की क्रिया का करनेवाला अथवा टालने वाला नहीं है, वैसे ही राग का उत्पादक या संहारक भी वास्तव में नहीं है और राग का ज्ञाता भी परमार्थ से नहीं है। अपने ज्ञानस्वभाव से अपने स्वभाव का ही ज्ञाता है यह निर्णय है।

इस शरीर में केन्सर रोग हो या अन्य के शरीर में हो, दोनों को जानने में कुछ अन्तर नहीं है, आत्मा दोनों को अपने ज्ञानस्वभाव से प्रकाशित करता है। क्षणिक राग या द्वेष हो वह शरीर के केन्सर को जानने के कारण नहीं हुआ। आत्मा एकसमय की पर्याय जितना नहीं है। यहाँ पर्याय का गौण करके बात है। अज्ञानी जीव क्षणिक राग के विश्वास से त्रैकालिक ज्ञातास्वरूप को भूलता है। ज्ञानी त्रिकालस्थायी वस्तु—ज्ञानस्वभाव के विश्वास से क्षणिक होनेवाले रागादि को अस्थायी करके स्वभाव के विश्वास से सबका ज्ञाता है।

यह तो आत्मस्वभाव की भावना है, स्वभाव की भावना में पुनरुक्तिदोष नहीं होता। जैसे चौंसठपुटी पीपर तैयार करने के लिये, लगातार चौंसठपुटों तक लेंडीपीपर को घोंटते ही रहते हैं, उसमें एकबार घोंटकर दूसरी बार घोंटने से कहीं पुनरुक्ति जैसा दोष नहीं लगता; वैसे ही बारंबार आत्मस्वभाव की भावना करने से कहीं दोष नहीं लगता। अन्त में केवलज्ञान होनेतक स्वाभव की भावना होती है बीच में विश्राम नहीं होता—रुकना नहीं होता। इसलिये यह ज्ञानस्वभाव की बात पुनः पुनः कही जाती है, उसमें पुनरुक्तदोष नहीं है।

दीपक के समीप कोई सोने का लोटा रखदे तो उससे कहीं दीपक का प्रकाश बढ़ नहीं जाता और कोई कोयले का ढेर रखदे तो कहीं दीपक का प्रकाश कम नहीं होजाता। दीपक तो अपने स्वभाव से ही सबका प्रकाशक है। सोने की ओर दीपक का प्रकाश अधिक हो और कोयले की ओर कम हो ऐसा नहीं है। शुभ हो या अशुभ, निकट हो या दूर, किन्तु दीपक सभी का समानरूप से अपने स्व-

रूप से ही प्रकाशित करता है, उसीप्रकार यह भगवान आत्मा चैतन्यज्योति है, प्रत्येक आत्मा चैतन्यज्योति है वह अपने स्वरूप से प्रकाशमान है। आत्मा परपदार्थों के कारण नहीं जानता। स्वत: अपने स्वरूप को जानने से पर-पदार्थ भी ज्ञात होते हैं—ऐसा स्व-परप्रकाशक अपना स्वभाव ही है। समीप में हिंसादिभाव होते हों या दयादिभाव होते हों, उन दोनों का अपने चैतन्य के आश्रय से आत्मा ज्ञाता ही है। जैसे परजीव के रागादि को जानता है वैसे ही अपनी अवस्था में होनेवाले रागादि भी वास्तव में पर-वस्तु हैं,—उनका भी परकी भांति ज्ञाता ही है। रागादि को जानने से अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर नहीं जानता किन्तु स्वभाव का आश्रय रखकर जानता है। जैसे—अन्य का शरीर परपदार्थ है, उसीप्रकार यह निकट का शरीर भी परपदार्थ है। दूसरे के शरीर के टुकड़े होते हों अथवा अपने शरीर के, उन दोनों को आत्मा अपने चैतन्यप्रकाश से प्रकाशित करता है। इसमें मात्र वीतरागदृष्टि है। ज्ञानी के राग-द्वेष होते हैं-यह बात ही नहीं है, क्योंकि त्रैकालिक चैतन्यस्वभाव के आश्रय में रहकर, निकट के या दूर के राग द्वेष को वह अपने स्वरूप से ही प्रकाशित करता है। निकट के रागादि को जानने से कहीं चैतन्यप्रकाश में फेरफार नहीं होता। रागादि को जानने से चैतन्यप्रकाश में परिवर्तन होना मानना सो अज्ञान है और उसका फल संसार है।

वास्तव में ज्ञातास्वभाव को कोई वस्तु शुभ या अशुभ नहीं है, वैसे ही कोई वस्तु अनुकूल या प्रतिकूल नहीं है। लोगों में निन्दा को अशुभ और प्रशंसा को शुभ कहा जाता है। साता को अनुकूल और रोगादि को प्रतिकूल कहा जाता है। उन सबको ज्ञान अपने स्वरूप से जानता है, पर को जानने में अपने स्वभाव का आश्रय नहीं छोड़ता। जिसे ऐसे ज्ञानप्रकाश स्वभाव की श्रद्धा हो उस जीव के मधु, मांस, मदिरा का त्याग होता है। हरियाली काटने के परिणाम होसकते हैं। हरियाली काटने के परिणाम को अथवा दया पालने के परिणाम को ज्ञान जानता ही है। युद्ध में हजारों का संहार रहा हो उसे जाने अथवा झाडू

से झाड़ने की क्रिया होती हो उसे जाने-उन दोनों में कुछ भी अंतर नहीं है। ज्ञान तो अपने स्वभाव का ही आश्रय रखकर अपने स्वरूप से ही जानता है।

जैसे अनुकूलता को-उसीप्रकार प्रतिकूलता को भी स्वभाव के आश्रय से जानता ही है। जैसे-दूसरे के शरीर में कुष्ठरोग हो उसका ज्ञाता है, उसीप्रकार अपने निकट-अपने शरीर में कुष्ठरोग हो और अंगुलियां गल-गलकर गिर जायें-उससमय उसका भी ज्ञाता है।

दूसरे की आंख फूट जाये अथवा अपनी-उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है, उसका ज्ञाता आत्मा स्वरूप से ही है। ऐसे त्रिकाल चैतन्य-स्वरूप की श्रद्धा में-प्रतीति में-विश्वास में रागादि की समीपता अथवा दुराव से धर्म या अधर्म नहीं है। रागादि हों उसे भी ज्ञान जानता है, और रागादि दूर हों उसे भी ज्ञान जानता है; ज्ञान उसका कर्ता या हर्ता नहीं है, और वास्तव में परमार्थ से तो ज्ञान रागादि को जानता भी नहीं है, क्योंकि यदि वास्तव में रागादि को जाने तो वह राग में तन्मय होजाये।

मैं अपना ज्ञाता हूँ, ऐसी श्रद्धा में वर्तमान पर्याय त्रैकालिक चैतन्यस्वभाव का आदर करती है, त्रैकालिकस्वभाव के आश्रय से वह जानता ही है, उसमें उसे पुण्य-पाप की सहायता नहीं है, वैसे ही पुण्य-पाप से विघ्न भी नहीं है। त्रैकालिकस्वभाव का आश्रय करके ज्ञान जानता है; उसके पर्याय में पुण्य-पाप हो तो विरोध नहीं है और पुण्य-पाप दूर हो तो सहायता नहीं है, मात्र स्वभावदृष्टि है। मात्र स्वभावदृष्टि रखकर पुण्य-पाप हो उसे, अथवा पुण्य-पाप दूर हो उसे ज्ञानी जानते ही हैं; उसको जानने पर भी ज्ञान ध्रुवस्वभाव का आश्रय नहीं छोड़ता।

पर्याय एकसमय पर्यंत की है, उत्पन्नध्वंसी है। त्रिकाल चैतन्यस्वभाव ध्रुव है। ज्ञान एकसमय की पर्याय का आश्रय करके नहीं जानता किन्तु त्रिकाल का आश्रय करके जानता है। जहाँ वर्तमान में प्रवर्तमान दृष्टि त्रैकालिक स्वभाव का आश्रय लेती है वहाँ पर मैं समीप या दूरवर्ती किसे कहा जाये ? दृष्टि स्वभावोन्मुख हुई वहाँ पुण्य-पाप के साथ भी कुछ संबंध नहीं है; क्योंकि दृष्टि

ने तो त्रैकालिक वस्तु का आश्रय किया है और त्रैकालिक वस्तु में पुण्य–पाप नहीं हैं। अपने नित्य प्रकाशक स्वभाव की दृष्टि हुई वहां निकट के या दूर के पुण्य–पाप के साथ कुछ संबंध नहीं है, उसे आत्मा जानता है वह भी व्यवहार है। ऐसी श्रद्धा–प्रतीतिपूर्वक त्रैकालिक चैतन्य की ओर के बल में आत्मा अपने स्वरूप से ही प्रकाशित होता है। ऐसा वस्तुस्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता और वह स्वभाव पर में कुछ नहीं करता।

पूर्णस्वभाव की प्रतीति में सम्पूर्ण चैतन्य प्रकाशित होता है, चैतन्य अपने स्वरूप से ही प्रकाशित होता है उसे परिवर्तित करने में कोई समर्थ नहीं है। त्रैकालिक स्वभाव की प्रतीति होने पर भी अवस्था में जो अल्प रागादि हो तो उसे भी अपने चैतन्यस्वरूप से जानता ही है। जो राग हुआ है वह किन्हीं शुभ या अशुभ परपदार्थों के कारण नहीं हुआ, अवस्था की निर्बलता से हुआ है, वह निर्बलता एकसमय पर्यंत की है, त्रैकालिक स्वभाव में नहीं है–इसप्रकार मात्र त्रैकालिक स्वभाव के आश्रय से ही कार्य होता रहता है।

कोई कहे कि ऐसी प्रतीति का पालन होना कठिन है, तो वह इस बात को नहीं समझा है। एक-समय में पूर्ण स्वभाव है उसीका आदर है और अपूर्णता का या विकार का आदर नहीं है; विकार होता है उसकी गौणता तथा विकार से स्वभाव की अधिकता रखकर स्वभाव के आश्रय से श्रद्धा–ज्ञान हुए और अज्ञान दूर हुआ–वही प्रतीति का पालन है। जिसे ऐसी प्रतीति हुई उसके प्रतिसमय स्वभाव की अधिकता है और रागादि की गौणता है–वही प्रतीति का आचरण है।

वर्तमान में प्रवर्तमान अवस्था पूर्ण की प्रतीति और आश्रय करे वह धर्म है। त्रैकालिक एकरूप चैतन्यस्वभाववस्तु है और विकाररूप नहीं है–इसप्रकार त्रिकाल का विश्वास न करे और क्षणिक का विश्वास करे तो उस जीव के धर्म दृष्टि नहीं होती।

आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है, रागादि से नहीं जानता; उसीप्रकार अपने स्वरूप से च्युत

होकर मात्र रागादि को जाने वैसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। अपने स्वभाव का ज्ञान रखकर रागादि को भी जानना है अर्थात् रागादि को जानने से भी स्वभाव की अधिकता रहती है—यह सम्यग्ज्ञान है। अज्ञानी जीव त्रिकाली पदार्थ को अस्पर्श करके क्षणिक पदार्थ का स्पर्श करते हैं, त्रिकाली का विश्वास छोड़कर क्षणिक का विश्वास करते हैं—यह अधर्म है। और ज्ञानी एकसमय जितने क्षणिक भाव को अस्पर्श करके तथा त्रिकाली स्वभाव का स्पर्श करके उसके आश्रय से स्व-पर को प्रकाशित करते हैं। त्रैकालिक द्रव्य के विश्वास से क्षणिक को गौण करते हैं। लोकव्यवहार में भी कहा जाता है कि—'विश्वास से नाव तरती है' यह तो बाह्य की बात है, किन्तु आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव के विश्वास से नौका तरती है, त्रैकालिक स्वभाव के विश्वास से पर्याय पूर्ण होकर संसार-समुद्र से पार होकर मुक्त होते हैं।

त्रिकाल ज्ञातास्वभाव है; ऐसे स्वभाव की श्रद्धा होने से पर्याय में राग की मन्दता तो होती ही है, किन्तु राग की मन्दता होती है वह वहाँ स्थापित नहीं करता है, क्योंकि वह क्षणिक पर्याय है, उसके आधार से आत्मा नहीं जानता। त्रिकाल के आधार से रागादि की मन्दता को जानता है। शरीर की क्रिया हो या रागादि हो—उन्हें जानने से चैतन्य के प्रकाश में अन्तर नहीं पड़ता, (क्योंकि ज्ञान सदैव अपने स्वभाव से ही प्रकाशमान है) किन्तु उन रागादि को जानने से जीव ऐसा माने कि 'यह' रागादि मैं करता हूँ तो उस मान्यता से चैतन्यप्रकाश की श्रद्धा नहीं रहती।

सम्पूर्ण आत्मा को माने तो धर्म हो, या क्षणिक विकार जितना ही आत्मा को मानने से धर्म होता है? यदि क्षणिक को ही मानेगा तो उसके आश्रय से धर्म नहीं होगा। मैं त्रैकालिक चैतन्य हूँ, क्षणिक नहीं—ऐसी प्रतीति से त्रिकाल के आधार से धर्म होता है। यह क्षणिक रागादि ही हूँ और त्रिकाली नहीं—ऐसी क्षणिक की प्रतीति सो अधर्म है। आत्मा पर का कुछ नहीं करता, और स्वभाव का आश्रय छोड़कर पर को जाने वैसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। पूर्णस्वभाव को जानना सो परमार्थ है और पूर्णस्वभाव के ज्ञानसहित

राग को जानना सो व्यवहार है, राग दूर हो-उसे जानना भी व्यवहार है। राग को आत्मा दूर करता है-यह भी व्यवहार है। राग हो, राग दूर हो और राग को जाने-यह तीनों व्यवहार हैं।

आत्मा अपने स्वभाव से ही जानता है, और ज्ञेयपदार्थ उनके अपने स्वभाव से ही विचित्र परिणति प्राप्त करते हैं। "अपने स्वरूप से ही ज्ञाता-ऐसे आत्मा को, वस्तुस्वभाव से ही विचित्र परिणति को प्राप्त होनेवाले अच्छे या बुरे शब्दादि बाह्य पदार्थ किंचित् विक्रिया उत्पन्न नहीं करते।" प्रत्येक रजकण स्वतंत्र स्वभाव से विचित्र परिणति प्राप्त करता है, ज्ञान उसमें कुछ नहीं करता और उन विचित्र परिणति वाले पदार्थों को जानने से कहीं वे पदार्थ ज्ञान में विकार नहीं करते। क्योंकि ज्ञान पदार्थों के कारण नहीं जानता किन्तु अपने स्वरूप से ही जानता है।

एक केवली भगवान निकट विचर रहे हों और दूसरे केवली दूर हों, एक संत-मुनिराज के पास भाषा का परिणमन होता हो कि 'प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण परमेश्वर है' और दूसरे संत-मुनि मौन हों, एक ज्ञानी-धर्मात्मा आत्मा के सत्यस्वरूप की स्थापना करते हों और दूसरे अज्ञानी जीव "आत्मा एकान्त क्षणिक है"-इसप्रकार महान असत्य की स्थापना करते हों-ऐसी विचित्र परिणतियां होती हैं वे वस्तु स्वभाव से ही होती हैं; समस्त पदार्थ स्वतंत्ररूप से अपने-अपने स्वभाव से ही परिणति को प्राप्त होते हैं, उन सभी सुन्दर या कुरूप पदार्थों को जीव अपने ज्ञानप्रकाश से जानता है, किन्तु वे पदार्थ ज्ञान में विक्रिया नहीं करते। और ज्ञान अपने स्वरूप से ही जानता है इससे उसमें भी विक्रिया-विकार नहीं होता। विचित्र परिणति हो-ऐसा वस्तु का स्वभाव ही है। द्रव्य की स्थिति एकरूप हो, किन्तु पर्याय में तो विचित्रता ही होती है। ज्ञान के कारण पदार्थों में विचित्र परिणति नहीं होती किन्तु वह पदार्थों का उसकाल का उस अवस्था का वैसा स्वभाव ही है। और पदार्थों में विचित्र परिणति होती है-उसे ज्ञान उसके कारण से जानता है-ऐसा भी नहीं है। ज्ञान अपने स्वभाव के आश्रय से, अपने स्वरूप से उसे जानता है। ऐसी स्पष्ट बात है, तथापि अज्ञानी-

जब ऐसा मानते हैं कि निमित्त से होता है।

इस शरीर के टुकड़े होजायें या यथावत् रहे—वह उसके स्वभाव से ही है। शरीर के टुकड़े हों वह परमाणुओं की विचित्र परिणति है, सामनेवाले जीव के द्वेष के कारण या तलवार के कारण शरीर नहीं कटा है; इसीप्रकार तलवार की क्रिया तलवार की विचित्र परिणति से हुई है. किसी ने द्वेष किया उसके कारण तलवार की क्रिया नहीं हुई है। समस्त पदार्थ अपने स्वभाव से विचित्र परिणति वाले हैं, ज्ञान अपने स्वभाव में रहकर उन्हें जानता है। विचित्र परिणति को जानने के कारण राग-द्वेष नहीं होते। ऐसे अपने ज्ञाता-स्वभाव की श्रद्धा हुई वहां राग-द्वेष का भी परपदार्थों की भांति ज्ञाता है।

यहां पदार्थों में शुभ और अशुभ-ऐसे दो भेद किये हैं। वे जिसप्रकार लोग मानते हैं उसी अपेक्षा से हैं; वास्तव में पदार्थ शुभ या अशुभ नहीं है। केवलज्ञान पर्याय सो शुभ उसीप्रकार केवली का आत्मा और उनके गुण भी शुभ हैं और अज्ञानी जीव तथा उनके गुण अशुभ हैं-ऐसा कहा जाता है, किन्तु आत्मा का चैतन्यस्वभाव तो दोनों का ज्ञाता है, चैतन्यस्वभाव को कोई शुभ या अशुभ नहीं है. चैतन्यस्वभाव स्वतः अपने लिये शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपी है, बाह्य के किन्हीं भी शुभ या अशुभ पदार्थों से चैतन्य की शुद्धता में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। शुभ अशुभ पदार्थों को जानने के कारण राग-द्वेष नहीं होता। ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना सो धर्म है। *

मोह को क्षय करने का उपाय

[गतांक से आगे]

आचार्यदेव नास्ति से कथन करते हैं। मोह का नाश किया सो नास्ति और यथार्थ आत्मस्वरूप को प्राप्त किया सो अस्ति। उसके बाद राग-द्वेष को छोड़ना सो नास्ति और शुद्धात्मा की प्राप्ति सो अस्ति। जो शुद्धात्मा को जाना, उसओर जितनी उन्मुखता हुई

उतना लाभ है, जितना पराश्रय-भाव हो उतना शुद्धोपयोग लुटता है। सम्यक्‌आत्मतत्व की प्राप्ति और मिथ्यात्व का नाश करने के पश्चात् शुद्धात्मस्वरूप में एकाग्रतारूप जो शुद्धभाव है वही शुद्धात्मा का तत्त्व है, जितने पुण्य-पाप के भाव होते हैं वे शुद्धात्मा का तत्व नहीं हैं; वे तो आत्मा के शुद्धोपयोग को लूटने वाले हैं। पुण्य-पाप-रहित आत्मतत्व को प्राप्त करके यदि शुभ और अशुभ उपयोग को छोड़ देता है तो वह जीव शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। दर्शनमोह का नाश करके सम्पूर्ण आत्मा प्राप्त किया है किन्तु अभी पर्याय में पूर्ण शुद्धता प्रगट नहीं हुई है। पूर्ण शुद्धदशा तो राग द्वेष के नाश होने से होती है। जो पूर्ण शुद्धदशा प्रगट हो उसे यहांपर शुद्धात्मतत्व का अनुभव कहा है। अपूर्णदशा में कुछ अंशो में रागादि अशुद्धभावों का भी अनुभव होता है, इस अपेक्षा से वहां शुद्धात्मतत्व का अनुभव नहीं है-ऐसा कहा है। सम्यग्दर्शन होते ही सम्पूर्ण शुद्ध-आत्मस्वभाव तो प्राप्त होगया है, किन्तु जहांतक जीव राग द्वेष को न छोड़े वहांतक द्रव्य-गुण-पर्याय से शुद्धआत्मा का अनुभव नहीं होता। मूल में तो आचार्यदेव ने अस्ति से ही बात की है कि यदि जीव राग-द्वेष को छोड़ता है तो शुद्धात्मा को प्राप्त होता है अर्थात् जिन्होंने अपने सम्यक्-आत्मस्वरूप को प्राप्त किया है ऐसे जीव राग-द्वेष का छोड़ते ही हैं और शुद्धात्मा को प्राप्त करते ही हैं।

टीका

"इसप्रकार जो उपाय का स्वरूप वर्णित किया है उस उपाय द्वारा मोह को दूर करके सम्यक्-आत्मतत्व को प्राप्त करके भी, यदि जीव राग-द्वेष को निर्मूल करता है तो शुद्धआत्मा का अनुभव करता है।"

प्रथम सम्यग्दर्शन पश्चात् सम्यग्चारित्र

प्रथम ८०वीं गाथा में दर्शन-मोहके नाश का उपाय बतलाकर अब चारित्रमोह के नाश का उपाय बतलाते हैं। पहले मिथ्यात्व का नाश करने के पश्चात् ही चारित्रमोह का नाश होता है, इसलिये पहले दर्शनमोह के क्षय का उपाय बताने के पश्चात् चारित्रमोह के नाश का उपाय बतलाते हैं।

मिथ्यात्व का नाश करके सम्यक्-आत्मतत्व की श्रद्धा प्रगट करके भी, यदि पर्याय में से शुद्धोपयोग द्वारा, राग द्वेष को छोड़ता है तभी जीव मुक्ति को प्राप्त करता है। राग-द्वेष में एकता मानने से धर्म नहीं होता और स्वभाव में एकता करने से धर्म होता है–इसप्रकार सम्यक्श्रद्धा करके भी जीव अपने उपयोग को स्वद्रव्य में ही लीन करता है तभी वह शुद्ध आत्मा के अनुभव को प्राप्त होता है।

जब शुद्धोपयोग करता है तब शुद्धात्मा का अनुभव होता है

यद्यपि शुद्धात्मा का अनुभव तो चौथे गुणस्थान या सम्यग्दर्शन होने से ही होता है, किन्तु वहां अभी सम्पूर्ण राग-द्वेष दूर नहीं होगया है इससे, रागको अपना स्वरूप नहीं मानने पर भी जितने राग-द्वेषादि अशुभभाव होते हैं उतना अशुद्धता का भी अनुभव होता है; इसलिये वहां मात्र शुद्धात्मा का ही अनुभव नहीं है। किन्तु जब जीव सम्पूर्ण रागद्वेष को दूर करके शुद्धोपयोग प्रगट करता है तब द्रव्य–गुण–पर्याय से सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा का ही अनुभव होता है,–इसीको यहां शुद्धात्मा का अनुभव कहा है। पहले अरिहंत के द्रव्य–गुण-पर्याय का स्वरूप जानकर उसीप्रकार अपने आत्मा की श्रद्धा की थी और अब अपना आत्मा साक्षात् वैसा ही होगया। जैसे अरिहंत के द्रव्य–गुण-पर्याय हैं वैसे ही अपने द्रव्य-गुण–पर्याय होगये।

शुभ उपयोग चैतन्य को लूटनेवाला है

अरिहंत समान पवित्र अपने आत्मा की श्रद्धा होने के पश्चात् भी, रागद्वेष दूर करे तब शुद्धात्मा का अनुभव होता है। मैं चैतन्य-स्वरूप हूं, राग-द्वेष मेरा स्वरूप नहीं है–ऐसी प्रतीति करने पर भी यदि जीव फिर से शुभ या अशुभ भावों में युक्त हो तो वह प्रमाद है; शुभभाव भी प्रमाद है। सम्यग्-दर्शन पूर्वक मुनिदशा में जो पंचमहाव्रत की वृत्ति होती है वह भी प्रमाद ही है, उस प्रमादतंत्र के आधीन होने से शुद्धात्मतत्व के स्वरूप के वेदनरूप चैतन्यचिन्तामणि की चोरी होजाती है। इस-लिये शुभभाव, चैतन्यचिन्तामणि के

चोर हैं। तब फिर अशुभ वृत्तियों की तो बात ही क्या करना है? आचार्यदेव के वर्तमान काल में मुनिदशा तो प्रवर्तमान है, परन्तु जिससे केवलज्ञान प्रगट हो वैसा शुद्धोपयोग नहीं है और अल्प शुभोपयोग रह जाता है, उसका अस्वीकार करके वे आचार्य सम्पूर्ण शुद्धोपयोग की भावना करते हैं। मुनिदशा में जो शुभवृत्ति उठती है वह प्रमाद है-राग है- चोर है- शुद्धोपयोग को लूटती है। उस शुभ को दूर करके जब शुद्धोपयोग प्रगट करता है तभी मोह का सम्पूर्ण क्षय होकर पूर्णदशा प्रगट होती है। प्रथम सम्यग्दर्शन को स्थापित करने के पश्चात् की यह बात है।

शुभउपयोग से जीव खेद पाता है

प्रथम तो आचार्यदेव ने अस्ति से बात की है कि—सम्यक् आत्मतत्व को प्राप्त करके जो जीव रागद्वेष को निर्मूल करता है वह जीव शुद्धआत्मा का अनुभव करता है। परन्तु (अब नास्ति से बात करते हैं) यदि जीव पुनः पुनः उसका अनुसरण करता है रागद्वेषरूप परिणमित होता है, तो प्रमादआधीनता के कारण शुद्ध-मतत्व के अनुभवरूप चैतन्यचिन्तामणि की चोरी होजाने से अंतरंग में खेद का प्राप्त होता है।

सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पश्चात् शुभवृत्ति उठती है, किन्तु वह केवलज्ञान का कारण नहीं है। शुभवृत्ति तो केवलज्ञान को रोकने वाली है, जीव को खेद देने वाली है। अरे! शुद्धात्मा की श्रद्धा-ज्ञान होकर स्वरूपस्थिरता प्रगट होने पर भी यदि जीव पुनः पुनः शुभवृत्ति का अनुसरण करे तो शुद्धात्मा के अनुभवरूप चिन्तामणि की चोरी होजाती है, और इससे अन्तर में पुनः खेद-खिन्न होता है। एकमात्र शुद्ध उपयोग ही जीव को सुखदायक है, शुभउपयोग दुःख है। छट्ठे गुणस्थान में शुभविकल्प उठते हैं वह दुःख है, खेदकारक है। अहा! निर्विकल्प शुद्ध उपयोग दशा रुकती है और शुभाशुभ उपयोग में लीनता होती है वह खेद है, उससे निर्विकल्प शुद्धात्म रमणता की चोरी होजाती है।

[अपूर्ण]

आत्मधर्म

श्रावण २४७५

वर्ष पाँचवाँ, अङ्क चौथा

लाठी शहर में श्री पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

वर्तमान में सौराष्ट्र देश में श्री जिनेन्द्रशासन की प्रभावना का महान सुअवसर प्रवर्तमान है। पूज्य श्री कानजीस्वामी अपनी भगवती वाणी द्वारा उपदेश देकर सौराष्ट्र में श्रुतगंगा को प्रवाहित कर रहे हैं, और अपना गहरा आध्यात्मिक ज्ञान भव्य जीवों को दे रहे हैं; अतएव आज सौराष्ट्र में जगह-जगह तत्वचर्चा चल रही है, और अनेक पात्र जीव यथार्थ तत्वज्ञान को समझ रहे हैं। ज्यों-ज्यों लोग सच्चे तत्वज्ञान को प्राप्त कर रहे हैं वैसे ही वैसे श्री वीतराग शासन के, देव-गुरु-शास्त्र के प्रति उन्हें बहुमान और भक्ति जागृत होरही है और दिन-प्रतिदिन देव-गुरु-शास्त्र की प्रभावना में वृद्धि होरही है। इसके फलस्वरूप सौराष्ट्र में अनेक स्थानों पर श्री वीतरागी जिनबिम्बों की स्थापना हुई है और होती जारही है; उसीप्रकार गुरुभक्ति और शास्त्रप्रचार में भी वृद्धि होरही है। इसप्रकार सौराष्ट्र में श्री जिनेन्द्र-शासन का जयनाद गूंज रहा है।

ज्येष्ठ शुक्ला ५ (श्रुतपंचमी) के मंगल दिवस को लाठी शहर में भगवान श्री सीमंधरादि जिनदेवों की वीतरागी प्रतिमाओं का पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव था। इस महामंगल प्रसंग पर पूज्य श्री कानजी स्वामी लाठी शहर में पधारे थे। ज्येष्ठ कृष्णा ११ से प्रतिष्ठा विधि प्रारम्भ हुई थी। प्रातःकाल श्री महावीर स्वामी की मंडप में स्थापना हुई और श्री समवशरण मंडलविधान प्रारम्भ हुआ, एवं सवालाख जाप का भी प्रारम्भ हुआ। कृष्णा १२ और १३ के दिन समवशरण-मण्डलविधान होता रहा। इसीबीच १३ के दिन, लाठी के भाईश्री छगनभाई और भगवानभाई ने अपनी-अपनी धर्मपत्नियों सहित पूज्य स्वामी जी के पास आजीवन ब्रह्मचर्यप्रतिज्ञा ग्रहण की थी। रात्रि को भक्ति-भावना हुई थी।

ज्येष्ठ कृष्णा १४ के दिन प्रात:काल मृत्तिकानयनविधि हुई थी। व्याख्यान के पश्चात् हरिचंदभाई ने अपनी धर्मपत्नीसहित ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ग्रहण की, दोपहर में अंकुरारोपण विधि हुई थी। ऐसे विविध प्रसंगों के निमित्त से वास्तव में तो भक्तजन श्री जिनेन्द्रदेव के पवित्र गुणों का स्मरण पूजन और बहुमान करते हैं। रात्रि में बालकों ने "चलो, दादा के दरबार में" इस विषय का वैराग्यगर्भित संवाद किया था। भरत महाराज के छोटी-छोटी उम्र के बालक क्रीड़ा करने गये हैं, वहाँ तत्त्वचर्चा कर रहे हैं; इतने में सेनापति जयकुमार की दीक्षा के समाचार सुनकर वे सभी बालक वहीं वैराग्य को प्राप्त होते हैं और दीक्षा लेकर मुनि होने के लिये वहाँ से सीधे भगवान श्री आदिनाथ के समवशरण में अर्थात् "दादा के दरबार मे" चले जाते हैं। ऐसा वैराग्यदृश्य संवाद में दिखाया गया था, इसके उपरान्त डाँडिया रास के साथ भक्ति हुई थी।

ज्येष्ठ कृष्णा ३० के दिन प्रात: श्री समवशरण मंडलविधान पूर्ण हुआ और श्री जिनेन्द्रदेव का अभिषेक हुआ था। अभिषेक को जल भरने के लिये जलयात्रा का जुलूस निकला था, तथा ध्वजदंड, कलश और वेदी शुद्धि हुई थी।

ज्येष्ठ शुक्ला एकम से पंचकल्याणक प्रारम्भ हुए थे। प्रतिष्ठा में मूलनायक श्री सीमंधर भगवान थे और विधिनायक श्री शांतिनाथ प्रभु थे। एकम के दिन इन्द्रप्रतिष्ठा हुई, उसका जुलूस धूमधाम के साथ निकला था। रात्रि को गर्भकल्याणक की पूर्व क्रिया का दृश्य हुआ था; उसमें श्री शांतिनाथ प्रभु के माता के गर्भ में आने से पूर्व छहमास तक रत्नावर्षा और देवदेवियों द्वारा माताकी सेवा आदि दृश्य हुए थे। ज्येष्ठ शुक्ला २ के दिन प्रात:काल गर्भकल्याणक का दृश्य हुआ था; उसमें माताजी को १६ स्वप्न आते हैं, दिक्कुमारी देवियां माताकी सेवा करती हैं, माता से तत्त्वसम्बन्धी प्रश्न पूछती हैं और माता जी उनके योग्य उत्तर देती हैं, तथा देव माता पिता को वस्त्र भेंट देते हैं—आदि दृश्य हुए थे। प्रतिष्ठाविधि कराने वाले पं. जी प्रसंगोचित विवेचन करके प्रत्येक प्रसंग को स्पष्ट रूपसे समझाते थे।

व्याख्यान के पश्चात् लाठी के अग्रगण्य शेठ श्री लालजीभाई, तलकचंद भाई, मगनभाई और जमनादास भाई-इन चारों भाईयोंने अपनी धर्मपत्नियों सहित ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ग्रहण की थी। ब्रह्मचर्य विधि के पश्चात् श्री तलकचंद भाई ने एक प्रसंगोचित काव्य द्वारा अपनी भक्तिभावना व्यक्त की थी। रात्रि को बालकों का संवाद 'चलो दादा के दरबार' फिर से हुआ था।

जन्मकल्याणक महोत्सव

ज्येष्ठ शुक्ला ३ के दिन प्रातः ६॥ से ९॥ तक जन्मकल्याणक महोत्सव हुआ था। यह प्रसंग अत्यन्त उत्साह और भव्यरीति से मनाया गया था। प्रातः श्री अचिरा माता की कूख से भगवान श्री शांतिनाथ का जन्म होता है, देवियां भगवान के जन्म की बधाई देती हैं और चारों ओर मंगलनाद गूंज उठता है। प्रभुजन्म के उत्साह में देवांगनाऐं नृत्य करती हैं। इन्द्र-इन्द्राणी जन्मोत्सव करने आते हैं और बाल भगवान शांतिकुमार को मेरु पर्वत पर लेजाते हैं। जन्माभिषेक करने के लिये भगवान को मेरु पर्वत पर लेजाने का दृश्य अपूर्व था। पू. श्री कानजी स्वामी, इन्द्रध्वज, चांदी के रथमें श्री समयसारजी, और भक्ति से प्रफुल्लित मुमुक्षुसंघ के बीच हाथी पर बालप्रभुजी विराजमान थे। चारों ओर इन्द्र-इन्द्राणियां भक्ति कर रहे थे। 'अमरविलास' में मेरुपर्वत की रचना की गई थी। वहां पहुंचने पर मेरुपर्वत को तीन प्रदक्षिणाएँ दीं। इस समय जयजयकार ध्वनि से वातावरण गूंज उठा था। पश्चात् भगवान को मेरुपर्वतपर विराजमान करके इन्द्रों ने जन्माभिषेक प्रारम्भ किया। क्षीरसमुद्र में से कलश भर-भरकर देव इन्द्रों को देते हैं और इन्द्र अभिषेक करते हैं। इस समय अभिषेक करने के लिये उल्लसित भक्तसमूहको मेरुपर्वत भी छोटा होगया था! मेरु पर्वत पर विराजमान बालक की दिव्यमुद्रा देखने से भक्तों के अंतरमें ऐसा लगता था कि-"अहो! इस आत्माने जन्म पूर्ण कर लिये हैं; अब इस संसार में फिर से इसका जन्म नहीं होगा, यह एक अन्तिम जन्म था, इसे पूर्ण करके भगवान जन्मरहित होगये हैं। अपूर्व आत्मदर्शन के प्रताप से उनके जन्म-मरण का अन्त

आगया; ऐसे भगवान की भवरहितता का यह महोत्सव मनाया जा रहा है।" जन्माभिषेक के पश्चात् इंद्राणी ने भगवान को वस्त्राभूषण पहिनाये; और पश्चात् जन्माभिषेक की महान् रथयात्रा वहां से नगर की ओर लौटी। गृह आनेपर इद्र ने "अबतो मिले जगत के नाथ" ऐसी स्तुति सहित ताण्डवनृत्य किया था।

दोपहर को भगवान श्री शांतिनाथ का पालना झुलाने की क्रिया हुई। चाँदी के पालने में झूलते हुए भगवान को देखकर ऐसा लगता था कि 'अहा!' इस बालक का आत्मा ज्ञानी है, यह बड़ा होकर मुनि होगा और आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते संसार से मुक्त होगा।

रात्रि को युवराज श्री शांतिकुमार का राज्याभिषेक हुआ। विश्वसेन महाराज ने अपना राजमुकुट उतारकर श्री शान्तिनाथ कुमार को पहिनाया। श्री शांतिनाथ भगवान कामदेव, चक्रवर्ति, और तीर्थंकर इन तीन महान पदवियों के स्वामी थे। कुछ समय पश्चात् महाराज शांतिनाथ भगवान का राजदरबार लगा। राजदरबार का दृश्य अत्यन्त भव्य था। दरबार के मध्य में चक्ररत्न सुशोभित हो रहा था। देश-देश के राजा-महाराजा आरहे थे और उत्तमोत्तम वस्तुएँ लाकर भेट करते थे।

ज्येष्ठ शुक्ला ४ के दिन भगवान के वैराग्य का और दीक्षा-कल्याणक का दिन था। चक्रवर्ति महाराजा शान्तिनाथ प्रभु एकबार दर्पण में देखते हैं, वे उसमें अपने दो रूप देखकर आश्चर्यचकित होते हैं और अन्तर्विचार करते हैं, वहाँ उनको जातिस्मरण ज्ञान होता है, इससे वे एकदम वैराग्य को प्राप्त होते हैं और दीक्षा की तैयारी करते हैं। वैराग्य की खबर होते ही लौकांतिक देव आकर प्रभु की स्तुति करते हैं और उनके वैराग्य की पुष्टि करते हैं कि: अहो प्रभो! धन्य है आपकी पवित्र वैराग्य भावना को, इन समस्त संसार-भावों से विरक्त होकर आत्मा के चिदानन्द स्वरूपमें लीन होने के लिये आप जो चिंतवन कर रहे हैं उसे हमारी अत्यन्त अनुमोदना है। छहखण्ड के राजभोग को छोड़कर आप भगवती जिनदीक्षा धारण करने की तैयारी कर रहे हैं, वह वास्तव में हमारा अहोभाग्य है! प्रभो! आप शीघ्र ही केवलज्ञान प्राप्त करो,

और भव्य जीवों के लिये मोक्ष का द्वार खोलो। हे देव ! आप तो स्वयंबुद्ध हो। आपको सम्बोधन करने वाले हम कौन? आपके पवित्र वैराग्य की जय हो !

पश्चात् दीक्षा कल्याणक मनाने के लिये इन्द्र पालकी लेकर जयजयकार करते हुऐ आते हैं और वैराग्य की साक्षात् मूर्ति भगवान शांतिनाथ प्रभु दीक्षा लेने के लिये तपोवन में आरहे हैं, उनके पीछे-पीछे वैराग्यभावना में मग्न भक्तसमूह चल रहे हैं। इससमय दीक्षाकल्याणक का स्तवन पढ़ा जारहा था:—

"वंदों-वंदों परमविरागी,
त्यागी जिनने रे,....
थाये जिन दीगम्बर,
मुद्राधारी देव।
शांतिनाथ प्रभुजो,
तपोवनमां संचरे रे..."

भगवान की दीक्षा का यह दृश्य अत्यन्त रमणीक और भावना से भरा हुआ था। वन में जाकर प्रभु श्री एक वृक्ष के नीचे विराजमान हुए। भव्यजन एकटक प्रभु की ओर देख रहे थे। भगवान ने वस्त्राभूषण उतारकर नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण की और पश्चात् श्री कानजी स्वामी ने भगवान का केशलोंच किया। भगवान की दीक्षा के समय का दृश्य वैराग्यप्रेरक था। उससमय का प्राकृतिक वातावरण भी इस महान् वैराग्यप्रसंग को दीप्त कर रहा था– मानों भगवान के वैराग्य का दृश्य देखकर सम्पूर्ण आकाश वैराग्य से ओतप्रोत हो गया हो और भगवान के ऊपर गंधोदक छिड़क रहा हो। दिगंबर मुनि होने के पश्चात् प्रभु श्री आत्मध्यान में लीन हुए और तुरन्त ही मन:पर्यय ज्ञान प्रगट हुआ, पश्चात् वे मुनिराज वन में विहार कर गये।

भगवान की दीक्षाविधि पूर्ण होने के पश्चात् वन में ही पूज्य स्वामी जी ने दीक्षाकल्याणक से सम्बंधित एक अपूर्व व्याख्यान दिया था, इस व्याख्यान में वैराग्यभावना की तो झड़ी ही लग रही थी। पूज्य स्वामी जी वैराग्य की मस्ती में झूम रहे थे और अन्तर का वैराग्य प्रवाह वाणी द्वारा बाहर निकाल रहे थे... श्रोताजन इस वैराग्यप्रवाह में डूब रहे थे।

व्याख्यान के पश्चात् वहीं तपोवन में सेठ श्री त्रिभोवनभाई,

कानजीभाई और मूळजीभाई–इन तीनों ने अपनी–अपनी धर्मपत्नियों सहित ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार करके इस प्रसंग को दीप्त किया था।

इसप्रकार भगवान का दीक्षा-कल्याणक मनाकर, 'अहो! जिस पथपर भगवान शांतिनाथ विचरे उस पथपर हम भी विचरण करें ऐसा अपूर्व अवसर हमें कब प्राप्त होगा? इत्यादि प्रकार से भावना करते हुए भक्तजन नगर की ओर लौटे, उस समय पालकी में मात्र भगवान के केश थे, उन केशों को क्षीरसमुद्र में छोड़ दिया गया।

दोपहर को १० बजे के बाद श्री शांतिनाथ मुनिराज आहार लेने नगर में पधारे; आहारदान का शुभप्रसंग भाई श्री व्रजलाल फूलचंद भायाणी के गृह हुआ था। भक्तजनों का उल्लास अपूर्व था। जैसे साक्षात् तीर्थंकर भगवान विचरते हैं वहां गंधोदक की वृष्टि होती है, उसीप्रकार यहां भी जब भगवान आहार के लिये पधारे तब आकाश में से मंदमंद प्राकृतिक गंधोदक की वृष्टि हो रही थी।

अंकन्यास विधि

दोपहर को १॥ बजे श्री जिन प्रतिमाओं पर अंकन्यास विधि करने के लिये श्री कानजी स्वामी पधारे। उन्होंने महा पवित्र जिन-प्रतिमाओं पर पवित्र भावों और पवित्र हस्तों से अंकन्यास विधि की। प्रतिष्ठाविधान में इस विधि का बड़ा महत्व है, इसके पश्चात् ही प्रतिमा जी पूज्य होती हैं। इस पवित्र प्रसंग को भक्तजनों ने अत्यन्त उत्साह और मंगलजयनाद से शोभित किया था; तत्पश्चात् समस्त प्रतिमाओं पर नेत्रोन्मीलन विधि भी पूज्य स्वामीजी ने की थी।

केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव

दोपहर को ३ बजे भगवान का केवलज्ञानकल्याणक हुआ था। भगवान श्री शान्तिनाथ मुनि आत्म-ध्यान में मग्न थे; शुक्लध्यान की श्रेणी में पहुंचते ही उन्हें केवल-ज्ञान प्रगट हुआ; उसी समय देवों ने आकर प्रभु की स्तुति की और समवशरण की रचना की। रचना का दृश्य अत्यन्त भव्य था। समवशरण के मध्य में भगवान विराजमान थे, उनके आगे धर्मचक्र चमक रहा था। राज्य-चक्रवर्तीपने को त्यागकर भगवान धर्मचक्री हुए; बारह सभाएं लगीं और भगवान ने दिव्यध्वनि द्वारा धर्मका उपदेश किया। इस प्रसंग

पर भगवान की दिव्यध्वनि का सारूप अद्भुत प्रवचन श्री कानजी स्वामी ने किया था। रात्रि को समवशरण स्थित भगवान की स्तुति हुई थी और पूज्य स्वामीजी का रिकार्डिंग हुआ व्याख्यान सुनाया गया था।

ज्येष्ठ शुक्ला ५ का दिन मंदिर में भगवान की स्थापना और श्रुतपंचमी का पवित्र दिवस था। आजदिन प्रातःकाल निर्वाण कल्याणक हुआ था। श्री शांतिनाथ भगवान सम्मेदशिखर से निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, इसलिये सम्मेदशिखर पर्वत की रचना की गई थी। पर्वत पर भगवान योगनिरोध दशा में विराजमान थे, कुछ ही समय में भगवान निर्वाण को प्राप्त हुए। जीवनमुक्त भगवान देहमुक्त होकर अनन्त सिद्धों की बस्ती में जाकर विराजमान हुए। तुरन्त ही देवगण निर्वाणकल्याणक मनाने के लिये आये और अग्निकुमार देवों ने मुकुट द्वारा अग्नि संस्कार किया—इत्यादि दृश्य हुए थे। अग्नि-संस्कार के पश्चात् शेष भस्म लेकर भक्तजन अपने मस्तक पर चढ़ाकर भावना कर रहे थे कि "हे प्रभो! आप जिस पवित्रदशा को प्राप्त हुए वह पवित्रदशा हमें भी प्राप्त हो।"

इसप्रकार पंचकल्याणक पूर्ण हुए। हे तीर्थंकर भगवान! आपके पंचकल्याणक हमारे आत्मा का कल्याण करें!

तत्पश्चात् प्रतिष्ठित श्री सीमंधर भगवान आदि जिनबिंबों को श्री जिनमन्दिर में पधराया गया। इससमय भव्य स्वागत-यात्रा निकली थी। जिससमय भगवान मन्दिर में पधार रहे थे उस समय का दृश्य अद्भुत था, भक्तों को ऐसा उल्लास था जैसे सक्षात् श्री सीमंधर प्रभु महाविदेह से विहार करके यहां मन्दिर में पधार रहे हों! लाठी के मुमुक्षु-मंडल का उत्साह तो अपार था। भगवान मन्दिर में पधारे और पूज्य स्वामीजी ने पवित्र भावों से प्रभुजी का स्वागत करके भगवान को वेदी पर विराजमान किया। मन्दिर जय-जयकार से गूंज उठा था। पश्चात् सीमंधर भगवान की दाहिनी ओर महावीर स्वामी और बायीं ओर श्री आदिनाथ भगवान की प्रतिमाओं की स्थापना हुई। शांतिनाथ भगवान और सिद्ध प्रतिमा जी की भी स्थापना हुई। फिर मन्दिर जी के ऊपर ध्वजदंड और कलश चढ़ाये गये। इस समय भी आकाश

से पानी की कुछ-कुछ बूंदे गिरकर मांगलिक सूचना दे रही थीं। इसप्रकार लाठी के मंदिरमें महा-पवित्र देवाधिदेव भगवतों की स्थापना हुई। लाठी का जिनमन्दिर अत्यन्त शोभायमान है और उसमें प्रति-ष्ठित जिनबिम्बों की मुद्रा अत्यन्त भव्य तथा उपशम भाव में निमग्न है।

श्री जिनेन्द्रप्रतिष्ठा के पश्चात् जिनमंदिर के पास निर्मित स्वध्याय-मन्दिर में पवित्र श्रुतमूर्ति श्री समयसार जी की प्रतिष्ठा हुई और श्रुतपंचमी का पवित्र दिन होने से समयसारजी की पूजा की गई; इससमय पूज्य स्वामीजी ने स्वाध्याय मंन्दिर मे "नमः समय-साराय" पर प्रवचन किया था। दोपहर को सवालाख जपों की पूर्णाहुति हुई और शांतियज्ञ हुआ। शाम को रथयात्रा का दृश्य अद्भुत था। लाठी शहरमें प्रथम बार ही ऐसी रथयात्रा निकली थी।

रात्रि को बालिकाओं ने एक अद्भुत संवाद किया था। सम्पूर्ण सम्वाद तत्वचर्चा से भरपूर था। आठ-आठ वर्ष की बालिकायें भी सुन्दर तत्वचर्चा करती थीं। अनेक प्रकार की विविधता से परिपूर्ण सम्वाद सुनकर सभा प्रसन्न होरही थी; बालिकाओं को सैकड़ों रुपये पारितोषक में मिले; जो उन्होंने जिनमन्दिर को भेट कर दिये।

इसप्रकार श्री जिनेद्रभगवान की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का पवित्र अवसर शांतिपूर्वक निर्विघ्नतया समाप्त हुआ।

सौराष्ट्र देश में श्री जिनेद्र-शासन की प्रभावना का ऐसा महान सुअवसर अत्यन्त उत्साहपूर्वक निर्विघ्न सामाप्त कराने के लिये लाठी के समस्त मुमुक्षु मण्डल को धन्यवाद है! इस पवित्र प्रसंग पर लाठी शहर के राजमहल में एक 'मुक्तिनगर' बसाकर वहीं सम्पूर्ण उत्सव मनाया गया था। भाई श्री वजुभाई और उनके स्वयं-सेवक मण्डल ने इस महोत्सव में सराहनीय सहायता-सेवा की थी। लाठी के ठाकुरसाहेब तथा अन्य सज्जनों की ओर से पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ था। समस्त मुमुक्षु-मण्डल ने महान उत्साह पूर्वक इस सुअवसर को दीप्त किया था। इन्दौर के प्रतिष्ठाचार्य, संहितासूरि पं. श्री नाथूलाल जी उत्साही एवं शांतस्वभावी थे। उन्होंने अत्यन्त भक्ति-भावपूर्वक प्रतिष्ठाविधि कराई

थी और पंचकल्याणक के प्रत्येक प्रसंग पर संक्षिप्त विवेचन करके समझाते थे, स्वामीजी के प्रवचनों से वे अत्यन्त प्रसन्न हुए थे। कुछ भी भेट स्वीकार किये बिना, इन्दौर से पधारकर उन्होंने प्रतिष्ठा-महोत्सव की सर्व विधि निर्विघ्न समाप्त कराई, जिसके लिये उनका आभार माना जाता है। इन्दौर से श्रीमान् सरसेठ हुकुमचन्दजी साहब की इस प्रतिष्ठा-प्रसंग पर आने की अन्तरभावना थी; परन्तु अस्वस्थता के कारण नहीं आसके।

उत्सव-काल में भी प्रतिदिन पूज्य स्वामीजी के आध्यात्मिक प्रवचन होते रहते थे। एक ओर श्री जिनेन्द्रभक्ति का उल्लास था और दूसरी ओर स्वामी जी निरन्तर तत्त्वज्ञान प्रवाहित करते थे। इस-प्रकार ज्ञान और भक्ति का सुन्दर मेल हुआ था। उत्सव तो अनेक होते रहते हैं, परन्तु तत्त्वज्ञान की मुख्यता पूर्वक ऐसे पवित्र उत्सव विरल ही होते हैं। परम पूज्य अध्यात्ममूर्ति श्री कानजी स्वामी के प्रताप से और बलवान प्रभावना योग से आज हजारों वर्ष पश्चात्, सौराष्ट्र देश में पुनः पवित्र जिनेन्द्रशासन की स्थापना होरही है। पूज्य स्वामी जी के शुभहस्त से ऐसे पवित्र शासनप्रभावना के सैकड़ों महान कार्य होवें और जिनेन्द्र-धर्मचक्र सर्वदा सर्वत्र प्रवर्तमान रहे! पूज्य स्वामीजी का प्रभावना उदय जगत का कल्याण करे!

—जैनं जयतु शासनं—

आत्मज्ञान की महिमा

[पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन]

भगवान कहते हैं कि तू एक आत्मा है; अरिहंत भी आत्मा हैं। भगवान कैसे हैं? "सव्वण्णू सव्वदरिसिण" अर्थात् हे भगवान! आप सर्व के देखने-जानने वाले हो। किसीका कुछ करनेवाले नहीं हो और न किसीपर राग-द्वेष करने वाले हो। ऐसे भगवान कहाँ से हुए? आत्मा में वैसी शक्ति थी, उसे प्रगट करके भगवान हुए। प्रत्येक आत्मा में ऐसी शक्ति है।

सीमंधर भगवान इससमय अरिहंत हैं, और महावीर स्वामी इस-समय सिद्ध हैं; उनके मन नहीं, वाणी नहीं, शरीर नहीं, पुण्य-पाप नहीं, किन्तु सबके जानने-देखने वाले हैं।

शरीर, मन, वाणी आत्मा के नहीं हैं इससे वह पृथक् होजाते हैं, यदि वे आत्मा के हों तो पृथक् नहीं होसकते। राग द्वेष भी आत्मा के नहीं है; यदि वे आत्मा के हों तो फिर भगवान के आत्मा में से कैसे दूर हों? जीव तो ज्ञान-दर्शन वाला है, ऐसे जीव को जानना चाहिये।

जैसे-स्वर्ण में जो ताँबे का भाग है वह स्वर्ण से भिन्नजाति का है। उसीप्रकार आत्मा में जो राग द्वेष दिखाई देते हैं वह उसका स्वरूप नही है इससे वे आत्मा से पृथक् होजाते हैं। जैसे तिल में तेल और उसका कूचा पृथक् है, गन्ने का रस और छिलका पृथक् है इससे वह यथार्थ प्रतीति के द्वारा पृथक् होजाता है। यह शरीर तो गन्ने के कूचे कि भाँति है, भीतर चैतन्य-रस पृथक् है।

भगवान की स्तुति में कहते हैं कि "समाहिवरमुत्तमं दिंतु" अर्थात् हे भगवन्! मुझे उत्तमसमाधि का वर दो। समाधि किसे कहते हैं? आत्मा का भान करके उसमें स्थिर हो, उसका नाम समाधि है। भगवान कहीं किसी को समाधि नहीं देते, किन्तु आत्मा स्वतः पहिचान करके भगवान की विनय करते हैं। प्रथम आत्मा का भान होने से सम्यग्दर्शन होता है वह समाधि है। ऐसा सम्यग्दर्शन गृहस्थदशा में रहनेवाले-भरतचक्रवर्ति, श्रेणिक राजा, पांडव, रामचन्द्रजी इत्यादि को था। जीवों ने अनन्तकाल में एक क्षणमात्र को भी ऐसा आत्मभान नहीं किया; इसके अतिरिक्त पुण्य-पाप करके चारों गतियों के अनन्तभव धारण किये, पुण्य करके स्वर्ग में अनन्तबार गया, किन्तु उससे धर्म नहीं हुआ।

जिसे वीतरागदेव सम्यग्दर्शन कहते हैं उसकी यह बात है। मुनि होने से पूर्व और श्रावक होने से पूर्व आत्मभान कैसा होता है? उसकी यह बात है। श्रेणिक राजा को ऐसा ज्ञान था, इससे वे भविष्य में तीर्थंकर होंगे। इससमय नरक में होनेपर भी ऐसा भान है। आत्मा देह से पृथक् है और पुण्य-पाप से पार ज्ञानमूर्ति है—ऐसा भान यदि एक क्षणमात्र ही करे तो भव कट जायें।

यथार्थ प्रतीति होने के पश्चात् राग होता है, किन्तु शरीर का मैं कर सकता हूँ—ऐसा वह नहीं मानते। राग को अपना स्वरूप नहीं मानते।

हमारा आत्मा रागरहित ज्ञान-आनन्दस्वरूप है-ऐसा भान है उन्हें चौथे गुणस्थान की समाधि है। जीवने अनन्तकाल में एकक्षण भी ऐसे सम्यग्दर्शन की प्रतीति नहीं की है। अनन्तकाल में यह मनुष्यभव मिलता है, उसमें यही करने योग्य है।

जैसे भगवान सबके ज्ञाता हैं, किन्तु उनके राग-द्वेष नहीं है, उसीप्रकार यह आत्मा भी ज्ञाता है, उसके राग द्वेष हो भले, किन्तु वह राग-द्वेष मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ज्ञाता हूँ-ऐसा भान करे तो सम्यग्दर्शन होता है। श्रेणिक राजा के व्रत नहीं थे, त्याग नहीं था, तथापि तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया; यह किसका प्रताप? उन्हें सम्यग्दर्शन था, उसके प्रताप से आनेवाली चौबीसी में जगतपूज्य प्रथम तीर्थंकर होंगे।

ज्ञान आत्मा में भरा हुआ है; कहीं शास्त्र के पन्नों में ज्ञान नहीं है, वह तो जड़ हैं। जैसे नमक की डली में खारापन भरा हुआ है उसीप्रकार आत्मा में ज्ञान भरा हुआ है। पुण्य-पाप हो वह भाव आत्मा का स्वरूप नहीं है-ऐसा समझे तो सम्यग्ज्ञान है। ऐसा सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् पूजा भक्ति का शुभभाव आता है और भोगोपभोग का अशुभभाव भी आता है, किन्तु ज्ञानी जानते हैं कि यह शुभाशुभ-दोनों भाव मेरा धर्म नहीं है। शुभराग होता है वह पाप नहीं है, उसीप्रकार धर्म भी नहीं है, किन्तु वह पुण्य है। धर्मवस्तु उससे भिन्न है। पुण्य करके अनन्तबार देव हुआ, किन्तु यह न समझा कि धर्म क्या वस्तु है? इससे अनन्तसंसार में परिभ्रमण किया। यदि एक क्षणमात्र भी आत्मा को समझे तो संसार से पार होजाये।

भगवान शांतिनाथ आदि तीर्थंकर चक्रवर्ति थे। माता के गर्भ में आये तभी से मति-श्रुत-अवधि, ऐसे तीन ज्ञानसहित आये थे। उनके राग था, अभी पूर्ण वीतराग नहीं हुए थे, तथापि उपरोक्त आत्मभान था।

भगवान ने जैसा मार्ग है वैसा कहा है, किन्तु उसे बनाया नहीं है। 'मग्ग देसयाणं' अर्थात् हे भगवान! आप मोक्ष का मार्ग दर्शानेवाले हो। भगवान तो मार्ग दिखाने वाले हैं, किन्तु चलना तो स्वतः को ही है; भगवान जैसा कहते हैं उसे यदि एकक्षण भी समझे तो सम्यग्दर्शन हुए बिना न रहे।

जब सीताजी के गर्भ में लव और कुश थे, उससमय भी उनको सम्यग्दर्शन था–आत्मभान था। रामचन्द्रजी ने सीताजी को वन में छोड़ने का हुकम दिया, किन्तु वहां भी उन्हें आत्मा का भान था। धर्मी जीव संसार में रहते हुए भी निर्लेप रहते हैं। जैसे–धायमाता बालक को खिलाती है, किन्तु अन्तर में समझती है कि यह बालक कमाकर मुझे नहीं खिलायेगा। उसीप्रकार धर्मी जीव को गृहस्थदशा में होने पर भी अन्तर में आत्मा का भान है कि यह शरीर–पुत्रादि मेरे नहीं हैं और जो विकार होता है वह भी मेरा स्वभाव नहीं है, यह कोई भी मुझे धर्म में सहायक नहीं हैं।

आत्मभान होने के पश्चात् राग हो, राजपाट हो, युद्ध करता हो, तथापि अन्तरंग भान से धर्मात्मा च्युत नहीं होते! शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरहनाथ–यह तीनों तीर्थंकर चक्रवर्ती थे, माता के गर्भ में आये तभी से आत्मभान लेकर ही आये थे, तथापि राज्य में रहे, छहखण्ड को जीता–ऐसा राग था; उसे अपनी निर्बलता समझते थे, किन्तु उस राग को अपना स्वरूप नहीं मानते थे और एकक्षण भी आत्मा के भान से च्युत नहीं होते थे। ऐसे आत्मा को जाने बिना धर्म नहीं होता और न मुक्ति होती है। जैसे पहाड़ पर बिजली गिरे और उसके टुकड़े होजायें तो फिर उन्हें मिट्टी से नहीं जोड़ा जासकता; उसीप्रकार जो एकबार भी आत्मा का भान करे वह जीव अनंत-संसारमें परिभ्रमण न करे और धीरे-धीरे संसारसे पार होजायेगा। ऐसा भान आठवर्ष की बालिका को भी होता है। महाविदेह क्षेत्र में इससमय श्री सीमंधर परमात्मा विराजमान हैं, वे तीर्थंकर हैं, उनके समवशरण में इससमय आठ-आठ वर्ष के बालक आत्मा का ज्ञान करते हैं। भाई! अनन्तकाल में आत्मा को जाने बिना तूने सबकुछ किया। तेरा स्वरूप तो गन्ने के रस समान मीठा है और पुण्य-पाप तो मैल है, छिलका है। अहो! भगवान आत्मा का स्वरूप क्या कहता है? शरीर नहीं, मन नहीं, वाणी नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं, ज्ञानमूर्ति आत्मा है-ऐसा सुनकर अन्तरात्मा की महिमा की ओर उन्मुख होने से आठवर्ष की बालिका को भी आत्मा का भान होता है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह मन से नहीं जाना जाता। भगवान आत्मा मन से भी अगोचर है। मन के साथ युक्त हो तो राग-द्वेष और संकल्प-विकल्प होते हैं; उसके आश्रय से चैतन्यजाति नहीं जानी जाती; चैतन्य के आश्रय से ही चैतन्य का ज्ञान होता है। जैसे विषपान करने से अमृत की डकार नहीं आती, उसीप्रकार मन के सम्बन्ध से जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं वह विकार है, उस विकार के द्वारा अविकारी आत्मा प्रगट नहीं होता। मन से काम ले तो कल्याण नहीं होता, किन्तु मन का अवलंबन छोड़कर ज्ञानस्वभाव आत्मा को जाने तो कल्याण हो। आत्मा का सम्यग्दर्शन तो मन से पार है। जैसे बालक मिष्टान्न के टुकड़े के बदले में सोने का हार दे देता है, उसीप्रकार अज्ञानी जीव पुण्य की मिठास में आत्मस्वभाव को भूल जाता है। आत्मा में परिपूर्ण ज्ञानशक्ति भरी है। जैसे लेंडीपीपल में चरपराहट भरी हुई है, वह घिसने से प्रगट होती है, उसीप्रकार आत्मा में परिपूर्ण ज्ञानशक्ति विद्यमान है, उसे जानकर उसमें एकाग्र हो तो केवलज्ञान प्रगट होता है। जैसे लेंडीपीपल को घिसने से चरपराहट प्रगट होती है, किन्तु चूहे की लेंडी को घिसने से चरपराहट प्रगट नहीं होती, उसीप्रकार आत्मा के ज्ञानस्वभाव को पहिचानकर उसमें एकाग्रता की क्रिया करे तो केवलज्ञान प्रगट हो, किन्तु शरीर की क्रिया से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता।

जैसे समुद्र में बाहर की हजारों नदियों के या बरसात के पानी से ज्वार नहीं आता, किन्तु जब उसका मध्य बिन्दु उछले उससमय ज्वार आता है; उसीप्रकार आत्मा के ज्ञान का ज्वार किसी बाह्यक्रिया से नहीं आता, किन्तु अन्तरंग स्वभाव का विश्वास करके उसमें एकाग्र हो तो ज्ञान प्रगट होता है। एक क्षण भी यदि अन्तर के पूर्ण चैतन्य की प्रतीति करे तो मोक्ष हुए बिना न रहे।

सम्यक्त्व के प्रताप से पवित्रता

श्री गणधर देवों ने सम्यग्दर्शनसम्पन्न चांडाल को भी देवसमान कहा है। भस्म में छिपी हुई अग्नि की चिन्गारी की भाँति वह आत्मा चांडालदेह में स्थित होनेपर भी सम्यग्दर्शन के प्रताप से पवित्र होगया है— इससे वह देव है। [रत्नकरण्ड श्रावकाचार : २८]

मोह को क्षय करने का उपाय

[गतांक से आगे]

सहजानन्द स्वभाव में उपयोग

की पूर्ण लीनता न होने से विपरीत-दशा हुई तब रागद्वेषरूप अशुद्ध उपयोग हुआ, उससे आत्मस्वरूप की रमणता में भंग पड़ता है। शुभवृत्ति होती है उससे धर्मात्मा मुनि के अन्तर में भी दुःख-खेद होता है। यदि स्वरूप की रमणता में ही स्थिर रहकर शुद्ध उपयोग प्रगट न करूं तो प्रमाद से शुभ-उपयोग में आजाता हूँ और मेरे केवलज्ञान का कारणरूप अनुभव-चिन्तामणि चोरी चला जाता है। इससे मुझे रागद्वेष को दूर करने के लिये अत्यन्त जागृत रहना योग्य है-ऐसा श्री आचार्यदेव कहते हैं।

मोक्ष का उपाय

रागद्वेष छोड़कर स्वाश्रयस्वभाव में अभेद होना सो सम्यक्चारित्र है, और रागद्वेषरहित स्वाश्रयस्वभाव की श्रद्धा सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन होने से चैतन्य-चिंतामणि की प्राप्ति हुई, किन्तु जितनी परोन्मुखता होती है उतना ही चैतन्य-अनुभवरत्न चोरी चला जाता है। इसलिये सर्व शुभाशुभ से रहित होकर स्वरूप में सम्पूर्ण जागृत रहना ही मोक्ष प्राप्त करने का उपाय है।

सच्चा प्रतिक्रमण

प्रथम अपने शुद्धात्मा की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन प्रगट करके मिथ्याश्रद्धारूप महापाप से हट गया-वही मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है, और पश्चात् शुद्धस्वरूप में स्थिरता प्रगट करके रागद्वेष से पीछे हटा-वह अव्रत इत्यादि का प्रतिक्रमण है। सर्वप्रथम मिथ्यात्व के प्रतिक्रमण के बिना किसी भी प्रकार का प्रतिक्रमण होता ही नहीं। यहाँपर सम्पूर्ण मोह का क्षय करके मोक्षदशा प्रगट करने की बात चल रही है। सम्यग्दर्शन होनेपर भी यदि जीव रागद्वेष को न छोड़े तो वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर पाता।

धर्म और अधर्म

जो द्रव्य-गुण-पर्याय से अरिहंत के यथार्थ स्वरूप को ही न जानें-वैसे जीवों के तो धर्म होता नहीं। पुण्य पाप को अपना स्वरूप मानना और उससे लाभ मानना सो मिथ्यात्वरूपी सबसे महान अधर्म है। अरिहंत जैसा अपना परमार्थ स्वभाव जानकर उसकी श्रद्धा करे अर्थात् पुण्य-पापरहित अभेद चैतन्यमय स्वभाव है, उसमें एकता करने से लाभ मानना और पुण्य-

पाप से लाभ न मानना सो सम्यग्दर्शनरूपी प्रारम्भिक धर्म है। पुण्य-पापरहित शुद्धात्मस्वरूप को जानने पर भी पुण्य-पाप में उपयोग की एकता करना सो चारित्र की अपेक्षा से अधर्म है। और सम्यग्दर्शन प्रगट करके शुद्धात्मद्रव्य में ही पर्याय की एकता करना सो चारित्र-धर्म है।

शुभोपयोग का तिरस्कार

कलकत्ता, बंबई जैसे बड़े शहरों में यदि जेब बाहर रखें तो जेब ही कट जाता है, वैसे ही यदि आत्म-स्वरूप में से बाहर उपयोग को घुमाए तो शुद्ध आत्मा का अनुभव चोरी चला जाता है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् जितना शुभोपयोग में एकाग्र हो उतना शुद्धता का भंडार लुटता है। इससे, सम्यग्दर्शन प्रगट करने के पश्चात् भी जीव को रागद्वेष दूर करके स्वरूप में अत्यन्त जागृत रहना योग्य है। आचार्यदेव ने यहाँपर शुभ-उपयोग को तिलाञ्जलि देकर शुद्ध उपयोग की उग्रता बतलाई है।

सत् की प्ररूपणा करने का विकल्प सो राग है, और असत् को उखाड़फेंकने का विकल्प सो द्वेष है; यह दोनों शुभवृत्तियाँ हैं; इनसे शुद्ध उपयोग में भंग पड़ता है। सत् की ओर के राग में और असत् की ओर के द्वेष में यदि धर्म माने तो वह मिथ्यात्व है। और सम्यग्दर्शन के पश्चात् उस राग-द्वेष की वृत्ति उठे उसमें धर्मी जीव धर्म नहीं मानते, तथापि उस वृत्ति से शुद्ध चारित्र लुटता है; इसलिये उन शुभोपयोग के अंशों को भी छोड़ने के लिये मैं तीव्र पुरुषार्थ द्वारा जागृत रहता हूँ। यदि आचार्य-देव के सम्पूर्ण शुद्धोपयोग की जागृति हो तो 'मैं जागृत रहूँ'—ऐसी वृत्ति भी क्यों हो? 'मैं जागृत रहूँ'—ऐसी वृत्ति स्वतः ही अजागृतिरूप प्रमाद है। आचार्यदेव के शुभवृत्ति प्रवर्तमान है, किन्तु उसे तोड़ने की भावना करते हैं। अहो! जिसप्रकार अरिहंतों ने मोह का क्षय किया है वैसे ही हम भी इसीसमय सम्पूर्ण शुद्धउपयोग जागृत करके मोह का सर्वथा क्षय करेंगे और अरिहंत जैसा शुद्ध आत्मानुभव करेंगे! हमारे शुद्ध स्वभाव की पूर्ण स्थिरता को शुभोपयोग लूट लेता है, इससे उस शुभोपयोगरूप मोह को नष्ट करने के लिये अपने स्वरूप में अत्यन्त जागृत रहना योग्य है। अहो! आचार्यभगवान की अन्तर-दशा कैसी है!

धर्मात्मा जीव को शुभोपयोग के समय सत्-असत् का विवेक कैसा होता है ?

गृहस्थदशा में विद्यमान सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को यद्यपि शुभाशुभ राग होता अवश्य है, किन्तु उस राग को तोड़कर शुद्ध उपयोग की ही भावना उनके होती है। रागकी भूमिका में सत् प्ररूपणा के प्रति बहुमान न आये, और असत् प्ररूपणा को सुनकर 'यह मिथ्या है'—इसप्रकार अन्तर में तिरस्कार (उखाड़फेंकने का भाव) न आये तो उस जीव को सम्यक्दर्शन की भूमिका का आश्रय भी नहीं रहता। किन्तु जहाँतक वह वृत्ति रहती है तबतक स्वरूपस्थिरता की भूमिका रुकी रहती है।

सत् के प्रति जो राग है वह भी लुटेरा है, वह मोह के क्षय करने में कुछ भी सहायक नहीं है, उससे भी जीव को खेद होता है। यदि वह वृत्ति छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो तभी मोह का क्षय होता है। किन्तु जब रागद्वेष को सर्वथा छोड़कर स्वरूपस्थिरता न होती हो उससमय यदि सत् का बहुमान छूटकर किसी अन्य का बहुमान आये तो उस जीव का सम्यक्त्व ही लुट जाता है। अपने को वीतरागता नहीं हुई है और रागद्वेषरूप विकल्प उठते हैं—तथापि यदि सत्-असत् का विवेक करके सत् के बहुमान का और असत् को उखाड़ देने का विकल्प न उठे तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। असत् प्ररूपणा को सुनकर 'यह असत् है'—ऐसा ध्यान में आता है, तथापि जिस जीव के अंतरंग से उसके उत्थापन की वृत्ति नहीं उठती और अन्यत्र रागद्वेष होता है, उस जीव को सम्यग्दर्शन की भूमिका के राग का विवेक नहीं है, उसे सम्यग्दर्शन भूमिका ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि के जब विकल्प होता है तब उसकी उन्मुखता सत् के बहुमान की ओर ही होती है। यदि विकल्प तोड़कर शुद्धोपयोग से आत्मा में लीन होजाये तो पूर्णता प्रगट होती है। उसे तो किसी के प्रति रागद्वेष की वृत्ति होती ही नहीं; किन्तु सम्यग्दर्शन के पश्चात् अस्थिरदशा में जब रागद्वेष की वृत्तियाँ होती हों उससमय सत् का बहुमान और विवेक तो होना ही चाहिये।

राग-द्वेष को दूर करने के लिये जागृत रहना योग्य है

जो शुभाशुभ वृत्तियाँ उठती हैं वे सम्यक्श्रद्धा को हानि नहीं पहुँ-

जातीं, किन्तु सम्यक्चारित्र को लूटती हैं। केवलज्ञान की तैयारी वाले छट्ठे-सातवें गुणस्थान में विद्यमान मुनिराज के भी शुभाशुभ वृत्तियाँ, सम्पूर्ण शुद्धचारित्रदशा को रोक देती हैं—केवलज्ञान को रोक देती हैं। इसलिये यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि मुझे रागद्वेष को दूर करने के लिये जागृत रहना योग्य है।

क्या करने से जीव मुक्त होता है?

भावार्थ:—"८०वीं गाथा में दर्शाये हुए उपाय से दर्शनमोह को दूर करके अर्थात् सम्यक्दर्शन प्राप्त करके जो जीव शुद्धात्मा की अनुभूतिस्वरूप वीतरागचारित्र के प्रतिबंधक रागद्वेष को छोड़ता है, पुनः पुनः रागद्वेषभावरूप परिणमित नहीं होता, वही अभेदरत्नत्रयपरिणत जीव शुद्धबुद्ध एकस्वभाव आत्मा को प्राप्तकरता है—मुक्त होता है।

रागादि से भिन्न शुद्ध आत्मस्वरूप को जानकर सम्यग्दर्शन प्रगट करने के पश्चात् राग-द्वेष को दूर करने की बात है। जिसने रागादि से भिन्न आत्मस्वरूप को जाना ही नहीं वह जीव रागद्वेष को किसप्रकार दूर करेगा? इससे प्रथम ही ८०वीं गाथा में सम्यग्दर्शन प्रगट करने का उपाय बतलाकर फिर रागद्वेष को दूर करने की बात की है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् यदि स्वरूपानुभव में ही जीव अपने उपयोग को लीन करता है तो उसके पुनः पुनः रागादि नहीं होते; वह जीव अभेदरत्नत्रयरूप परिणमित होगया है, उसके रागद्वेषरूप विकल्प टूटकर स्वरूप की एकाग्रता होने से रत्नत्रय का भेद टूटकर उसका अभेदत्व हुआ, अर्थात् उसे स्व में ही श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की एकता हुई है। ऐसा वह जीव शुद्धबुद्ध एक ज्ञानस्वभावी आत्मा को प्राप्त करता है, अर्थात् वह केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त होता है।

जीव को स्वरूप में अत्यन्त सावधान रहना योग्य है

'इससे जीव को सम्यग्दर्शन और सरागचारित्र प्राप्त करके भी रागद्वेष को दूर करने के लिये अत्यन्त सावधान रहना योग्य है'। द्रव्य से, गुण से और पर्याय से मेरा स्वरूप अरिहन्त जैसा है, राग या अपूर्णता मेरा स्वरूप नहीं है,—ऐसा बराबर समझकर प्रथम तो सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये, और इस सम्यग्दर्शनपूर्वक दीक्षा लेकर—शुद्धोपयोग द्वारा

तीनप्रकार के कषायों का नाश करके, छट्ठा गुणस्थान प्रगट करे तो भी वहाँ जो राग का अंश है वह आत्मा की शुद्धता को रोकता है, इससे उस राग को दूर करने के लिये अर्थात् प्रमादरूपी चोर से शुद्धोपयोग का रक्षण करने के लिये स्वरूप में अत्यन्त सावधान रहना योग्य है।

क्षायिकसम्यक्त्व और क्षपकश्रेणी

श्री आचार्यदेव ने पूर्णता की ही भावना भायी है। प्रथम ८०वीं गाथा में क्षायिकसम्यग्दर्शन की बात की है और पश्चात् इस गाथा में क्षपकश्रेणी की बात की है। अहो! आचार्यदेव अपनी अन्तरभावना को बराबर लड़ाते हैं। ८१।

तीर्थंकरों ने क्या किया और क्या कहा?

मोह का सर्वथा नाश करके सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा की प्राप्ति करने का उपाय आचार्य देव ने दो गाथाओं में कहा है। अब, इस गाथा में समस्त तीर्थंकरों को साक्षीरूप से रखकर आचार्यदेव कहते हैं कि जो उपाय यहाँ वर्णित किया है, वही उपाय समस्त तीर्थंकरों ने स्वतः किया है और जगत के भव्य जीवों को भी उन्होंने इसीका उपदेश किया है। उन्हें नमस्कार हो!

अब, यही एक (जो पूर्वोक्त गाथाओं में वर्णित किया है) भगवन्तों द्वारा स्वतः अनुभवन करके दर्शाया हुआ निःश्रेयस (मोक्ष) का पारमार्थिक पंथ है—इसप्रकार मति को व्यवस्थित करते हैं:—

सव्वे वि य अरहंता
तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं
णिव्वादा तेणमो तेसिं ॥ ८२ ॥

'अर्हंत सौ कर्मों तणो,
करी नाश ए ज विधि वडे,
उपदेश पण एम ज करी,
निर्वृत थया; नमुं तेमने।'

अर्थः— सभी अरिहंत भगवन्तों ने इसी विधि से कर्मांशों का (ज्ञानावरणीयादि कर्मभेदों का) क्षय करके तथा (अन्य सबको भी) इसी प्रकार उपदेश देकर मोक्ष को प्राप्त किया है। उनको नमस्कार हो!

उपर्युक्त ८२वीं गाथा का विस्तृत प्रवचन आगे दिया जायगा। साथ ही ८०-८१-८२ तीनों गाथाओं का सार भी आगे दिया जायेगा। इन गाथाओं में सभी तीर्थंकरों के उपदेश का सार आजाता है। समस्त

तीर्थंकरों ने क्या किया और उपदेश में जगत को क्या कहा? वह उनमें स्पष्टरूप से भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है। ❀

तीर्थंकरों के पथपर

[गतांक से आगे]

शुद्धोपयोग ही अरिहंतों का मार्ग है

स्वतः भगवान होने के लिये, भगवान के समान अपने आत्मा की पहिचान करना चाहिये। पुण्य-पाप-रहित ज्ञानानन्द स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और उसमें स्थिरतारूप जो शुद्धोपयोग है वही मोक्ष के लिये एकमात्र उपाय भगवान ने कहा है। इससे विरुद्ध जो अन्य उपाय कहता हो वह अरिहंतों के मार्गपर चलनेवाला नहीं है। सर्वज्ञ भगवान द्वारा स्वतः देखे हुए, किये हुए और उपदेशित वस्तुस्वरूप के नियम को जाने बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और मोह दूर नहीं होता। विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है-ऐसा भगवान ने जाना है, और विकार को दूर करके शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञानदशा प्रगट की है। जगत के जीवों को ऐसे शुद्धस्वरूप का उपदेश किया है। इसप्रकार श्री जिनेंद्र भगवान 'मग्ग देसियाणं' मार्गदर्शक हैं। भगवान ने मोक्षमार्ग जैसा था वैसा ही दिखाया है, कोई नवीन मार्ग नहीं बनाया है।

जो मार्ग हमारा है वही तुम्हारा भी है

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! भगवान की वाणी परम विश्वास योग्य है। भगवान कहते हैं कि, स्वभाव के आश्रय से मोह राग-द्वेष का क्षय करना ही मोक्षमार्ग है, कोई राग मोक्षमार्ग में सहायक नहीं है। पंचमकाल में जो हीन पुरुषार्थी जीव होंगे उनके लिये भी यही एक धर्म का मार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। हमारी भाँति दूसरे मुमुक्षुओं को भी भविष्यकाल में यही मार्ग है। हममें और तुममें वास्तव में कोई अन्तर नहीं है; हम भी आत्मा हैं और तुम भी आत्मा हो। हमारा स्वरूप पुण्य-पापरहित और तुम्हारा स्वरूप भी

पुण्य-पापरहित है । तुम्हारी पर्याय में पुण्य-पाप होते हैं, किन्तु हम कहते हैं कि वह विकार तुम्हारा स्वरूप नहीं है । इसलिये विकाररहित अपने पूर्ण स्वरूप को समझकर उसका आश्रय करो-यही मोक्ष का पंथ है। जैसे सभी सिद्धों का स्वरूप एक ही प्रकार का है उसीप्रकार सभी मुमुक्षुओं को सिद्ध होने का उपाय भी एक ही प्रकार का है ।

स्वाश्रयभाव ही मोक्षमार्ग है

स्वाश्रय अर्थात् अपने शुद्धआत्मा का आश्रय, स्वभाव में एकता । स्वाश्रय सो सम्यग्दर्शन.सम्यग्ज्ञान है और वही सम्यग्चारित्र है । इसप्रकार स्वाश्रय ही मोक्षमार्ग है; जो पराश्रय भाव होते हैं वह मोक्षमार्ग नहीं है । व्यवहाररत्नत्रय के शुभपरिणाम भी पर के आश्रय से होते हैं, वह मोक्षमार्ग नहीं है। ऐसे ही उपाय से भगवान अरिहंत हुए और स्वतः इसीप्रकार का उपदेश दिया। श्री कुंदकुंद भगवान स्वतः स्वाश्रित मोक्षमार्ग का अनुभव करके उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो उपाय हमने बताया है वही उपाय सभी तीर्थंकरों ने किया था और उपदेश में भी वही कहा था । वर्तमान में स्वतः स्वभाव स्वाश्रित निर्णय किया उसमें त्रिकाल का निर्णय आजाता है ।

भगवान क्या करके मोक्ष को प्राप्त हुए ?

पूर्ण शुद्धउपयोग प्रगट होने से पूर्व व्यवहाररत्नत्रयरूप राग आता अवश्य है, किन्तु उसके द्वारा कर्मों का क्षय नहीं होता। निश्चयस्वभाव के आश्रय से कर्म का क्षय होकर केवलज्ञान होता है-ऐसा स्वतः आत्मा में अनुभव करके और उसीप्रकार सबको उपदेश करके अरिहंत प्रभु निःश्रेयस (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं ।

तीर्थंकरों ने जगत के जीवों को उत्तराधिकार में "स्वाश्रितमोक्षमार्ग" दिया है ।

भगवान मोक्ष जाने से पूर्व जगत के मुमुक्षु जीवों को उत्तराधिकार में मोक्ष का उपाय सौंप गये हैं। हम इस उपाय से मोक्ष प्राप्त कर रहे हैं और जगत के मुमुक्षु भी इसी उपाय से मोक्ष प्राप्त करेंगे। जैसे अन्तिम समय पिता अपने पुत्र को धन-सम्पत्ति सौंप देता है, और सीख देता है, उसीप्रकार यहाँ

परम धर्मपिता सर्वज्ञदेव परम वीत-राग आप्तपुरुष, मुक्ति प्राप्त करने से पूर्व (सिद्ध होने से पूर्व) तीर्थंकर पदपर आरूढ़ होकर दिव्य उपदेश द्वारा जगत के भव्यजीवों को मोक्ष का उपाय दर्शाते हैं—उनके स्वभाव की सम्पत्ति सौंपते हैं। हे जीवो! तुम्हारा आत्मा सिद्ध-समान शुद्ध है, उसे जानकर उसकी शरण लो! स्वभाव की शरण सो मुक्ति का कारण है बाह्य का आश्रय बंध का कारण है। धर्मपिता तीर्थंकर ऐसा स्वाश्रित मोक्ष का पथ बतलाकर सिद्ध हुए हैं। अहो! उन्हें नमस्कार हो!

साधक आत्मा के परमपिता श्री तीर्थंकर देव हैं, वे सलाह देते हैं कि हे जीवो! आत्मा को जानो—पहिचानो। सत्पदार्थ आत्मा स्वाधीन है, वह पराश्रयरहित स्वतः से परिपूर्ण है।

भगवान को स्वाश्रयभाव की पूर्णता होने से केवलज्ञान होता है। उससमय समवशरण की रचना होती है, दिव्यवाणी ॐ वीतरागभाव से खिरती है और वह उपदेश बारह-सभाओं के जीव सुनते हैं। भगवान की वाणी में ऐसा उपदेश है कि—भाई आत्मा को पहिचानो! सर्वप्रकार से आत्मस्वरूप का ही आश्रय करो, वही मुक्ति का मार्ग है। प्रथम भगवान ने स्वतः ऐसे उपाय से पूर्णदशा प्रगट की और पश्चात् भव्यों को ऐसा ही उपदेश देकर प्रभुश्री परम कल्याणस्वरूप मुक्ति को प्राप्त हुए। इसलिये मुक्ति का यही मार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। तीर्थंकरों ने दुंदुभी के नाद के बीच दिव्यध्वनि में यह एक ही मार्ग जगत के जीवों को दर्शाया है; यहाँपर आचार्यदेव स्वतः वर्तमान में अनन्त तीर्थंकरों के उपदेश की घोषणा करते हैं: जैसे बड़ा भाई छोटे भाई से कहता है कि 'अपने पिताजी तो ऐसा कह गये हैं' वैसे ही आचार्यदेव जगत के जीवों से कहते हैं कि परमपिता अरिहंत भगवान इसप्रकार से मुक्ति का मार्ग कह गये हैं।

स्वाश्रय को स्वीकार करनेवाला जीव कैसा होता है?

जिसने अरिहंत समान अपने आत्मा को स्वीकार किया और स्वाश्रयभाव को स्वीकार किया, उस जीवने वास्तव में रागादि का आश्रय छोड़कर ज्ञानस्वरूपी आत्मा का ही आश्रय लिया है। जिसने ज्ञानस्वरूपी आत्मा का

आश्रय लिया है उसके मोह का क्षय होकर मुक्ति हुए बिना रहता ही नहीं; उसे कर्म की अथवा काल की शंका नहीं पड़ती। जिसने स्वभाव का आश्रय नहीं किया उसी जीव को ऐसी शंका पराश्रय से होती है कि 'अभी मेरी मुक्ति का काल ही नहीं आया होगा तो? मेरे कर्म निकाचित होंगे तो? अभी अनन्त भव शेष होंगे तो?' किन्तु जिसने अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय किया है-श्रद्धा-ज्ञान किये हैं वह जीव, काल अथवा कर्म का आश्रय करता ही नहीं; उसके स्वभाव के आश्रय से मुक्ति का काल पक ही गया है, और कर्म की स्थिति भी पक गई है।

जिनशासन में स्वाश्रय के पुरुषार्थ का आदेश है, पराश्रय का नहीं

'जिस जीव की भवस्थिति पक चुकी है, उसके लिये *यह स्वाश्रय* का उपदेश है'-ऐसा आचार्यदेव नहीं कहते। काल का आश्रय नहीं बतलाते, किन्तु आत्मा का आश्रय बतलाते हैं। पुरुषार्थ द्वारा जो आत्मा का आश्रय करे उसकी भवस्थिति पक ही गई है। यदि तू स्वाश्रय का पुरुषार्थ कर तो तेरी मुक्ति है और यदि वह पुरुषार्थ नहीं करेगा तो तेरी मुक्ति नहीं होगी। जिसने काल की या कर्म की ओट ली, उसने पर का आश्रय लिया है। पर के आश्रय से भगवान ने मुक्ति नहीं कही है।

प्रश्नः—जिसके अर्धपुद्गलपरावर्तन संसार शेष हो उसे सम्यग्दर्शन होता है-ऐसा शास्त्रों में आता है या नहीं?

उत्तर—वहाँ भी कोई पराश्रय नहीं बतलाया किन्तु स्वभाव का ही आश्रय बतलाया है। सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाई है कि-जो जीव स्वभाव का आश्रय करके सम्यग्दर्शन प्रगट करे उस जीव के अर्द्धपुद्गलपरावर्तन से अधिक संसार तो नहीं ही होता। जो स्वभाव का आश्रय करे उसके संसार की लम्बी स्थिति होती ही नहीं। स्वाश्रय से ही निर्वाण है ऐसा भगवान ने कहा है। स्वाश्रित मोक्षमार्ग में कोई अन्य पदार्थ आड़े आयें-ऐसा नहीं है।

जिनेन्द्र देवों ने आत्मस्वभाव की ओर के पुरुषार्थ से मुक्ति प्राप्त की की है और दिव्यध्वनि में जगत के जीवों को पुरुषार्थ का ही उपदेश किया है। हे जगत के जीवो! संसार-

समुद्र से पार होने के लिये सच्चा पुरुषार्थ करो! जो जीव श्री जिनेन्द्रदेव के उपदेशानुसार पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करते हैं उनकी तो काललब्धि और भवितव्य भी हो चुके हैं और कर्म का उपशमादि भी हुआ है। इसलिये जो पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करते हैं उन्हें तो अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है। और जो जीव पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय नहीं करते उनके तो काललब्धि और भवितव्य भी नहीं है, तथा कर्म का उपशमादि भी नहीं है। इसलिये जो पुरुषार्थ नहीं करता उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

जिनेश्वर देवों ने स्वाश्रय का पुरुषार्थ किया और वे उसीका उपदेश भी देते हैं। उनके स्वाश्रयपुरुषार्थ करने के उपदेश को सुनकर जो जीव वैसा करते हैं वे अवश्य मुक्ति प्राप्त करते हैं। जिन्हें अपने स्वभाव की पूर्णता का संतोष नहीं है—विश्वास नहीं है वही पर का आश्रय करते हैं, वे जीव कभी बंधन से मुक्त नहीं होते। भगवान ने तो आत्मा का पूर्णस्वभाव बतलाकर उसीके आश्रय का पुरुषार्थ करने को कहा है, वैसा न मानकर विपरीत माने तो मुक्ति कहाँ से होगी?

सर्वज्ञ का अनुकरण करके उन्हीं जैसा पुरुषार्थ करो!

शरीरादि स्वस्थ रहें या अशक्त रहें, उनका आश्रय छोड़, देव-गुरु-शास्त्र का आश्रय छोड, राग का आश्रय छोड़ और क्षणिक पर्याय का आश्रय भी छोड़दे; सम्पूर्णस्वभाव को जानकर उसका आश्रय कर! अपने आत्मा में विकार की एकता न करके जैसा स्वभाव है उसे वैसा ही—यथावत् रखे तो तेरी मुक्ति हो। अपने आत्मा को सर्वज्ञसमान जानकर तू सर्वज्ञ का अनुकरण करके उन जैसा पुरुषार्थ कर। सर्वज्ञदेव ने स्वाश्रय किया है, उसीप्रकार तू भी अपने आत्मा का स्वाश्रय कर। अज्ञानी जीवों की आड़ लेकर पराश्रय मत कर। दिवालिया मनुष्य दूसरे दिवालिया की आड़ लेकर कहता है कि उसने तो रुपये में छहआने देकर ही चुकाया है और मैं तो आठआने देरहा हूँ; किंतु जो साहूकार हैं वह वैसा नहीं कहते; वे पूरा रुपया देकर ही चुकाते हैं। उसीप्रकार भगवान का भक्त साधक सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा तो भगवान जैसा ही अपने को मानकर पूर्ण स्वाश्रय का पुरुषार्थ करता है। अज्ञानी जीव पराश्रय को ही ढूँढ़ते हैं। धर्मीजीव काल अथवा

कर्म की ओट लेकर पुरुषार्थ को निर्बल नहीं बनाते, पराश्रय को स्वीकार नहीं करते, किन्तु अपने पूर्णस्वभाव की ओट लेकर पूर्णता का पुरुषार्थ ही करते हैं। पुरुषार्थहीन जीव पराश्रय में रुकते हैं; वे अपने घर रहें; मैं तो अपने स्वभाव का आश्रय करके पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति प्राप्त करने वाला हूँ। मुक्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है—ऐसी आचार्यदेव इस गाथा में घोषणा करते हैं।

अपना आत्मा वर्तमान में ही परिपूर्ण भगवान जैसा है, धर्मात्मा जीव उसीका आश्रय करते हैं। जो स्वभाव का आश्रय करते हैं वे विकार को अपना स्वरूप नहीं मानते, और जो विकार को अपना स्वरूप मानते हैं वे कभी भी विकार का आश्रय छोड़कर स्वभाव का आश्रय नहीं करते, और उनके स्वाश्रय का पुरुषार्थ भी प्रगट नहीं होता। पूर्व का विकार वर्तमान में बाधक हो अथवा पूर्व के अच्छे संस्कार हों तभी इससमय धर्म होसकता है-इसप्रकार धर्मात्मा जीव पूर्वपर्याय का आश्रय नहीं करते, किन्तु अपना स्वभाव इससमय भी पूर्ण है इसे स्वीकार करके उसीका आश्रय करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता को प्राप्त होते हैं। यही मोक्ष का उपाय है। यह 'पंचमकाल है, इसलिये अभी पूर्ण पुरुषार्थ नहीं होता' ऐसा नहीं है, किन्तु जीव स्वत: स्वाश्रय में सम्पूर्णरूप से स्थिर नहीं होसकता—उस अपनी पर्याय के कारण पुरुषार्थहीन है। स्वाश्रय की पूर्णता नहीं करता इसलिये मोक्ष नहीं होता।

स्वाश्रय के अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षमार्ग किसी कालमें नहीं है।

भविष्य के मुमुक्षुओं को भी तीर्थंकरों ने इसीप्रकार के स्वाश्रित मोक्षमार्ग का उपदेश किया है। भविष्य में होनेवाले तीर्थंकर भी ऐसा ही उपदेश करेंगे। भविष्य में जो तीर्थंकर होंगे वे भी प्रथम तो मुमुक्षु होकर भगवान का उपदेश सुनकर ही होंगे, इसलिये उनका समावेश भी मुमुक्षुओं में होजाता है। पंचमकाल में अथवा अनन्तकाल में समस्त जीवों को अपने आत्मस्वभाव के आश्रय के अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है। अन्य सम्प्रदायों में तो कभी मोक्षमार्ग होता ही नहीं; सत्य जैनसम्प्रदाय में भी किसी जीव को निमित्त के आश्रय से, राग के आश्रय से, व्यवहार के आश्रय से अथवा किसी संयोग के आश्रय से मोक्ष-

मार्ग नहीं है। शुद्ध वस्तुस्वभाव के आश्रय से ही जैनमत में ही मोक्षमार्ग है। सभी तीर्थंकरों ने ऐसा ही किया है और ऐसा ही कहा है, इससे यही निर्वाण का मार्ग है, दूसरा मार्ग नहीं है—ऐसा बराबर निश्चित होता है।

आचार्यदेव स्वतः को प्रगटे हुए स्वाश्रय की निःशंक घोषणा करते हैं

"अथवा, प्रलाप से बस हो! हमारी मति व्यवस्थित हुई है;" तीर्थंकरों ने जो उपदेश किया सो तो किया ही है; मैंने यह निश्चय करके कि अपने आत्मा में स्वाश्रय से ही मुक्ति होती है, स्वाश्रयभाव का अंगीकार किया है। इसलिये अब विशेष विकल्पों से बस हो, बस हो! मेरी मति स्वाश्रय में स्थिर हुई है। 'भगवान अरिहंतों ने ऐसा किया और इसप्रकार उपदेश दिया'-ऐसे पर की ओर के विकल्पों से अलम्-अलम् बस हो! बस हो! स्वभाव की प्रतीति और आश्रय के द्वारा विकल्प तोड़कर ज्ञान अपने स्वरूप में स्थिर हुआ है। अब मेरी मति में स्वाश्रय के अतिरिक्त अन्य का अवकाश नहीं है। स्वाश्रय के अतिरिक्त अन्य कुछ मानने का अवकाश नहीं है, और यदि विकल्प उठे तो स्वाश्रय के अतिरिक्त किसी अन्य की प्ररूपणा का अवकाश ही नहीं है। अहो! मेरे आत्मा ने अन्तरंग से स्वाश्रय का स्वीकार करके वह भाव प्रगट किया है। स्वभाव का आश्रय किया वह कभी भी बदलने वाला नहीं है, और पराश्रय की श्रद्धा कभी नहीं होगी। जो स्वभाव के आश्रय का निश्चय किया है उसी निश्चय के मंथन से स्वरूपस्थिरता की पूर्णता प्रगट करके, मोह का सर्वथा क्षय करके हम केवलज्ञान प्राप्त करने वाले हैं—इसप्रकार आचार्यदेव अपनी निःशंकता की घोषणा करते हैं। स्वतः को स्वभाव का बराबर निश्चय हुआ है और मति व्यवस्थित हुई है—ऐसा निःशंक खबर छद्मस्थ जीव को पड़ती है। जिसक्षण पराश्रय छोड़कर स्वाश्रय किया, उसीक्षण स्वाश्रय की शांति का स्वतः को ही वेदन होता है। आचार्यदेव कहते हैं कि अरिहंत भगवान के समान अपने चैतन्यमूर्ति स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके हमने अपने ज्ञान को स्थिर किया है, और वह हमने अपने अनुभव से जाना है। अब हमारी मति में परिवर्तन करने के लिये

कोई समर्थ नहीं है। जिसने स्वभाव का निर्णय करके ज्ञान को स्वभाव में स्थिर किया है उसने स्वाश्रित मोक्षमार्ग को अंगीकार किया है; स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुआ जो भाव है वह निरन्तर अभेदरूप से स्वभाव के साथ स्थिर रहता है। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि हमने अपने स्वभाव का आश्रय किया है इससे मोह का क्षय करके अप्रतिहत भाव से केवलज्ञान प्रगट करनेवाले हैं। जिसप्रकार अरिहंत मोक्ष को प्राप्त हुए हैं वैसे ही हम भी इसी-प्रकार का पुरुषार्थ करके मोक्ष प्राप्त करेंगे। भगवन्तों को नमस्कार है!

आचार्यदेव नमस्कार करते हुए कहते हैं कि हे भगवान ! मैं तुम्हारे पथपर चला आरहा हूँ

स्वतः स्वाश्रय में मति स्थापित की है, परन्तु अभी छट्ठे गुणस्थान में राग की वृत्ति उठती है; इससे आचार्यदेव भगवान की ओर के उल्लास को प्रगट करते हुए कहते हैं कि अरिहंत भगवन्तों को नमस्कार हो ! अहो नाथ ! आपने स्वभाव के आश्रय से मोह का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया है, वैसे ही मैं भी आपका उत्तराधिकार लेने के लिये स्वाश्रय से आपके पीछे चला आरहा हूँ। अहो ! जिन्होंने ऐसा पूर्ण स्वतंत्र स्वाश्रित मार्ग बतलाकर अनन्त उपकार किया है उन भगवन्तों को मैं नमस्कार करता हूँ—अर्थात् मैं भी इस स्वाश्रयमार्ग को ही अंगीकार करता हूँ। भगवान के चरणकमलों में हमारा नमस्कार हो ! आचर्यदेव स्वतः अपने मोक्ष के लिये उत्साह और उल्लास प्रगट करते हैं कि हे प्रभो ! जिसप्रकार आपने मुक्ति प्राप्त की है उसी-प्रकार हम भी मोक्ष के मार्ग पर हैं, हम भी केवलज्ञान प्रगट करेंगे और वही उपदेश करके मोक्ष प्राप्त करेंगे। दूसरा क्या कहें भगवन्तों को नमस्कार हो ! जिन जीवों के स्वाश्रय की रुचि हो और पराश्रय की रुचि दूर होचुकी हो वही जीव भगवंतों को नमस्कार करता है। वास्तव में भगवान ने जिस स्वाश्रय मार्ग का उपदेश दिया है वैसा ही समझकर अपने में भी वैसा ही स्वाश्रय प्रगट करना सो भगवान को नमस्कार करना है।

प्रथमधर्म सम्यग्दर्शन, और उसे प्रगट करने का उपाय

अरिहंत भगवान के जैसे शुद्ध-द्रव्य, शुद्धगुण, और शुद्धपर्याय हैं

वैसे ही यह आत्मा भी द्रव्य, गुण और पर्याय से शुद्धस्वरूपी है। द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद शुद्ध चैतन्य-स्वभाव की श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है। जो राग-द्वेष होता है वह द्रव्य में नहीं, गुण में नहीं और पर्याय का स्वरूप भी वह नहीं है। यदि पर्याय को शुद्धस्वभाव में अभेद करे तो पर्याय में विकार नहीं होता। जैसे अरिहंत के स्वरूप में रागद्वेष नहीं है, उसीप्रकार इस आत्मा के स्वरूप में भी नहीं है। इसप्रकार स्वभावदृष्टि करके, विकाररहित द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद शुद्धात्मा को जानने से मोह का क्षय होता है और पवित्र सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यही प्रथम धर्म है।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की ओर लक्ष्य रहे वह राग है, धर्म नहीं। अपने आत्मा में द्रव्य गुण पर्याय का विचार करना भी राग है। एक अभेदवस्तु में द्रव्य-गुण-पर्याय, ऐसे तीन भेद परमार्थ से नहीं हैं। रागरहित और भेदरहित आत्मस्वरूप की प्रतीति सो धर्म है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल निर्मल हैं और पर्याय में विकार है—ऐसे भेद करके उसके विकल्प में रुके तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा। पर्याय में दोष है वह आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं है, क्योंकि अरिहंतों के आत्मा में वह नहीं है। इसलिये उस क्षणिक, विकाररहित सम्पूर्ण आत्मा को प्रतीति में—लक्ष्य में लेना सो धर्म है। जितना केवली भगवान के आत्मा में हो उतना ही इस आत्मा का स्वरूप है, और जितना अरिहंत के आत्मा में न हो उतना इस आत्मा का स्वरूप नहीं है। केवली भगवान के दया-भक्ति के भाव नहीं होते, इससे वे भाव आत्मा का स्वरूप नहीं हैं।

(अपूर्ण)

शांति का उपाय

[गुजराती समयसार गाथा ३९० से ४०४ के प्रवचनों से]

धर्मात्मा जीव आत्मा के स्वभाव को कैसा जानते हैं—यह उसकी बात कही जारही है। जिसे धर्म करना हो उसे अपने ज्ञान में आत्मा का यथार्थ मूल्य जानना पड़ेगा। ज्ञान में जिसकी महिमा हो उसी

में ज्ञान एकाग्र होता है। यदि पर की महिमा करके ज्ञान वहाँ एकाग्र हो तो वह अधर्म है और आत्मा की महिमा को समझकर यदि वहाँ एकाग्र हो तो वह धर्म है। जैसे—जिन जीवों को विषयों में या लक्ष्मी इत्यादि में सुखबुद्धि हुई है वे जीव उसमें एकाग्र होते हैं-जीवन की चिन्ता न करके वे विषयों में लीन होजाते हैं, क्योंकि उनके ज्ञान में उनकी महिमा भासित हुई है, वैसे ही आत्मा का ज्ञानस्वभाव अनन्त सुखस्वरूप है, पर से भिन्न है—उस स्वभाव की महिमा यदि ज्ञान में आये तो सबसे प्रयोजन छोड़कर ज्ञान अपने स्वभाव में स्थिर हो और यथार्थ शांति प्रगट हो; इसका नाम धर्म है। किन्तु यदि ज्ञान में ज्ञात होनेवाले शब्दादि पदार्थ अथवा उन्हें जाननेवाले अल्पज्ञान जितना ही आत्मा का मूल्यांकन करे तो वह ज्ञान परविषयों में और पर्याय-बुद्धि में ही रुक जायेगा, किन्तु वहाँ से हटकर पूर्ण स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं होगा और शांति प्रगट नहीं होगी।

हे भव्य! यदि तुझे शांति प्रगट करना है तो वह शांति परवस्तु में से नहीं आयेगी, परवस्तुओं के सन्मुख देखने से नहीं आयेगी, विकार या क्षणिक पर्याय की ओर देखने से नहीं आयेगी, किन्तु यदि उन सबका लक्ष्य छोड़कर अपनी वर्तमान अवस्था को त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव में एकाकार कर तो त्रैकालिक स्वभाव के आधार से अवस्था में परिपूर्ण शांति प्रगट हो।

शब्दादि विषयों में किंचित् ज्ञान नहीं है—इससे उनसे तो आत्मा भिन्न है, और आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान है—आत्मा और ज्ञान किंचित् भिन्न नहीं है—ऐसा भेदज्ञान करके यदि स्वभावोन्मुख हो तो स्वभाव के आश्रय से जीव को सम्यक् मति-श्रुतज्ञान प्रगट हो और अल्पकाल में ही भव का अन्त आजाये इसके अतिरिक्त जो मति-श्रुत ज्ञान परलक्ष्य से ही कार्य करे-वह मिथ्या ज्ञान है। स्वलक्ष्य से सम्यग्ज्ञान प्रगट किये बिना कोई जीव कषाय को मन्द करे तो उसे पापानुबन्धी पुण्य का बन्ध हो और साथ ही उसीसमय सम्पूर्ण आत्मस्वभाव के अनादररूप मिथ्यात्व से अनन्त पाप बंध करे और अनन्त भव बढ़ जाये।

आत्मधर्म

भाद्रपद २४७५

वर्ष पाँचवाँ, अङ्क पाँचवाँ

ज्ञान की स्वाधीनता और निमित्त का अकिंचित्करपना

[समयसार गाथा ३९० से ४०४ के प्रवचनों से]

(१) दिव्यध्वनि में निमित्तपने का आरोप

श्री सर्वज्ञदेव को पूर्णज्ञान हो-गया है, और उनकी वाणी में भी प्रत्येक समय में पूर्ण रहस्य आता है। परन्तु उपस्थित जीव अपने ज्ञान की योग्यता से जितना समझें उतना उन्हें निमित्त कहा जाता है। कोई जीव बारहअंग समझे तो उसके लिये बारह अंगो के समझने में वह वाणी निमित्त कहलाती है। कोई जीव करणानुयोग का ज्ञान करे तो उससमय उसे करणानुयोग के ज्ञान में वह वाणी निमित्त कही-जाती है। और उसीसमय दूसरा जीव द्रव्यानुयोग का ज्ञान करता हो तो उसको वह वाणी द्रव्यानुयोग के ज्ञान में निमित्त कहलाती है। इसमें ज्ञान की स्वाधीनता सिद्ध होती है। जो जीव अपने अन्तरस्वभाव के आधार से जितना श्रद्धा-ज्ञान का विकास करे उतना ही दिव्यध्वनि में निमित्तपने का आरोप आता है; इसलिये यहाँ आचार्यभगवान कहते हैं कि ज्ञान और द्रव्यश्रुत पृथक् हैं। वाणी और शास्त्र तो अजीव हैं; अजीव के आधार से कभी ज्ञान नहीं होता। यदि वाणी का श्रवण करने के कारण ज्ञान होता हो तो अजीव वाणी कर्ता बने और ज्ञान उसका कार्य सिद्ध हो; परन्तु अजीव का कार्य तो अजीव ही होता है, अर्थात् ज्ञान स्वतः अजीव सिद्ध हुआ। जो जीव परवस्तु के आधार से अपना ज्ञान मानता है उसका ज्ञान मिथ्या है। उसे यहाँ अचेतन कहा है। श्रुत के शब्द जड़ हैं, वे आत्मा के ज्ञान में अकिंचित्कर हैं; उस द्रव्यश्रुत के अवलम्बन से आत्मा को किंचित् भी ज्ञान या धर्म नहीं होता।

(२) जो आत्मा में अभेद हो वही यथार्थज्ञान है

शास्त्र और वाणी तो जड़ हैं,

वह तो ज्ञान नहीं ही है; किन्तु मंद-कषाय को लेकर मात्र शास्त्र के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान का विकास भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ द्रव्य-गुण-पर्याय, निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त, नवतत्त्व आदि सम्बन्धी ज्ञान का विकास मात्र शास्त्रों के लक्ष्य से हो, और स्वभाव का लक्ष्य न करे तो उस ज्ञान के विकास को भी द्रव्यश्रुत में गिनकर अचेतन कहा है। शास्त्र इत्यादि परद्रव्य और उनके लक्ष्य से होनेवाली मन्द-कषाय तथा उसके लक्ष्य से कार्य करता हुआ वर्तमान जितना ज्ञान का विकास-उन सबका आश्रय छोड़कर उनके साथ की एकता छोड़कर त्रैकालिक आत्मस्वभाव का आश्रय करके जो ज्ञान आत्मा में अभेद हो वही यथार्थ ज्ञान है।

(३) ऐसा क्यों कहा कि 'संतो की वाणी जयवन्त हो?'

प्रश्नः—यदि वाणी से-श्रुत से ज्ञान नहीं होता तो फिर 'तीर्थंकरों की-संतो की वाणी जयवंत प्रवर्तमान रहे, श्रुत जयवंत हो'-ऐसा किसलिये कहा जाता है?

उत्तरः—वाणी से ज्ञान नहीं होता, किन्तु स्वभाव के ओर की एकाग्रता से ज्ञान प्रगट होता है। सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् जीव ऐसा जानता है कि पहले वाणी की ओर लक्ष था, अर्थात् सम्यग्ज्ञान होने में वाणी निमित्तरूप है। वास्तव में तो अपने आत्मा में जो भेदज्ञान प्रगट हुआ है वह भावश्रुत जयवंत हो-ऐसी भावना है; और शुभ विकल्प के समय भेदज्ञान के निमित्तरूप वाणी में आरोप करके कहते हैं कि 'श्रुत जयवंत हो, भगवान की और संतों की वाणी जयवंत हो' परन्तु उससमय भी अन्तर में बराबर भान है कि वाणी इत्यादि परद्रव्य से अथवा उनकी ओर के लक्ष्य से मेरे आत्मा को किंचित् लाभ नहीं होता।

(४) वाणी के कारण ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के कारण वाणी नहीं होती।

आत्मा के ज्ञान में वाणी का अभाव है और वाणी में ज्ञान का अभाव है। यदि वाणी से ज्ञान होता हो तो वाणी कर्ता और ज्ञान उसका कर्म, इसप्रकार एक दूसरे के कर्ता कर्मपना होजाता है; इसलिये वह मान्यता मिथ्या है। उसी-प्रकार आत्मा में सच्चा समझनेरूप

योग्यता हो उससमय उस योग्यता के कारण वाणी निकलना ही चाहिये—यह मान्यता भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो ज्ञान कर्ता सिद्ध हो और अचेतन वाणी उसका कार्य सिद्ध हो!

श्री महावीर भगवान को केवलज्ञान हुआ, इन्द्रों ने समवशरण की रचना की, परन्तु छियासठ दिनतक भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी। श्रावण कृष्णा एकम के दिन गौतमस्वामी आये और वाणी खिरी; परन्तु वहाँ गौतम स्वामी आये इसलिये वाणी खिरी ऐसा नहीं है, और वाणी खिरना थी इसलिये गौतमस्वामी आये ऐसा भी नहीं है। वाणी और गौतमस्वामी—दोनों की क्रियाएँ स्वतंत्र हैं। भगवान की वाणी छूटी इसलिये गौतमस्वामी को ज्ञान हुआ, ऐसा भी वास्तव में नहीं है। वाणी अचेतन है, उससे ज्ञान नहीं होता, और गौतमस्वामी आदि जीवों के ज्ञान में समझने की योग्यता हुई इसलिये भगवान की वाणी परिणमित हुई—ऐसा भी नहीं है। अचेतन परमाणु को ऐसी खबर नहीं है कि सम्मुख पात्र जीव आया है इसलिये मैं परिणमित होऊँ! वैसे ही भगवान कहे वाणी के कर्ता नहीं हैं; वाणी तो उसके अपने कारण से परिणमित होती है, और जो जीव अपने आत्मस्वभाव को समझने की योग्यतावाला होता है वही जीव अन्तरपुरुषार्थ द्वारा अपने स्वभाव के सन्मुख होकर समझता है। उसका ज्ञान अपने ज्ञानस्वभाव के आधार से परिणमित होता है। अपने स्वभाव के सन्मुख होकर जानना—देखना और आनन्द का अनुभव करना वह आत्मा का स्वरूप है, परसन्मुख होकर जाने ऐसा आत्मा का स्वरूप नहीं है।

(५) केवलज्ञान, कंपन और वाणी—तीनों की स्वतंत्रता

आत्मस्वभाव में सम्पूर्ण स्थिर होने से महावीर भगवान को केवलज्ञान प्रगट हुआ; वहाँ घातिकर्मों का स्वयं परमाणु की योग्यता से नाश हुआ। भगवान के अभी चार अघातिकर्म संयोगरूप थे और आत्मा में योग का कम्पन था; उसके निमित्त से दिव्यध्वनि खिरती थी। वहाँ केवलज्ञान या कम्पन के कारण वाणी परिणमित नहीं होती; क्योंकि तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान और कम्पन तो निरंतर है; इससे यदि उसके कारण से वाणी परिणमित होती हो तो वह निरंतर होना

चाहिये, किन्तु वाणी तो अमुक समय ही होती है, क्योंकि उसका परिणमन स्वतंत्र है। पुनश्च, दिव्यध्वनि खिरना है इसलिये भगवान के योग का कंपन है-ऐसा भी नहीं है। कम्पन तो जीव के योगगुण की अशुद्धदशा है और वाणी तो जड़ की दशा है। दोनों अपने-अपने कारण से स्वतंत्र होते हैं।

भगवान को केवलज्ञान और कंपन है इसलिये वाणी खिरती है-ऐसा नहीं है। वाणी खिरती है इसलिये केवलज्ञान और कंपन स्थिर हैं-ऐसा भी नहीं है। कंपन के कारण केवलज्ञान स्थिर नहीं रहता और न केवलज्ञान के कारण कंपन; किन्तु केवलज्ञान, वाणी और कंपन-तीनों स्वतन्त्र हैं।

(६) भगवान की वाणी और गौतम का ज्ञान-दोनों एक ही समय में हुए, तथापि एक दूसरे के कारण ।

अब, भगवान क णी छूटती है उस वाणी के कारण दूसरे जीवों को ज्ञान नहीं होता। दूसरे जीवों को ज्ञान होना है इसलिये वाणी खिरती है-ऐसा भी नहीं है। भगवान महावीर की वाणी खिरी तब वह परमाणुओं की योग्यता से खिरी है और गौतमस्वामी को जो ज्ञान प्रगट हुआ वह उनके आत्मा की योग्यता से हुआ है। वे दोनों कार्य एक ही समय में हुए उससे कहीं एक दूसरे के कर्ता नहीं हैं; वाणीरूप पर्याय में पुद्गलपरमाणु प्रवेश कर गये हैं, इससे वाणी उस पुद्गल का कार्य है। कहीं गौतमप्रभु वाणी पर्याय में प्रविष्ट नहीं होगये हैं; उसीप्रकार गौतमस्वामी की ज्ञानपर्याय में उनका आत्मा ही प्रविष्ट हुआ है, कहीं वाणी उस ज्ञान में प्रवेश नहीं कर गई है, इसलिये वाणी के कारण ज्ञान नहीं हुआ है; और गौतमस्वामी के कारण भगवान की वाणी नहीं हुई है। इस जगत में अनन्त पदार्थों के भिन्न-भिन्न कार्य एकसमय में एकसाथ होते हैं, उससे कोई पदार्थ किन्हीं अन्य पदार्थों का कर्ता नहीं है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ करे-ऐसा वस्तुस्वभाव ही नहीं है।

(७) वाणी के आश्रय से राग की उत्पत्ति है, और स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति है।

द्रव्यश्रुत अर्थात् भगवान की

वाणी अचेतन है, उसके लक्ष्य से राग की उत्पत्ति होती है; वाणी के लक्ष्य से धर्म की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु आस्रव की उत्पत्ति होती है; वाणी के लक्ष्य से जो ज्ञान होता है वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। ज्ञानस्वभाव के साथ अभेद होकर जो ज्ञान परिणमित हो वह आत्म-स्वभाव है। भगवान की वाणी के लक्ष्य से पुण्यभाव होता है, वह भी अचेतन है, वह धर्म का या सम्यग्ज्ञान का कारण नहीं है। आत्मा स्वतः चेतन है, उसका अवलम्बन छोड़कर यदि अचेतन वाणी के अवलम्बनरूप परिणमित हो तो आस्रव-भाव है; उससमय जो शुभभाव होता है उससे चारों घातिकर्म भी बंधते हैं और घातिकर्म पापरूप ही हैं, इसप्रकार द्रव्यश्रुत के लक्ष्य से पुण्य-पापरूप आस्रव होता है। इससे जड़ के आश्रय से जो ज्ञान होता है वह भी अचेतन है, क्योंकि वह ज्ञान चैतन्य के विकास को रोकनेवाला है। चेतनरूप ज्ञानस्वभाव के आश्रय से सम्यग्ज्ञान होता है और संवर-निर्जरारूप निर्मलभाव की उत्पत्ति होकर आस्रव का नाश होता है। ऐसा जो जीव जानता है वह अपने ज्ञानस्वभाव के स्वामित्व-रूप ही परिणमित होता है; अपने को अचेतन वस्तु का कर्ता या स्वामी नहीं मानता और अचेतन के आश्रय से होनेवाले ज्ञान जितना ही अपने को नहीं मानता। जो रुपये की थैली में हाथ डालेगा उसे रुपये मिलेंगे और जो चिरायते के थैले में हाथ डालेगा उसे चिरायता मिलेगा। इस दृष्टान्त से इतना समझना कि—जो अचेतन वाणी की रुचि और विश्वास करे उसे उसकी वर्तमान दशा में रागादि और अज्ञान की ही प्राप्ति होगी, और ज्ञानादि अनन्त गुणों के भंडार-रूप अपने स्वभाव की रुचि और विश्वास करे तो उसे अपनी पर्याय में भी सम्यग्ज्ञान और शांति की प्राप्ति होती है। इसलिये जिसे अपने आत्मा में सम्यग्दर्शन, शांति, सुख आदि प्रगट करना हों उसे कहीं बाह्य में न देखकर अनन्तगुणस्वरूप अपने आत्मस्वभाव में देखना चाहिये। आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि प्रगट होते हैं। और उसके अतिरिक्त वाणी-शास्त्रादि बाह्य वस्तुओं के लक्ष्य से चिरायते जैसा आस्रव और बंधभाव होते हैं।

आत्मस्वभाव का आश्रय करना वह प्रयोजन है

आत्मस्वभाव के समझने में, समझने से पूर्व और समझने के पश्चात् भी सत्‌श्रुत निमित्तरूप होता है, उसका यहाँ निषेध नहीं है। किन्तु यदि निमित्तों का आश्रय छोड़कर अपने स्वभाव का आश्रय करे तभी जीव को सम्यग्दर्शन होता है, और इसप्रकार स्वाश्रय से सम्यग्ज्ञान प्रगट करे तभी श्रुत को उसका यथार्थ निमित्त कहा जाता है और उसके द्रव्यश्रुत के ज्ञान को व्यवहारज्ञान कहाजाता है। इसप्रकार यहाँ निमित्त का—व्यवहार का आश्रय छोड़कर स्वभाव का आश्रय करना ही प्रयोजन है, वही धर्म का मार्ग है।

(९) ज्ञानी सारे दिन क्या करते हैं?

प्रश्नः—यदि श्रुत-शास्त्र ज्ञान का कारण नहीं हैं, तो ज्ञानी दिनभर समयसार—प्रवचनसार आदि-शास्त्र हाथों में लेकर क्यों पढ़ते हैं?

उत्तरः—प्रथम तो यह समझो कि आत्मा क्या है? ज्ञान क्या है? शास्त्र क्या है? और हाथ क्या है? हाथ और शास्त्र तो दोनों अचेतन हैं, आत्मा से पृथक् है, उनकी क्रिया तो कोई आत्मा करता नहीं है, ज्ञानी को स्वाध्यायादि का विकल्प हुआ और उससमय ज्ञान में उसप्रकार के ज्ञेयों को ही जानने की योग्यता थी इससे ज्ञान होता है तथा उससमय निमित्तरूप समयसारादि शास्त्र उनके अपने कारण से स्वतः होते हैं; वहाँ ज्ञानी ने तो आत्मस्वभाव के आश्रय से ज्ञान ही किया है। हाथ की, शास्त्र की अथवा राग की क्रिया भी उसने नहीं की है। शास्त्र के कारण ज्ञान नहीं होता और जीव के विकल्प के कारण शास्त्र नहीं आया। ज्ञान का कारण तो अपना ज्ञानस्वभाव होता है या अचेतन वस्तु? जिसे अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नहीं है और अचेतन श्रुत के कारण अपना ज्ञान मानता है उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। यह भगवान आत्मा स्वतः ज्ञानस्वरूप है। सर्वज्ञवीतराग देव की साक्षात् वाणी ज्ञान का असाधारण—सर्वोत्कृष्ट निमित्त है, वह अचेतन है, उसके आश्रय से—कारण से भी आत्मा को किंचित् ज्ञान नहीं होता; तो फिर अन्य निमित्तों की तो बात ही क्या है!

(१०) भेदज्ञान के बिना आगे नहीं बढ़ा जासकता

कोई यह कहे कि–पहले तो वाणी इत्यादि निमित्तों के लक्ष्य से ही आत्मा आगे बढ़ता है न? तो उससे कहते हैं कि–भाई! वाणी के लक्ष्य से अधिक होगा तो पापभाव दूर होकर पुण्यभाव होंगे, किन्तु वह कहीं आगे बढ़ा नहीं कहलायेगा। क्योंकि शुभभावों तक तो जीव अनन्त-बार आचुका है। शुभ-अशुभ से आत्मा का भेदज्ञान करके स्वभाव में आये तभी आगे बढ़ा कहला-येगा। निमित्त के लक्ष्य से कभी भी भेदज्ञान नहीं होता; अपने ज्ञानस्व-भाव के लक्ष्य से प्रारम्भ करे तभी आगे बढ़े और भेदज्ञान प्रगट होकर पूर्णता हो।

(११) यदि वाणी से ज्ञान नहीं होता तो जिज्ञासु लोग व्याख्यानादि सुनने क्यों आते हैं?

प्रश्नः—यदि आत्मा में ही पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य भरा है और वाणी से ज्ञान नहीं होता तो यह सब जिज्ञासु यहाँ सुनने क्यों आते हैं? स्वतः में भरा हुआ है उसमें से क्यों नहीं निकालते?

उत्तरः—यहाँ सुनने आते हैं इसका क्या अर्थ? उसमें आत्मा क्या करता है? जड़ शरीर को आत्मा कहीं उठा नहीं लाया है, शरीर का क्षेत्रान्तर उसके कारण से हुआ है और आत्मा का क्षेत्रा-न्तर आत्मा के कारण हुआ है। जिज्ञासु जीवों को सत्‌श्रवण की इच्छा होती है वह शुभराग है; उस राग से या सुनने से ज्ञान नहीं होता; उसीप्रकार सत्‌श्रवण की इच्छा हुई इसलिये आत्मा का क्षेत्रान्तर हुआ–ऐसा भी नहीं है; क्योंकि इच्छा चारित्र का विकार है और क्षेत्रान्तर क्रियावती शक्ति की अवस्था है–दोनों पृथक्–पृथक् गुणों के कार्य हैं। एक गुण की पर्याय दूसरे में कुछ नहीं करती, तो फिर आत्मा परवस्तु में क्या करेगा? श्रवण के समय भी शब्दों के कारण ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञान की उससमय की पर्याय की वैसी ही योग्यता है, उससे उससमय वैसे ही निमित्तरूप शब्द सामने स्वतः होते हैं, वहाँ अज्ञानी को ऐसा लगता है कि शब्दों के कारण ज्ञान हुआ है; परन्तु वैसा नहीं है। आत्मा की प्रतीति तो अन्तरस्वभाव के आश्रयरूप पुरुषार्थ से ही होती है। जिज्ञासु जीवों को कुगुरु का संग छोड़कर, सत्पुरुष की वाणी श्रवण करने का भाव आता

है, किन्तु 'मेरा ज्ञान वाणी के कारण नहीं है, वाणी के लक्ष्य से भी मेरा ज्ञान नहीं है, अंतरंग ज्ञानस्वभाव में से ही मेरा ज्ञान आता है'-ऐसा निश्चित् करके यदि स्वभाव की ओर उन्मुख हो तभी सम्यग्ज्ञान होता है। वाणी के लक्ष्य से सम्यग्ज्ञान नहीं होता। इसप्रकार सत् का श्रवण करनेवाले जीव का ज्ञान स्वतंत्र है, इच्छा स्वतंत्र है, क्षेत्रान्तर स्वतंत्र है, शरीर की क्रिया स्वतंत्र है और सामनेवाले की वाणी भी स्वतंत्र है।

द्रव्यदृष्टि के अपूर्व पुरुषार्थ बिना क्रमबद्ध-पर्याय की अथवा केवलज्ञान की प्रतीति नहीं होती।

[समयसार गाथा ३९० से ४०४ के प्रवचनों से]

ज्ञान चेतन है और वाणी जड़ का परिणमन है; ज्ञान और वाणी दोनों अपनी-अपनी पर्याय में स्वतंत्ररूप से क्रमबद्ध परिणमित होते हैं।

प्रश्न:—यदि प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध होती है तो रागादिभाव होते हैं वे भी क्रमबद्ध होते हैं न? तो उन्हें दूर करने का पुरुषार्थ नहीं रहता।

उत्तर:—जिसे क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा हुई हो उसे ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि द्रव्यदृष्टि के बल से ही अनादि-अनंत क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा होती है, द्रव्यदृष्टि हुए बिना क्रमबद्ध पर्याय की यथार्थ श्रद्धा नहीं होती। और द्रव्यदृष्टि होने से जीव राग को अपना स्वरूप नहीं मानता, क्योंकि त्रैकालिक द्रव्य में राग नहीं है, इससे वह जीव वास्तव में राग का ज्ञाता ही रहता है—अर्थात् परमार्थतः उसे राग नहीं होता किन्तु राग दूर ही होता है। मेरी और जगत के समस्त जीवों की अवस्था क्रमबद्ध होती है, ऐसा निश्चित् करनेवाला जीव एक-एक पर्याय को नहीं देखता, किन्तु द्रव्य के त्रैकालिक स्वरूप को देखता है। ऐसा जीव राग की योग्यता को नहीं देखता क्योंकि त्रिकाली स्वभाव में राग की योग्यता नहीं है; इससे त्रिकाली स्वभाव में एकता के बल

से उसके राग दूर ही होता जाता है। ऐसे त्रैकालिक स्वभाव की दृष्टि करने में रागरहित श्रद्धा-ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ कार्य कर रहा है। क्रमबद्ध पर्याय का विश्वास करने मे तो पर का विकार का और पर्याय का आश्रय छूटकर मात्र अभेद स्वभाव का ही आश्रय रहता है, उस स्वभाव में से राग की उत्पत्ति होती ही नहीं है, इससे क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा वाले सम्यग्दृष्टि के क्रमशः स्वभाव की एकता ही होती जाती है और राग दूर होता रहता है। स्वभावदृष्टि के कारण उसके स्वभाव की उत्पत्ति का क्रम है, और राग को दूर करने का क्रम है। तब फिर " राग होना होगा तो होगा" यह बात कहाँ रही? राग के ऊपर ही जिसकी दृष्टि है उसे तो राग और आत्मा के भेद का विचार ही नहीं है, उसे तो राग ही आत्मा है, इससे उसके राग की ही उत्पत्ति होती है, किन्तु जिसकी रागरहित चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि है और राग का निषेध है उसके तो स्वभाव की निर्मलता की ही उत्पत्ति होती है और राग नष्ट होता जाता है। सम्यग्दृष्टि के चारित्र की निर्बलता से जो अल्प राग होता है वह वास्तव में उत्पत्तिरूप नहीं है किन्तु टालने के लिये ही है; क्योंकि जब राग होता है उससमय भी राग का नहीं किन्तु द्रव्य का ही आश्रय है।

स्व और पर समस्त पदार्थ क्रमबद्धपर्याय में परिणमित होते हैं-ऐसा निश्चित् करते ही, ज्ञान का क्रम ज्ञान से और वाणी का क्रम जड़ से-इसप्रकार दोनों का भेदज्ञान होकर ज्ञान अपने स्वभाव में उन्मुख होता है। स्वभावोन्मुख हुए बिना क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं होसकता। जिसप्रकार स्वद्रव्य की ओर उन्मुख हुए बिना स्व-पर की क्रमबद्ध पर्याय का यथार्थ निर्णय नहीं होसकता, वैसे ही स्वद्रव्य के निर्णय बिना केवली भगवान का निर्णय भी यथार्थरूप से नहीं होसकता। स्वतः राग से अंशतः पृथक् हुए बिना केवलज्ञान का निर्णय कहां से कर सकेगा? राग और ज्ञान के बीच का भेदज्ञान हुए बिना परमार्थ से केवलज्ञान की प्रतीति नहीं होती। इससे ऐसा बतलाया कि स्वद्रव्य के स्वभाव के निर्णय से ही धर्म होता है। केवली भगवान का निर्णय करने में भी पर-

मार्थ से तो अपने आत्मद्रव्य के निर्णय का ही पुरुषार्थ है। आत्म-निर्णय के पुरुषार्थ के बिना केवली-भगवान के वचनों की भी यथार्थ प्रतीति नहीं वहती।

शरीर में रोग हो तब आत्मा को क्या करना चाहिये?

[समयसार गाथा ३९० से ४०४ के व्याख्यानों में]

प्रश्न:—आत्मा चैतन्यस्वरूप है और शरीर से पृथक् है, यह बात तो हम मानते हैं, परन्तु शरीर में जब रोग हो तब हमें उसकी दवा तो करना चाहिये न?

उत्तर:—आत्मा शरीर से भिन्न है, और शरीरादि परद्रव्यों का कुछ भी नहीं कर सकता—ऐसा वस्तुस्वरूप समझ में आया हो तो उपरोक्त प्रश्न उठने का अवकाश ही नहीं रहता। "आत्मा शरीर से पृथक् नहीं किन्तु शरीर का कर्ता है—ऐसी जिसकी अज्ञानबुद्धि है उसे ही उपरोक्त प्रश्न उठता है। 'दवा करना या न करना'—ऐसा प्रश्न कब उठता है? यदि दवा की क्रिया आत्मा के अधीन हो तब यह प्रश्न उठता है। जो कार्य करने में स्वतः समर्थ नहीं है उसके सम्बन्ध में 'मुझे यह करना चाहिये या नहीं'—ऐसा प्रश्न ही नहीं होता। शरीर की अथवा दवा लाने की क्रिया आत्मा कर ही नहीं सकता। आत्मा तो स्व-पर का ज्ञान करता है और अधिक तो अपने में राग-द्वेष-मोह भाव करता है। जिसे शरीर के ऊपर राग हो ऐसे जीव को दवा करने का विकल्प होता है, परन्तु यदि दवा आना हो तो स्वतः उसके अपने कारण से आती है। आत्मा पर में एक रंचमात्र परिवर्तन नहीं कर सकता। यहाँ तो आचार्यदेव यह बात समझाते हैं कि—जो राग-भाव होता है उसे करना भी आत्मा का कार्य नहीं है, और स्वतः को भूलकर पर को जानने में रुके ऐसा ज्ञान भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा के स्वभाव की ओर उन्मुख होकर जाने वह ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। जड़शरीर की ओर दवा करने की बात तो अलग रही, जड़ की अवस्थाएँ प्रतिक्षण जैसी होना हों वैसी जड़ के स्वभाव से होती ही रहती हैं; अज्ञानी जीव अपने ज्ञातास्वभाव को भूलकर उसका अभिमान करता है, ज्ञानी जीव उससे पृथक्त्व को जानकर अपने ज्ञानस्व-

भाव की ओर उन्मुख होता है और राग का एवं पर का ज्ञाता रहता है।

दवा को, शरीर को, राग को और आत्मा को--सभी को एकमेक माने उस जीव को ऐसा प्रश्न होता है कि--'शरीर में रोग हो तब मुझे दवा करना चाहिये या नहीं? किन्तु भाई! विचार तो कर कि तू अर्थात् कौन? और दवा करना अर्थात् क्या? तू अर्थात् ज्ञान और दवा अर्थात् अनन्त जड़ रजकण। क्या तेरा ज्ञान जड़ रजकणों की क्रिया करता है? 'मुझे खरगोश के सींग काटना चाहिये या नहीं? ऐसा प्रश्न ही कब हो सकता है? यदि खरगोश के सींग हों तब यह प्रश्न उठ सकता है; किन्तु खरगोश के सींग ही नहीं हैं तो फिर उन्हें काटने और न काटने का सवाल ही नहीं उठता। वैसे ही, यदि आत्मा परवस्तु का कुछ कर सकता हो तब यह प्रश्न उठे कि 'मुझे करना चाहिये या नहीं' तो वह प्रश्न ठीक है। किन्तु आत्मा पर का कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर 'मैं पर का करूँ' अथवा 'न करूँ' यह दोनों मान्यताएँ मिथ्यात्व है।

सत्य की समझ वीतरागता का कारण है

'आत्मा ज्ञानस्वरूप है, पर का कुछ नहीं कर सकता, जड़ की क्रियायें अपने आप जैसी होना होती हैं वैसी होती हैं'–ऐसा समझकर अपने ज्ञान-स्वभाव की ओर उन्मुख होना और पर से उदासीन होने का प्रयोजन है। परन्तु स्वच्छन्दता का सेवन करके विषयकषायों की पुष्टि करने की यह बात नहीं है। यह तो ऐसी अपूर्व बात है कि यदि यथार्थ समझे तो वीतरागता होजाये। प्रथम श्रद्धा में वीतरागता हो और पश्चात् चारित्र में वीतरागता होजाये। कोई जीव स्वच्छन्दी होकर विषय-कषायों की पुष्टि करे तो वह सत्य को समझने का फल नहीं है; किन्तु वह जीव सत्य को नहीं समझा है इससे उसके न समझने का ही वह फल है; इसमें सत्य का किंचित् दोष नहीं है। सत्स्वभाव समझे और विषय-कषायों में वृद्धि हो–ऐसा कभी नहीं होसकता, क्योंकि सत्स्वभाव की समझ तो वीतरागता का ही कारण है।

अपूर्व भेदज्ञान के लिये अमृत का इन्जेक्शन

[समयसार गाथा ३९० से ४०४ के प्रवचनों से]

अहा! आचार्यदेव ने ज्ञानस्वभाव की अपूर्व बात की है। वाणी अचेतन है उसके आधार से ज्ञान नहीं है; ज्ञानस्वभाव के आधार से ही ज्ञान होता है। अहो! यह भेदविज्ञान की परम सत्य बात है, आत्मकल्याण का मार्ग है। परन्तु जिन्हें अपने कल्याण की चिन्ता नहीं है—ऐसे तुच्छबुद्धि जीवों को यह बात नहीं रुचती, अर्थात् वास्तव में अपना ज्ञानस्वभाव ही नहीं रुचता और विकारभावों की रुचि है, इससे ऐसी अपूर्व आत्मस्वभाव की बात कान में पड़ते ही ऐसे जीव पुकार करते हैं कि 'अरे! आत्मा पर का कुछ नहीं करता ऐसा कहना तो विष का इन्जेक्शन देने जैसा है!' क्या किया जाय? भेदज्ञान की यह परम अमृत जैसी बात भी उन्हें विष के समान लगती है! यह उनकी पर्याय का परिणमन भी स्वतंत्र है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है वह विकार का और पर का अकर्ता है—ऐसी भेदज्ञान की बात तो अनादिकाल से जो मिथ्यात्वरूपी विष चढ़ा हुआ है उसे उतारने के लिये परम अमृत के इन्जेक्शन जैसी है। यदि आत्मा एकबार भी इस इन्जेक्शन को ले तो उसके जन्म मरण का रोग नाश होकर सिद्धदशा हुए बिना न रहे। आत्मा और विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, परिपूर्ण है, निरावलम्ब है—ऐसा सम्यक्बोध तो परमामृत है। ऐसा परमामृत भी जिन जीवों को 'विष के इन्जेक्शन' जैसा लगता है उन जीवों को उनके मिथ्यात्व भाव का बल ही वैसा पुकार रहा है! यह तो निजकल्याण करने के लिये और मिथ्यात्वरूपी विष दूर करने के लिये अचूक अमृत का इन्जेक्शन है। अपने परिपूर्ण स्वभाव का विश्वास करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो अर्थात् धर्म का सर्वप्रथम प्रारम्भ हो। और उसका विश्वास न करके वाणी का या राग का ही विश्वास करे तो जीव को मिथ्यात्वरूप अधर्म ही होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि वाणी के आश्रय से तेरा ज्ञान प्रगट नहीं होगा। राग की भूमिका में वाणी की ओर लक्ष्य जाता अवश्य है, परन्तु यदि वाणी का अवलम्बन मानकर अटके तो मिथ्याज्ञान है। वाणी के अवलम्बन से रहित पूर्णज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। ज्ञान और वाणी पृथक् हैं; ज्ञान में से वाणी नहीं

निकलती और वाणी से ज्ञान प्रगट नहीं होता; ज्ञान में जैसी योग्यता हो वैसी वाणी निमित्तरूप होती है-ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वहाँ अज्ञानी जीव भ्रम से ऐसा मानता है कि वाणी के कारण ज्ञान होता है; इससे वह वाणी का आश्रय नहीं छोड़ता और स्वभाव का आश्रय नहीं करता, इसलिये उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। ऐसे जीव को वाणी से ज्ञान का पृथक्त्व बतलाते हैं। ज्ञान चेतन है और वाणी जड़ का परिणमन है।

आस्तिक और नास्तिक का स्वरूप

प्रश्नः—आस्तिक का अर्थ क्या ?

उत्तरः—जो इस आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व का स्वीकार यथार्थस्वरूप से करते हैं उन्हें आस्तिक कहते हैं।

प्रश्नः—नास्तिक का अर्थ क्या ?

उत्तरः—जो आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को यथार्थस्वरूप से न मानें, अगर तो विपरीत मानें वे नास्तिक हैं

प्रश्नः—जैनमत आस्तिक है या नास्तिक ?

उत्तरः—जैनमत आस्तिक है।

प्रश्नः—क्या जैनमत ईश्वर का होना मानता है।

उत्तरः—हाँ, जैनमत में ही ईश्वर का अस्तित्व यथार्थरूप से माना गया है।

प्रश्नः—ईश्वर को जैनमत में किसप्रकार माना जाता है ?

उत्तरः—जिन आत्माओं ने अपनी शक्ति का सम्पूर्ण विकास किया है और राग-द्वेष को सम्पूर्ण दूर किया है वे आत्मा ईश्वर हैं; उन्हें भगवान, जिनदेव, परमात्मा, सिद्ध, अरिहंत, शुद्धात्मा आदि नामों से भी जाना जाता है।

प्रश्नः—वह ईश्वर क्या करते हैं ?

उत्तरः—वे अपने ज्ञान से सारे जगत को जानते हैं, और अपने आत्मा के आनन्द को भोगते हैं। वे इस जगत का कुछ नहीं करते; वे तो जगत् के ज्ञाता हैं, किन्तु कर्ता नहीं हैं।

प्रश्नः—वे इस जगतके कर्ता क्यों नहीं हैं ?

उत्तर:—क्योंकि इस जगत के सभी पदार्थ अपना-अपना कार्य अपने आप करते ही रहते हैं, उन्हें किसी अन्य करनेवाले की आवश्यक्ता ही नहीं है, स्वभाव से ही प्रत्येक पदार्थ कार्यवाला है।

पुनश्च, ईश्वर को राग-द्वेष ही नहीं है। राग द्वेष के बिना कर्तृत्व की वृत्ति होती ही नहीं। 'मैं ऐसा करूं, वैसा करूं' ऐसी वृत्ति जहाँ होती है वहाँ रागद्वेष और आकुलता होती है; जहाँ आकुलता होती है वहाँ दुःख होता है; और जिसके दुःख होता है वह ईश्वर नहीं हो सकता। ईश्वर के दुःख और राग-द्वेष नहीं होते।

यदि ईश्वर कर्ता हो तो इस जगत में किसी जीव को दुःखी किसलिये करे? मारे किसलिये? पाप किसलिये करावे? इसलिये ईश्वर कुछ नहीं करता; किन्तु जीवों के अपनी योग्यतानुसार वे अवस्थाएँ स्वत: होती ही रहती हैं। अज्ञान और रागद्वेष से जीव अपने आप ही दुःखी होते हैं, ईश्वर उन्हें दुःखी नहीं करता। और ज्ञान तथा वीतरागता से जीव अपने आप ही सुखी होता है, ईश्वर कहीं उन्हें सुख नहीं देता।

ईश्वर तो सम्पूर्ण सुखी आत्मा है, वह कृतकृत्य है। उसे कुछ उपाधि नहीं है। पर का कुछ करने की इच्छा तो आकुलता है और आकुलता दुःख है। ईश्वर एक नहीं किन्तु अनंत हैं।

प्रश्न:—ईश्वर को इस सृष्टि का कर्ता न मानने से तो जैन नास्तिक सिद्ध होंगे?

उत्तर:—कदापि नहीं; "ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानने से ही आस्तिकता है और कर्ता न मानने से नास्तिकता है"—यह मान्यता सर्वथा भ्रम है। आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को यथार्थस्वरूप से मानने वाला आस्तिक है। जैनमत में ही आत्मा और परमात्मा का वास्तविक स्वरूप मानने में आया है, इससे जैनमत ही वास्तव में आस्तिक है। और जो आत्मा और परमात्मा (ईश्वर) का स्वरूप यथार्थ रीति से नहीं मानते वे वास्तव में नास्तिक हैं।

प्रश्न:—इस सृष्टि का कर्ता ईश्वर है—ऐसा माने वह आस्तिक है या नास्तिक?

उत्तर:—प्रथम तो ईश्वर (परमात्मा) के यथार्थस्वरूप को उन्होंने नहीं माना; और दूसरे—जगत में

अनन्त जीव और जड़पदार्थ स्वतंत्र स्वयंसिद्ध अनादि-अनन्त हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है, वे सब स्वतंत्र अस्तित्व वाले हैं, तथापि "ईश्वर ने उन्हें किया है" ऐसा मानकर उनके स्वतंत्र अस्तित्व का निषेध किया है, इससे वास्तव में तो वे नास्तिक हैं।

'ईश्वर' अर्थात् 'परमात्मा' वह सम्पूर्ण सुखी आत्मा (जीव) है। वही आत्मा सम्पूर्ण सुखी होता है जिसे सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट हुआ हो। यदि सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट न हो—किसी भी अंश तक अज्ञान हो तो वहाँ तक जीव को सम्पूर्ण सुख नहीं होता। ईश्वर को सम्पूर्ण ज्ञान है, इससे वे सम्पूर्ण सुखी हैं, जो सम्पूर्ण सुखी हो उसे किंचित्मात्र भी दुःख नहीं होता।

राग या द्वेष अथवा कुछ नवीन करने की वृत्ति, वह दुःख की निशानी है। ईश्वर को वह रागद्वेष नहीं होता, इससे ईश्वर सम्पूर्ण सुखी, सम्पूर्ण ज्ञानी और रागद्वेष रहित हैं। ऐसे स्वरूप से ईश्वर को न मानना सो नास्तिकता है।

'मुझे ईश्वर ने बनाया है'—ऐसा माननेवाला नास्तिक है। क्योंकि 'ईश्वर ने मुझे बनाया है' इसका अर्थ यह हुआ कि 'पहले मैं नहीं था' अर्थात् पहले मेरी नास्ति थी; इसप्रकार अपने ही अस्तित्व का अस्वीकार सो नास्तिकता है। इस जगत में जितने पदार्थ हैं वे सब स्वभाव से ही सत् हैं।

प्रश्नः—ईश्वर तो सम्पूर्ण शुद्ध वीतराग हैं, इससे वे तो पर का कुछ नहीं करते, परन्तु छद्मस्थ रागी जीव तो पर का कुछ करते हैं न?

उत्तरः—रागी जीव भी पर का कुछ नहीं कर सकता। जैसा एक जीव का स्वभाव वैसा ही सभी जीवों का स्वभाव, जैसा ईश्वर का स्वभाव, वैसा ही सभी जीवों का स्वभाव। जैसे ईश्वर पर का कुछ नहीं कर सकता किन्तु मात्र जानता ही है, उसीप्रकार इस विश्व के समस्त जीव पर का कुछ नहीं कर सकते, पर को मात्र जानते ही हैं। जानने के समय जो राग-द्वेषादि करते हैं वह जीव का दोष है। वास्तव में तो उस राग को भी जानना जीव का स्वभाव है। इसप्रकार ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को पहिचानकर, ईश्वर की भाँति अपने आत्मा को भी ज्ञानस्वभाव से और पर के अकर्तास्वभाव से जाने तो जीव को स्व-

पर का भेदज्ञान हो; और इस भेद-ज्ञान के बल से रागद्वेष का सम्पूर्ण नाश करके तथा अपने ज्ञान को पूर्णतया विकसित करके जीव स्वतः ही ईश्वर होजाये। इसप्रकार ईश्वर की और आत्मा के स्वरूप की यथार्थ आस्तिकता का फल सच्चा ईश्वरत्व है।

जो ईश्वर को पर का कर्ता या रागी मानते हैं वे अवश्य अपने को भी पर का कर्ता और रागी मानते हैं, इससे वे पर के कर्तृत्व के अहंकार में अटके रहते हैं, और पर के कर्तृत्व के अहंकार से रहित जो अपना ज्ञानस्वभाव है उसे वे नहीं मानते। ज्ञानस्वभावी आत्मा के अस्तित्व का अस्वीकार सो परमार्थ से नास्तिकता है।

और, इसजगत की समस्त परवस्तुएँ स्वतंत्र हैं, सब स्वतः अपने से ही स्वतंत्ररूप से स्थित रहने वाली हैं, प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप के स्वतंत्र अस्तित्वरूप से स्थित रहकर अपना कार्य स्वतः करता है, तथापि उसके स्वतंत्र अस्तित्व को न मानना, और ईश्वर उसका कर्ता है, अथवा मैं उसका कर्ता हूँ-ऐसा मानना भी नास्तिकता है।

वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अकर्तृत्व ही है। वस्तु अपने स्वरूप से अस्तित्वरूप है और अन्य से वह नास्तित्वरूप है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ सम्पूर्णरूप से पृथक्-पृथक् है। ऐसा होने से एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का अकर्ता ही है। जिसप्रकार सर्वज्ञ ईश्वर पर में अकर्ता हैं वैसे ही जगत के सभी जीव पर में अकर्ता हैं। ऐसा स्वतंत्रवाद जगत् के पदार्थों में प्रवर्तमान है। विश्व के समस्त पदार्थों के स्वतंत्र अस्तित्व को जानना ही आस्तिकता है।

प्रश्नः—सब मिलकर एक ही आत्मा है, अर्थात् सभी आत्मा एक ईश्वर के ही अंश हैं,—ऐसा मानना आस्तिकता है या नास्तिकता?

उत्तरः—यह मान्यता नास्तिकतारूप है।

प्रश्नः—इसमें आत्मा के अस्तित्व को तो स्वीकार किया है, फिर भी नास्तिक क्यों है?

उत्तरः—वास्तव में उसमें यथार्थस्वरूप से आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है। इस जगत में अनन्तानन्त आत्मा हैं, और वह प्रत्येक आत्मा स्वतः परिपूर्ण अखण्ड है। ऐसा होनेपर भी, सब मिलकर

एक ही आत्मा है–ऐसा जिसने माना है उसने किसी भी आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है; अनन्त परिपूर्ण आत्मा हैं उन्हें नहीं माना है। प्रत्येक आत्मा पूर्ण है, उसे अनन्तवें भाग से माना–इसप्रकार वह नास्तिक ही सिद्ध होता है। इस जगत् में प्रत्येक–प्रत्येक जीव और प्रत्येक–प्रत्येक जड़ वस्तु स्वतंत्र है, प्रत्येक वस्तु स्वतः से ही परिपूर्ण अस्तित्व रखती है, कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु के आधार से स्थिर नहीं रहती-ऐसा जानना–मानना ही सच्ची आस्तिकता है। ऐसे आस्तिक को ही धर्म और मुक्ति होती है।

वास्तव में तो, जिसप्रकार अपने परिपूर्ण शुद्धात्मस्वरूप का अस्तित्व है उसीप्रकार जानकर जो स्वीकार करे वही सच्चा आस्तिक है। जो भेदज्ञान द्वारा शुद्धात्मा के स्वरूप को नहीं जानता वह अवश्य ही कहीं अन्यत्र आत्मा का अस्तित्व मानता है। आत्मा के अस्तित्व को न जाने और उसे अन्यप्रकार से माने तो वह भी नास्तिकता है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप को सम्यग्दृष्टिज्ञानी ही जानते हैं इससे वे ही सच्चे आस्तिक हैं। मिथ्यादृष्टि जीव आत्मा के स्वरूप को यथार्थ रीति से नहीं जानते इससे वे परमार्थ से नास्तिक हैं।

इसप्रकार जगत का प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र, स्वयंसिद्ध, किसीसे भी अनिमित्त और परिपूर्ण है; जगत में अनन्त आत्माएँ हैं, उनमें प्रत्येक स्वतंत्र है। कोई भी आत्मा अपने स्वरूप की पूर्णता को जानकर उसमें एकाग्रता द्वारा अपनी चैतन्यशक्ति का विकास करके स्वतः ही ईश्वर होसकता है–ऐसा जाननेवाला ही आस्तिक है, और दूसरे वास्तव में नास्तिक हैं।

प्रश्नः—यदि ईश्वर इस जगत का कर्ता नहीं है तो जगत की यह सब व्यवस्था कैसे चलती है?

उत्तरः—इस जगत में जितने पदार्थ हैं वे स्वतः अपने स्वभाव से ही व्यवस्थितरूप से परिणमन करते हैं; कोई पदार्थ कभी भी अव्यवस्थित परिणमित होता ही नहीं; कोई पदार्थ कभी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। जैसे गेहूँ को बोने से गेहूँ ही उगते हैं किन्तु गेहूँ में से बाजरा नहीं उगता, उसीप्रकार जीव सदैव जीवरूप रहकर ही परिणमन करता है, किन्तु वह परिणमित होकर जड़ नहीं होजाता। पदार्थ स्वतः अपने स्वभाव से अपने मूलस्वरूप

में स्थित रहते हैं। वैसे ही जड़ पदार्थ परिवर्तित होकर कभी जीवरूप नहीं होजाते। जीव कभी अपना जीवत्व नहीं छोड़ता और जड़ कभी अपनी जड़ता नहीं छोड़ता।

समस्त पदार्थों में उत्पाद्-व्यय-ध्रुवत्व नाम की शक्ति है, इससे सभी पदार्थ अपने स्वभाव से ही नवीन-नवीन अवस्थारूप उत्पन्न होते हैं; पुरानी-पुरानी अवस्थाओं का नाश होता है और पदार्थ अपने मूलस्वरूप से सदा स्थित रहता है। इसप्रकार प्रत्येक पदार्थ में व्यवस्थित परिवर्तन (उत्पाद्-व्यय) होता ही रहता है; कोई ईश्वर उस परिवर्तन का कर्ता नहीं है, किन्तु पदार्थ अपने स्वभाव से ही वैसे हैं। उत्पाद्-स्वभाव वस्तु में कुछ न कुछ नवीन कार्य की उत्पत्ति करता है; व्यय-स्वभाव वस्तु के पुराने कार्य का नाश करता है और ध्रुवस्वभाव वस्तु को उसके मूलस्वरूप में सदैव स्थित रखता है। सभी वस्तुओं में स्वभाव से ही इसप्रकार होता रहता है। वस्तुस्वभाव स्वत: ही अपना ईश्वर है। ऐसे यथार्थ वस्तुस्वभाव को जानकर परके कर्तृत्व का अभिप्राय छोड़ना और ज्ञातारूप से रहना ही धर्म है। उसी में सुख-शान्ति है, वही परमात्मा होने का उपाय है। *

तीर्थंकरों के पथपर

[गतांक से आगे]

दयादि राग है और हिंसादि द्वेष है; भगवान के राग-द्वेष नहीं होते, वे तो समभावी वीतरागी ज्ञाता हैं, ऐसा ही सभी आत्माओं का स्वरूप है। और ऐसे ही अपने स्वरूप की श्रद्धा सो सम्यग्दर्शन है।

कोई कहे कि जो इसीसमय भगवान हुए हैं वे अपने से पूर्वकाल में हुए अनन्त सिद्धों-भगवन्तों की भक्ति-वंदना करते हैं, तो यह बात मिथ्या है। भक्ति तो राग है, दूसरे की वन्दना करने का भाव भी राग है। जिसके राग होता है वह भगवान होता ही नहीं। राग आत्मा का स्वरूप नहीं है। जो सिद्ध भगवान के पास रहा है वह इस आत्मा का स्वरूप है और जिसे भगवान ने हटा दिया है वह कहीं इस आत्मा का स्वरूप नहीं है।

भगवान सर्वप्रकार से स्पष्ट पूर्ण होगये हैं। उनके अब विनय, भक्ति, दया इत्यादि किसीप्रकार का राग

नहीं है। इसलिये सम्यग्दर्शन प्राप्त करने और मोह को दूर करने के जिज्ञासु को अपना रागरहित परिपूर्ण स्वरूप मानकर उसरूप स्वतः को मानना—अनुभव करना चाहिये। ऐसा अनुभव करने से उसीक्षण मोह का क्षय होजायेगा।

जैसा द्रव्य-गुण-पर्यायपना अरिहंत भगवान के प्रगट हुआ है वैसा ही अपना स्वरूप है। राग को अपना मानना, अथवा अपने और अरिहंत के आत्मा के स्वरूप में अन्तर मानना सो मिथ्यात्व है। अरिहंत जैसे स्वरूपवाला ही अपना आत्मा है—ऐसा रागरहित अनुभव करना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन होते ही, सच्ची श्रद्धा का विरोधी दर्शनमोहरूप मिथ्यात्वभाव तो नाश होगया। अब, सम्यग्दर्शन के पश्चात् जो रागद्वेष है वह भी मोह की ही सेना है, वह रागद्वेष आत्मा के परम वीतरागी चारित्र का विरोधी है; इससे मोक्षार्थी जीवों को उसका भी नाश करना ही इष्ट है।

समस्त अरिहंतों का मार्ग

सम्यग्दर्शन सहित मुनिदशा में व्यवहाररत्नत्रय के पालने का जो राग है सो आत्मा के शुद्धोपयोगरूप चारित्र को रोकनेवाला है, इससे उस राग को भी छोड़कर आत्मा की निश्चयरत्नत्रयस्वरूप अनुभूति में लीन होना ही मोक्ष का मार्ग है। समस्त अरिहंत, तीर्थंकर और जो सिद्ध हुए वे सभी इस निश्चय रत्नत्रय के मार्ग से ही मोक्ष को प्राप्त हुए हैं; किसी भी काल में मोक्ष का कोई *अन्य मार्ग* नहीं है। इसप्रकार जानकर और यही विधि करके भगवन्तों ने स्वतः समस्त कर्मों का क्षय करके सम्पूर्ण शुद्धता प्राप्त की है और समवशरण में अनन्त तीर्थंकरों ने दिव्यध्वनि में इसी मार्ग का उपदेश दिया है। अहो! ऐसा एक ही प्रकार का मोक्षमार्ग दर्शानेवाले भगवन्तों को नमस्कार हो!

८० और ८१वीं गाथा में कहे अनुसार सम्यग्दर्शन प्राप्त करके वीतरागचारित्र के विरोधी राग–द्वेष को दूर करना अर्थात् निश्चयरत्नत्रयात्मक शुद्धात्मानुभूति में लीन होना ही एक मोक्षमार्ग है; त्रिकाल में मोक्ष का कोई अन्य मार्ग नहीं है। समस्त अरिहंत भगवान इसी मार्ग से मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और मुमुक्षुओं को भी इसी मार्ग का उपदेश दिया है। उन भगवन्तों को नमस्कार हो!

भगवन्तों को नमस्कार हो

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! जिन्होंने मुझे ऐसा स्वभाव समझाया उन भगवन्तों को नमस्कार हो। भगवन्त स्वतः स्वाश्रित शुद्धोपयोग के बल से मोह का नाश करके, जगत को भी ऐसा ही उपदेश देकर सिद्ध हुए हैं; उन्हें नमस्कार हो! आचार्यदेव स्वतः छद्मस्थ हैं, इससे विकल्प है; भगवान को नमस्कार करते हुए विकल्प का निषेध करते हैं और पूर्ण शुद्धोपयोग का आदर करते हैं। जितना शुद्धोपयोग प्रगट हुआ है उतना निश्चय है और जो विकल्प प्रवर्तमान है वह व्यवहार है। उस व्यवहार का निषेध है और शुद्धता का आदर है–इसप्रकार आचार्यदेव के निश्चय–व्यवहार की संधि है। वर्तमान में जो विकल्प है उसका आदर नहीं है किन्तु सर्वज्ञदेव ने जो स्वभाव बताया है उसी का आदर है। विकल्प के कारण ऐसा कहा है कि भगवन्तों को नमस्कार हो! अर्थात् वास्तव में तो जिसप्रकार भगवान स्वाश्रय करके पूर्ण हुए हैं उसीप्रकार मैं स्वाश्रय को अंगीकार करता हूँ,–यही तीर्थंकरों का पंथ है। ८२।

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य देव ने प्रवचनसार की इन तीन गाथाओं में बारहअंगों का सार संक्षेप में रखा है। समस्त तीर्थंकरों ने क्या किया और उपदेश में क्या कहा–वह इनमें बता दिया है। भगवान ने किस विधि से कर्मक्षय किया और किसप्रकार का उपदेश दिया उसका वर्णन इन गाथाओं में किया है।

जो अरिहंत को जानता है उसे भेदज्ञान होता है

जो जीव, द्रव्य–गुण–पर्याय से अरिहंत के आत्मा को जानता है वह अपने आत्मा को जानता है, और उसे सम्यग्दर्शन होता है। भगवान ने इसी विधि से मिथ्यात्व का क्षय किया था। द्रव्य अर्थात् गुण-पर्याय का पिंड। गुण अर्थात् स्थायी शक्ति। और पर्याय अर्थात् स्थायी शक्ति का प्रतिक्षण होनेवाला परिणमन। अरिहंत के प्रथम और पश्चात् रहनेवाला एकरूप आत्मत्व सो द्रव्य है, चैतन्यत्व सो गुण है और केवलज्ञान सो पर्याय है। भगवान के सुख-वीर्य इत्यादि की पूर्णता प्रगट होगई है और राग-द्वेष-मोह का सर्वथा नाश हुआ है। इसप्रकार

जिसने अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय का निर्णय अपने ज्ञान में किया उसे आत्मस्वभाव और विकार के बीच भेदज्ञान हुआ है; वह अपने आत्मा को विकाररहित परिपूर्ण स्वरूप से पहिचान लेता है और उसका अज्ञान नष्ट होजाता है।

पूर्ण स्वभाव का आश्रय ही पूर्णता का उपाय है

अहो! मेरा आत्मा अरिहंत जितना ही है-ऐसा निर्णय करने पर जीव स्वाश्रय करता है, स्वाश्रय में मोह नहीं रह सकता। मैं परिपूर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूपी हूँ, निमित्त से पृथक् हूँ, पुण्य-पाप से पृथक् हूँ, अपूर्ण अवस्था मेरा स्वरूप नहीं है, और जिस ज्ञान में मैंने अरिहंत का निर्णय किया है उस ज्ञान जितना ही मेरा स्वरूप नहीं है। द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद से रहित एकरूप परिपूर्ण स्वरूप हूँ। वर्तमान अपूर्णदशा होनेपर भी शक्तिरूप से पूर्णदशा होने योग्य हूँ-ऐसा निर्णय करने से किसी निमित्त में, पुण्य-पाप में अथवा अपूर्ण दशा में एकत्वबुद्धि नहीं रहती। पर्याय का आश्रय छूटकर द्रव्यस्वभाव का आश्रय होता है; स्वभाव के आश्रय से पर्याय परिणमित होते-होते पूर्णता होती है और मोह नष्ट होता है। यह उपाय तीर्थंकरों ने किया है।

स्वाश्रय से केवलज्ञान की ओर परिणमन

इसमें क्या करना आया? अपना स्वरूप द्रव्य से, गुण से और पर्याय से परिपूर्ण है-इसकी प्रतीति होने से किसी भी पर के सम्मुख देखना नहीं रहा अर्थात् पराश्रय ही न रहा। पराश्रय से होनेवाले जो विकारभाव हैं उनका कर्तृत्व नहीं रहा। पर से और विकार से रहित मात्र स्वभावाश्रित परिणमन रहा। स्वभावाश्रित परिणमन होने से अल्पकाल में मुक्ति होती है। जिसने अपने परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द स्वरूप का निर्णय किया है उसके अपनी पर्याय में भी ज्ञान-आनन्द का अंश प्रगट हुआ है अर्थात् विकार और ज्ञान का भेदज्ञान हुआ है। उसके अब पुण्य-पाप का आदर नहीं है। स्वभाव के आश्रय से ज्ञाता-दृष्टापन प्रगट हुआ अर्थात् विकार की ओर का परिणमन दूर हुआ और केवलज्ञान की ओर उन्मुख हुआ। जिसप्रकार अरिहंतों का केवलज्ञान ज्ञाता ही है, वैसे ही मैं भी ज्ञाता ही हूँ-ऐसे ज्ञातास्व-

भाव के सम्यक् निर्णय के बल से जीव केवलज्ञान की ओर ही परिणमित होता है, उसका मोह विलीन होजाता है और उसे क्षायिक जैसा अप्रतिहत सम्यग्दर्शन होता है। धर्म इसीप्रकार होता है।

स्वभाव का आश्रय ही मोक्ष का मार्ग

अरिहंत का निर्णय करनेवाला कौन है? निर्णय कहाँ करता है? किससे करता है? आत्मा अपने ज्ञान की वर्तमान अवस्था में परावलम्बनरहित ज्ञान से ही निर्णय करता है। किसी शुभराग में या निमित्त में निर्णय नहीं होता किन्तु राग और निमित्त की अपेक्षारहित ज्ञान में ही निर्णय होता है। अपनी जिस पर्याय में निर्णय किया उसे स्वभावसन्मुख करने से क्षायिक जैसा सम्यग्दर्शन होता है : पहले अपूर्ण दशा में से पूर्ण दशा प्रगट करने के लिये पराश्रय लेता था जिससे मोह बना रहता था, परन्तु अब केवलज्ञानी की पहिचान करके स्वभावोन्मुख हुआ वहाँ किसी पराश्रय की मान्यता नहीं रही; मात्र अपने द्रव्य को परिपूर्ण रूप से प्रतीति में स्वीकृत किया अर्थात् मोहका क्षय हुआ और सम्यग्दर्शन प्रगट होगया। अब जो राग-द्वेष रहा उसका स्वरूप में स्वीकार नहीं है, इससे स्वरूप की एकाग्रता से शुद्धोपयोग प्रगट करने से उस राग-द्वेष का भी क्षय ही होजायेगा। इसप्रकार स्वभाव का आश्रय ही मोक्ष का मार्ग है—ऐसा अरिहंतों ने दर्शाया है।

ज्ञातृत्व का निर्णय

केवली भगवान एकसमय में त्रिकाल और त्रिलोक को जानते हैं, जिसने केवली भगवान के ज्ञान का निर्णय किया उसने त्रिकाल और त्रिलोक के पदार्थों का भी निर्णय कर लिया है। समस्त पदार्थों में जिससमय जैसी क्रमबद्ध अवस्था प्रगट होना है, वैसी उसीसमय प्रगट होती है, उस समय अनुकूल निमित्त की उपस्थिति (सद्भाव) भले हो किन्तु अपने स्वतंत्र उपादान से ही प्रत्येक वस्तु अपनी पर्यायरूप परिणमित होती है। पहले-पश्चात् या उल्टी-सीधी कोई अवस्था नहीं होती; ऐसा निर्णय करने से समस्त पदार्थों का कर्तृत्व दूर होगया। और अपनी निर्मल दशा के लिये किसी पर के सन्मुख देखना नहीं रहा। पर के ऊपर की दृष्टि और पर्याय की दृष्टि छोड़कर, अखण्ड एकरूप ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि किये बिना ऐसे

ज्ञातृत्व का निर्णय नहीं होसकता। ऐसा सबके ज्ञातृत्व का निर्णय सो सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट करने का उपाय है।

सर्वज्ञ भगवान की दिव्यवाणी चैतन्य को जागृत करके, स्वाश्रय में युक्त करके केवलज्ञान प्राप्त कराने वाली है। जो केवलज्ञान का निर्णय करे उसे अपने ज्ञातृत्व का निर्णय होजाता है। जिसने ज्ञातृत्व का निर्णय किया वह विकार का कर्ता नहीं होता, वह ज्ञातारूप से स्वाश्रय में स्थिर होकर विकार का क्षय करता है और पूर्णदशा को प्राप्त करता है। यही निर्वाण का उपाय जिनदेव ने कहा है। वस्तु में जैसा होता है–होना है वह केवलज्ञान में ज्ञात होता है, और जो केवलज्ञान में ज्ञात होता है वैसा ही वस्तु में होता है। जिसप्रकार केवलज्ञानी वीतरागरूप से सबके ज्ञाता ही हैं, वैसे ही मेरा स्वभाव भी ज्ञाता ही है, जो विकार होता है वह मेरा स्वभाव नहीं है–ऐसा निर्णय करने से, पर का मैं कुछ करूँ–ऐसा मिथ्याभिमान दूर होगया अर्थात् पर से और विकार से पृथक् शुद्ध ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख हुआ। यही मिथ्यात्व को दूर करने का उपाय है।

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् तीर्थंकरों का पथ

इसप्रकार मिथ्यात्वमोह को दूर करके और सम्यक् आत्मस्वरूप को प्राप्त करने के पश्चात् भी राग-द्वेष को दूर करके केवलज्ञान प्रगट करने के लिये स्वरूप की सावधानी रखना चाहिये। सम्यग्दर्शन होने से राग-द्वेषरहित शुद्धात्मस्वरूप का निर्णय तो हुआ है, परन्तु जबतक स्वरूप की सावधानी द्वारा सर्वथा राग–द्वेष को न हटा दे तबतक केवलज्ञान नहीं होता। सम्यग्दर्शन में जिस शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति हुई उस स्वरूप में सावधानी से (अर्थात् शुद्धोपयोग से) क्रमशः स्थिरता करके अपनी उग्र शक्ति से केवलज्ञान प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद की क्रिया कैसी होती है? उसे बतलाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि सम्यग्दर्शन द्वारा शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त करने के पश्चात् भी स्वाश्रय के पुरुषार्थ द्वारा ज्ञान की अन्तरस्थिरतारूप क्रिया द्वारा यदि जीव राग–द्वेष का नाश करता है तो वह जीव सम्पूर्ण शुद्धदशा को प्राप्त करके मुक्त होता है। जिस जीव को राग-द्वेषरहित शुद्धात्मा की

श्रद्धा नहीं हुई है वह जीव राग–द्वेष का नाश नहीं कर सकता। जिस जीव के प्रथम तो राग–द्वेषरहित सम्यक्-आत्मतत्व की श्रद्धा हुई है वह जीव उस आत्मतत्व के आश्रय से यदि राग-द्वेष का परिहार कर देता है तो केवलज्ञान प्राप्त करता है। क्षायिकसम्यग्दर्शन सहित क्षपकश्रेणी की बात आचार्यदेव बतलाते हैं। सम्यग्दर्शन के पश्चात् "जो रागद्वेष परिहरे तो पामतो शुद्धात्मने" अर्थात् उपयोग को शुद्धात्मा में स्थिर करे तो राग-द्वेष का परिहार होकर केवलज्ञान प्रगट हो। और यदि सम्पूर्ण रागद्वेष न छोड़ सके तो, सम्यग्दर्शन को अच्छिन्नधारारूप स्थिर रखकर एक-भव स्वर्ग में जाकर पश्चात् मोक्ष प्राप्त करता है–ऐसे उग्र पुरुषार्थ की बात है। तीर्थंकरों के पंथ में पुरुषार्थहीनता की बात को अवकाश ही नहीं है। तीर्थंकरों का पंथ तो स्वाधीन पुरुषार्थ का है। जो जीव स्वाधीन पुरुषार्थ का स्वीकार करता है वही जीव तीर्थंकरों के पथपर है; उस पुरुषार्थ से विमुख जीव तीर्थंकरों के पथपर नहीं है।

मोक्ष की विधि क्या है ?

अपनी ज्ञानपर्याय में अरिहंत के आत्मा का निर्णय करके पश्चात्, 'मेरे आत्मा को अरिहंत की भाँति किसी पर का अवलम्बन नहीं है, मुझमें किसी दूसरे का कुछ भी करने की शक्ति नहीं है, मैं अपनी शक्ति से परिपूर्ण हूँ'–ऐसा निश्चित् करके, अरिहंत की ओर के विकल्प का भी आलम्बन छोड़कर स्वाश्रय करने से दर्शनमोह का क्षय होता है, और पश्चात् इसी स्वभाव में विशेष एकाग्रतारूप स्वाश्रय करने से राग-द्वेष का क्षय होकर वीतरागता और केवलज्ञान होता है। त्रिकाल में यह एक ही प्रकार का मोक्ष का उपाय है। अरिहंत भगवान ऐसे ही स्वाश्रित ज्ञान की विधि द्वारा मोह का क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त हुए और दिव्यध्वनि में जगत के भव्य-जीवों को भी ऐसा ही उपदेश दिया कि हे जगत् के भव्य आत्माओ ! जिसप्रकार हम कहते हैं उसीप्रकार तुम आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय का अपने ज्ञान में निर्णय करो और अपनी पर्याय को पराश्रय से छुड़ाकर स्वाधीन आत्मतत्व में ले जाओ। हमने पुरुषार्थ द्वारा सम्यक् आत्म-स्वभाव की श्रद्धा और एकाग्रता से मोह का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया है, तुम्हें भी उसी विधि द्वारा पुरुषार्थपूर्वक अपने सम्यक्-

आत्मतत्त्व की श्रद्धा और एकाग्रता करने से मोह का क्षय होकर सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान की प्राप्ति होगी। इसलिये पुरुषार्थ द्वारा स्वाश्रय करो! 'कर्म मार्ग दें तो धर्म हो, निमित्त के अवलम्बन से धर्म होता है, व्यवहार के आश्रय से धर्म होता है'—ऐसी पराधीनता की मान्यताओं को छोड़ दो, क्योंकि भगवान ने पराश्रय को मोक्षमार्ग नहीं कहा है। मोक्षमार्ग पराधीनता में नहीं है; किन्तु आत्माधीन है—स्वाधीन है।

जितने अरिहंत होते हैं वे सभी, प्रथम तो ज्ञानद्वारा आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय का निर्णय करते हैं और शुद्ध अभेद आत्मा की प्रतीति करते हैं; पश्चात् उसी स्वरूप में स्थिरता करके मोह का क्षय और केवलज्ञान प्रगट करते हैं। और केवलज्ञान प्रगट होने के पश्चात् दिव्यध्वनि द्वारा जगत के जीवों को इसीप्रकार उपदेश देकर निवृत्त होते हैं—सिद्ध होते हैं। यह एक ही मोक्ष की विधि है, अन्य नहीं।

तीर्थंकरों के पथपर विचरेंगे!

आचार्य प्रभु कहते हैं कि—स्वाश्रय के पुरुषार्थ द्वारा मोह का क्षय करके जो केवलज्ञान को प्राप्त हुए और जगत् के जीवों को इसी स्वाश्रय मार्ग का उपदेश देकर जो सिद्ध हुए—ऐसे भगवंतों को मैं नमस्कार करता हूँ। हे नाथ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ! जिस मार्ग से आप निवृत्त हुए हैं उसी मार्ग पर मैं चला आरहा हूँ। हे पूर्ण पुरुषार्थ के स्वामी! आपके दिव्य उपदेश की बलिहारी है, आपका उपदेश जीवों को पराश्रय से छुड़ाकर मोक्षमार्ग में लगाने वाला है। आपके चरणकमलों में मैं नमस्कार करता हूँ। कैसे नमस्कार करता हूँ? आपके उपदेश को प्राप्त करके, आपके द्वारा उपदेशित स्वाश्रित विधि को अंगीकार करके मैं आपके पथपर चला आरहा हूँ। यहाँपर एक ही विधि द्वारा मोक्ष का उपाय बताया है, अन्य कोई मोक्ष का उपाय है ही नहीं। मूढ़ अज्ञानी लोग तो ऐसी मान्यता को एकान्तिक मान्यता कहते हैं, क्योंकि उन्हें स्वाश्रयमार्ग का भान नहीं है। ज्ञानी तो कहते हैं कि ऐसे स्वाश्रयमार्ग की यथार्थ मान्यता जो क्षायिक जैसा अप्रतिहत सम्यग्दर्शन है। अहो नाथ! जिस उपाय से आपने द्रव्यगुणपर्याय को पहिचानकर क्रमबद्ध आत्मपर्याय को

जानकर अभेदस्वरूप की प्रतीति और स्थिरता करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलदशा प्रगट की और अरिहंत दशा को प्राप्त हुए तथा जगत को वही उपदेश देकर सिद्ध दशा प्राप्त की—उसीप्रकार हम भी आपका स्वाश्रय का उपदेश सुनकर, इसीप्रकार स्वाश्रय द्वारा सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके मुक्त होंगे। इसके लिये हे प्रभो! आपको नमस्कार हो!

किस जीव का ज्ञान अरिहंत को स्वीकार करता है?

जिसे विकार की रुचि हो वह जीव विकाररहित ऐसे अरिहंत का निर्णय नहीं कर सकता। अरिहंत परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप हैं और विकार का अंशमात्र भी उनके नहीं है, ऐसा जो ज्ञान स्वीकार करता है वह ज्ञान विकार की ओर से पीछे हटकर विकाररहित स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ है। अरिहंतों की भाँति मेरे आत्मस्वभाव में भव नहीं हैं—विकार नहीं है। मैं अपने इसी स्वभाव के बल से रागादि का नाश करके एकाध भव में संसार का अन्त कर देनेवाला हूँ। इसप्रकार जिसने अरिहंत भगवान का निर्णय किया है उसने अपने एकावतारीपने का निर्णय किया है। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अरिहंत भगवान इसी विधि के द्वारा पूर्णदशा को प्राप्त हुए हैं, हम भी इसी विधि से पूर्णदशा को प्राप्त कर रहे हैं और तुम भी इसी विधि को जानने से पूर्णदशा प्राप्त करोगे। इस विधि में कभी भी परिवर्तन नहीं होना है।

भगवान के समस्त उपदेशों का सार

'आत्मा ज्ञानस्वभावी है, ऐसा स्वभाव के आश्रय से ज्ञाता-दृष्टा रहकर जान'—यह जिनेन्द्रदेव के सर्व उपदेशों का मूल सार है। भगवान कहते हैं कि हमने ज्ञानस्वभाव के आश्रय से केवलज्ञान प्राप्त किया है, किसी रागादि के आश्रय से केवलज्ञान नहीं हुआ है। तू भी यदि अपने स्वभाव के आश्रय से ज्ञाता रहे तो तुझे केवलज्ञान प्राप्त होजाये। जो विधि हमारी है वही विधि तेरी है; जो मार्ग हमारा है वही तेरा भी है। तू भी यदि ऐसा ही जान और स्वाश्रय कर तो केवली होजायेगा।

सभी जीवों के लिये एक ही मार्ग

"उपदेश पण अम ज कर्यो" अर्थात् भगवान ने स्वतः जैसा किया

वही कहा है। सभी जीवों को एक ही मार्ग है। भगवान ने स्वतः दूसरा मार्ग ग्रहण किया और अन्य जीवों को दूसरा मार्ग बताया यह बात बिल्कुल मिथ्या है। अथवा तो भगवान ने भविष्य के मंद पुरुषार्थी जीवों के लिये दूसरा मार्ग–सरल मार्ग बताया है–ऐसा नहीं है। उसीप्रकार किसीको ज्ञानमार्ग, किसीको क्रिया मार्ग, किसीको भक्तिमार्ग, किसीको सेवामार्ग-ऐसे भिन्न भिन्न प्रकार के जीवों को भिन्न-भिन्न मार्गों का उपदेश भी भगवान ने नहीं दिया है। भगवान ने सर्व जीवों के लिये एक स्वाश्रितमार्ग का ही उपदेश दिया है। स्वाश्रय ही एक मोक्षमार्ग है। प्रथम श्रद्धा में स्वाश्रय और फिर स्थिरता में स्वाश्रय होना है। पराश्रय बंधमार्ग ही है और स्वाश्रय ही मोक्षमार्ग है। 'एक ही मार्ग है'–यही सम्यक्‌एकान्त है। एक ही मार्ग है इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है इसका नाम अनेकान्त है। किन्तु स्वाश्रय से भी मोक्ष होता है और पराश्रय–व्यवहार से भी होता है, ऐसा मानना सो मिथ्यात्व–एकान्त है।

भगवान कहते हैं कि–जैसे भगवान हम हैं वैसा ही भगवान तू भी है। केवलज्ञानी होने के लिये तुझे वही उपाय करना चाहिये जो हमने किया है। जब अपने ज्ञान में राग को, वैसे ही रागरहित आत्म-स्वभाव को जानकर, श्रद्धा में राग-रहित स्वभाव को स्वीकार किया तब स्वभाव की प्राप्ति हुई, श्रद्धा में रागरहित होगया, स्वाश्रयभाव प्रगट हुआ। इतने महान (भगवान जितने) रागरहित परिपूर्ण स्वभाव का जिसने अपने ज्ञान में निर्णय किया उसने एकमात्र आत्मा के आश्रय का स्वीकार किया और समस्त परद्रव्य एवं परभावों के आश्रय की मान्यता छोड़दी। उसके अनन्तपुरुषार्थ प्रगट हुआ है और वह जीव तीर्थंकरों के पथपर चलने लगा है।

इससमय भी तीर्थंकरों के पथपर विचर सकते हैं!

समस्त जीवों के लिये यह एक ही (उपरोक्त) मुक्तिमार्ग है। पंचमकाल के जीवों के लिये यह एक ही उपाय है। कोई कहे कि 'इसकाल में तो भरतक्षेत्र में कोई तीर्थंकर नहीं विचर रहे हैं, तो फिर तीर्थंकरों के पथपर कैसे चला जासकता है?' उससे आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! तीर्थंकरों ने स्वाश्रय का उपदेश किया था; इसकाल भी स्वाश्रय हो सकता है। तीर्थंकर कहीं यह

नहीं कहते थे कि तू 'हमारा आश्रय कर।' तीर्थंकर तो ऐसा कहते थे कि तू अपने स्वभाव का निर्णय करके अपना ही आश्रय कर। इससमय भी स्वभाव का निर्णय करके–स्वाश्रयभाव प्रगट करके तीर्थंकरों के पथपर विचरा जासकता है। पंचमकाल के आचार्यदेव पंचमकाल के जीवों को ही उपदेश करते हैं कि हे जीवो! जैसा अनन्त केवलियों का आत्मा है, वैसा ही तुम्हारा आत्मा है; जैसा अनन्त केवलियों ने अपने आत्मा का निर्णय किया और स्वाश्रय प्रगट करके मुक्ति प्राप्त की है उसीप्रकार तुम भी अपने स्वभाव का वैसा ही निर्णय वर्तमान में प्रगट करो! और स्वाश्रय का पुरुषार्थ करो! यह शास्त्र पंचमकाल के जीवों को ही लक्ष्य में लेकर रचा गया है।

निश्चय का आश्रय करो, व्यवहार का आश्रय छोड़ो!

हे जीवो! तुम एक स्वभाव के आश्रय को ही मोक्ष की विधि जानो! बीच में अन्य पराश्रितभाव आयें उन्हें मोक्ष की विधिरूप नहीं किन्तु बंधरूप जानो। तीर्थंकरों ने यही विधि की है और जगत के जीवों को इसी विधि का उपदेश किया है, तुम भी इसी विधि को अंगीकार करो! यही विधि अर्थात् निश्चयस्वभाव का आश्रय करो और दूसरी विधि अर्थात् व्यवहार भावों का आश्रय छोड़ो! देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि के निमित्त का लक्ष्य बीच में आये तो उसका आश्रय न करो! प्रथम चैतन्यस्वरूप के आश्रय का निर्णय करके सर्व व्यवहार का निषेध करो, और पश्चात् उसी स्वरूप के आश्रय से सम्पूर्ण शुद्धोपयोग प्रगट करके तीर्थंकर भगवंतों की भाँति सम्पूर्ण ज्ञाता–दृष्टा बनो!

श्री तीर्थंकर भगवन्तों को नमस्कार!

तीर्थंकरों के स्वाश्रित पंथ को नमस्कार!

तीर्थंकरों का पंथ दर्शानेवाले संतों को नमस्कार!

निर्वाण और परिभ्रमण

जो जीव सम्यग्दर्शन युक्त है उसे अवश्य ही निर्वाण का संगम होता है। और मिथ्यादृष्टि जीव को सदैव संसार में परिभ्रमण होता है।

[सारसमुच्चय–४१]

आत्मधर्म

आश्विन २४७५

वर्ष पाँचवाँ अङ्क छठवाँ

प्रत्येक समय का स्वतंत्र उपादान

वस्तु का स्वभाव उत्पाद-व्ययरूप होने से उसमें प्रतिसमय नवीन-नवीन कार्य होते ही रहते हैं। पहले समय की पर्याय में न हो ऐसा कार्य दूसरे समय की पर्याय में प्रगट होता है। किसी के पहले समय मिथ्यात्वदशा हो और दूसरे समय सम्यक्त्वदशा प्रगट होती है। वहाँ जिसकी दृष्टि वस्तुस्वभाव पर नहीं है किन्तु संयोग पर है-ऐसा अज्ञानी जीव यह मानता है कि- "अमुक निमित्त आया इसलिये यह कार्य हुआ। सद्गुरु आदि निमित्त मिले इसलिये सम्यक्त्व हुआ; यदि अपनेआप ही कार्य होता हो तो पहले क्यों न हुआ?" यह अज्ञानियों का महान् भ्रम है। और यह भ्रम ही उपादान-निमित्त सम्बन्धी भूल का मूल कारण है। इसी भ्रम के कारण ही (अर्थात् स्वभावदृष्टि से च्युत होकर संयोगदृष्टि के ही कारण) जीव अनादिकाल से संसार-समुद्र में गोते खारहा है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप, उसकी प्रत्येक-प्रत्येक पर्याय की सम्पूर्ण स्वाधीनता और परपदार्थों से बिल्कुल उदासीनता बतलाकर यह "मूल में भूल" ग्रन्थ अज्ञानियों के उस महान भ्रम का खण्डन करता है।

चेतन या जड़ समस्त वस्तुएँ प्रत्येक समय अपने परिणमनस्वभाव से ही नवीन-नवीन परिणामरूप उत्पन्न होती हैं। पूर्व समय में अमुक दशा नहीं होती और पश्चात् होती है, वहाँ उससमय की पर्याय की वैसी ही योग्यता होने से होती है। दो जीवों में से एक को सम्यक्त्व है और दूसरे के मिथ्यात्वदशा है, उसका क्या कारण है? दोनों जीवों के द्रव्य और गुण तो समान हैं, दोनों के पूर्व पर्याय का तो वर्तमान में अभाव है और अनादि से परिणमन करते-करते दोनों वर्तमानकाल तक आये हैं; तथापि एक के सम्यक्त्वरूप परिणमन और दूसरे के मिथ्यात्वरूप परिणमन-उसका क्या कारण है? कारण यही कि दोनों द्रव्यों के परिणमन की उससमय की योग्यता ही वैसी है। इस बात पर मुख्य ध्यान

रखना कि "कार्य होने की योग्यता त्रिकालरूप नहीं किन्तु वर्तमानरूप है। इसलिये द्रव्य की जिससमय जिस कार्यरूप परिणमित होने की योग्यता हो, उसीसमय वह द्रव्य उस कार्यरूप परिणमित होता है, किन्तु उससे आगे या पीछे वह कार्य नहीं होता।" एक जीव के पहले मिथ्यात्वदशा थी, उससमय उसकी वैसे ही परिणमन की योग्यता थी, उसीसे वह मिथ्यात्वदशा थी–न कि कुदेवादि के कारण से? और पश्चात् उस जीव की सम्यक्त्वदशा हुई, उससमय वह जीव अपने उससमय के परिणमन की योग्यता से ही उसरूप परिणमित हुआ है–न कि सद्गुरु इत्यादि के कारण से?

इसीप्रकार प्रत्येक परमाणु भी अपनी स्वतंत्र योग्यता से ही परिणमित होरहा है। एकसमय दो परमाणु लाल रंगरूप परिणमित हों और दूसरे समय उसमें से एक परमाणु काले रंगरूप तथा दूसरा सफेद रंगरूप परिणमित होता है। दोनों के द्रव्य-गुण तो समान हैं, पूर्वपर्याय भी दोनों की समान थी और अनादि से परिणमित होते-होते दोनों वर्तमानकाल तक आये हैं, तथापि परिणाम में अन्तर पड़ता है; क्योंकि उन-उन परमाणुओं के परिणमन की उससमय की योग्यता स्वतंत्र है।

ऐसी ही वस्तु की स्वाधीनता है, और ऐसे ज्ञान में ही स्वभाव का पुरुषार्थ है। जैसे त्रिकाली द्रव्य सत् है, उसका कोई कर्ता नहीं है और न उसे किसी की अपेक्षा है, वैसे ही उसके अनादि-अनन्त समय में प्रत्येक समय की पर्याय अपनी स्वतंत्र योग्यता रखती है,–इसीका नाम उपादान है। द्रव्य-गुण की स्थिति सदा एकसमान होती है परन्तु पर्यायें सदा एकसमान नहीं होतीं।

त्रैकालिक द्रव्य को और उसकी पर्याय के प्रत्येक समय के स्वतंत्र कार्य को जानना वह उपादान का ज्ञान है और उससमय संयोगरूप अन्य द्रव्यों का ज्ञान करना सो निमित्त का ज्ञान है। इन दोनों को स्वतंत्र जाने तभी दो पदार्थों में एकत्वबुद्धि दूर होकर सम्यग्ज्ञान होता है। परन्तु 'इस निमित्त-पदार्थ के कारण उपादान का कार्य हुआ अथवा निमित्त आया इसलिये कार्य हुआ, निमित्त ने कुछ प्रभाव डाला, सहायता की, प्रेरणा दी'–इसप्रकार का कोई भी

सम्बन्ध मानना वह उपादान-निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं किन्तु मिथ्या-ज्ञान है।

जो जीव सूक्ष्मतत्त्वदृष्टि के अभाव के कारण स्वभाव से प्रत्येक पदार्थ की स्वाधीनता और एक के पश्चात् एक दशारूप होने की उसकी स्वतंत्र योग्यता को नहीं जानते—वे एकपदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने की, अर्थात् वस्तु की पराधीनता की मिथ्याकल्पना किये बिना नहीं रह सकते। और ऐसी जो वस्तुस्वरूप से विपरीत कल्पना है वही महान अधर्म है। 'मूल में भूल' नामक पुस्तक यथार्थ वस्तुस्वरूप बतलाकर भव्य-जीवों को उस अधर्म से छुड़ाती है।

सत्शास्त्रों का स्वरूप

"जो आगम मोक्षमार्ग का प्रकाश करे वही आगम पढ़ने-सुनने योग्य है, कारण कि संसार में जीव अनेकप्रकार के दुःखों से पीड़ित हैं। यदि शास्त्ररूपी दीपक के द्वारा वे मोक्षमार्ग को प्राप्त करलें तो उसमें गमन करके इन दुखों से मुक्त होजायें। अब, मोक्ष-मार्ग तो एक वीतरागभाव है, इसलिये जिन शास्त्रों में किसीप्रकार राग द्वेष-मोहभावों का निषेध करके वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो वही शास्त्र पढ़ने-सुनने योग्य हैं" (मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय १)

सत्शास्त्रों का प्रयोजन वीतराग भाव की पुष्टि करना ही है

सत्शास्त्रों में चाहे जो बात की हो, परन्तु उनमें राग-द्वेष-मोह को नष्ट करने का और वीतराग-भाव की पुष्टि का ही प्रयोजन है। भक्ति, शास्त्रश्रवण, दानादि करने की बात की हो वहाँ भी उसमें जो राग है उसका तो निषेध ही किया है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति इत्यादि में शुभराग होता है परन्तु उसमें कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र के प्रति राग का सर्वप्रथम निषेध आता है, इससे वहाँ भी राग को दूर करने का ही प्रयोजन सिद्ध होता है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा इत्यादि का कथन हो वहां वीतरागी स्वरूप की दृष्टि पूर्वक जो अशुभराग नष्ट हुआ वह प्रयोजन है, किन्तु जो शुभराग शेष रहा है उसका प्रयोजन नहीं है, उसका तो निषेध है।

सत्‌शास्त्र पढ़ते समय शुभराग होता है, किन्तु शास्त्रों का प्रयोजन तो यह बतलाने का है कि यह शुभराग भी आत्मा का स्वरूप नहीं है, इससे वह भी रखने योग्य नहीं है। स्वरूप की दृष्टिसहित शुभभाव हो वह अशुभभाव से बचाता है इससे उसके द्वारा वीतरागभावरूप प्रयोजन अंशतः सिद्ध होता है। किसी भी प्रकार का राग रखना शास्त्र नहीं बतलाते हैं, किन्तु किसी न किसी प्रकार से राग को दूर करना ही शास्त्रों का आशय है। शास्त्र आत्मा की स्वतंत्रता बताते हैं कि तू स्वतंत्र है, अपने से ही परिपूर्ण है, हमारा अवलम्बन भी तुझे नहीं है। इसप्रकार शास्त्र आत्मा की स्वतंत्रता बतलाकर मोह तथा राग-द्वेष को छुड़ाते हैं। जितना राग दूर होकर वीतरागभाव हुआ उतना ही प्रयोजन सिद्ध हुआ है और जो राग रहा है वह रखने योग्य नहीं है।

जिनमें किसी भी प्रकार से राग करने का प्रयोजन बतलाया हो वे सत्‌शास्त्र नहीं हैं। सत्‌शास्त्र किसी भी प्रकार से राग करने को कहते ही नहीं।

भक्ति इत्यादि शुभराग का उपदेश हो वहां भी वीतरागता का ही प्रयोजन है

प्रश्नः—भगवान की भक्ति तो शुभराग है, तथापि सत्‌शास्त्रों में तो वह करने का उपदेश आता है?

उत्तरः—सत्‌शास्त्र में भगवान की भक्ति करने को कहा हो वहाँ अशुभराग को दूर करने का प्रयोजन है, और जो शुभराग रह जाता है उसे भी रखने का उपदेश नहीं है। सत्‌शास्त्रों का पूर्ण प्रयोजन तो अशुभ और शुभ-दोनों प्रकार का राग छुड़ाकर सम्पूर्ण वीतरागता कराना ही है, परन्तु जहाँ वह प्रयोजन पूर्णरूप से सिद्ध न होता हो वहाँ एकदेश प्रयोजन सिद्ध करने के लिये अशुभ से छुड़ाने को शुभ का उपदेश दिया जाता है।

सत्‌शास्त्र राग से और कुमार्ग से छुड़ाते हैं

सत्‌शास्त्र में कभी तो ऐसा भी कथन होता है कि तू जिनेन्द्र भगवान को मान तो तेरा बाँझपन दूर होजायेगा-तुझे पुत्र की प्राप्ति होगी। इसमें भी किसी अंश में राग को कम करने का ही प्रयोजन है। यद्यपि पुत्रप्राप्ति की इच्छा से

वीतरागदेव को माने वहाँ तो मिथ्यात्व ही है, तथापि लौकिक हनुमान, शिकोतेर, पीर इत्यादि कुदेवों के मानने से जीव को अति तीव्र राग है, उससे छुड़ाने का प्रयोजन विचारकर सच्चेदेव को मानना कहा है। पुत्रप्राप्ति की इच्छा से भी कुदेवादि को छोड़कर सच्चे देव को मानने से राग कुछ मंद होता है। तथा कुदेवादि के निकट तो उसे सत् समझने का अवकाश ही नहीं था, अब सुदेवादि को मानने से किसी भी समय उसे सत् समझने का अवकाश है। इसप्रकार, जो राग मंद पड़ता है उतना ही शास्त्रों का प्रयोजन है; और जो राग शेष रहा वह तो छोड़ने योग्य ही है।

सत्शास्त्र प्रथम तो पूर्णता का ही उपदेश देते हैं कि-तेरा स्वभाव सर्वप्रकार से पूर्ण है; उसकी श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता करके इसीक्षण पूर्ण परमात्मा हो जा! मिथ्यात्व और रागमात्र को दूर करके चिदानन्द वीतराग हो जा! यदि सम्पूर्ण वीतरागता न होसके तो सम्पूर्ण वीतराग स्वभाव की श्रद्धा कर, ज्ञान कर, और यदि तत्काल श्रद्धा-ज्ञान भी न होसके तो उसकी जिज्ञासा रखकर सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के अवलम्बन द्वारा कुदेवादि के प्रति जो राग है उसे छोड़!

इसमें जो शुभराग होता है वह राग कराने का शास्त्र का प्रयोजन नहीं है, परन्तु जितने अंश में राग दूर हुआ उतना ही प्रयोजन है। शास्त्र का मूल प्रयोजन तो जीव को मोक्षमार्ग में लगाने का है। सच्चे शास्त्र किसी भी प्रकार जीव को राग से और कुमार्ग से छुड़ाते हैं। राग की अथवा कुदेवादि की पुष्टि कराने वाला कथन किसी भी वीतरागी शास्त्र में नहीं होता। 'तुझसे शुभराग न हो तो तू पाप करना अथवा कुदेवादि को मानना-ऐसा वचन किसी भी सत्शास्त्र में होता ही नहीं।

अन्य शास्त्र सत्शास्त्र क्यों नहीं हैं?

प्रश्नः-सत्शास्त्रों में राग घटाने का प्रयोजन है-ऐसा कहा है, परन्तु अन्य शास्त्रों में भी राग कम करने को तो कहा है, इससे उन्हें भी सत्शास्त्र कहना पड़ेगा?

उत्तरः-सत्शास्त्रों का कोई भी कथन राग की पुष्टि करानेवाला होता ही नहीं। अन्य शास्त्रों में अनेक बार तो राग को कम करने

के लिये कहते हैं और कभी राग करने को भी कहते हैं; अर्थात् एक-प्रकार का राग कम करने के लिये कहकर दूसरे प्रकार के राग की पुष्टि कराते हैं। भगवान की भक्ति में जो शुभराग है, वह राग करने को अन्य शास्त्र पुष्टि कराते हैं इससे उनशास्त्रों में राग कम करने का यथार्थ उपदेश नहीं है। शुभराग करते करते धर्म होगा-ऐसा जो शास्त्र कहते हैं वे राग करने की ही पुष्टि कराते हैं; सत्शास्त्र कभी भी राग से धर्म मनाते ही नहीं। राग दूर होते होते धर्म होता है किन्तु राग करते करते धर्म नहीं होता। सच्चे जैनशास्त्रों में तो राग के एक अंश से लेकर सम्पूर्ण राग को छुड़ाने का ही उपदेश है। राग का एक अंश भी रखने का उपदेश जैन शास्त्रों में होता ही नहीं। शुभराग करने की बात की हो वहाँ भी जो राग है वह कराने का प्रयोजन नहीं है परन्तु तीव्र राग था उसे कम कराने का प्रयोजन है। वीतरागी शास्त्रों में राग छोड़ने का ही आदेश है राग करने का आदेश नहीं है। राग कहने से मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय-तीनों समझना चाहिये। मिथ्यात्वपूर्वक का राग ही अनन्तानुबंधी राग है, वह मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी रागद्वेष सर्वप्रथम छोड़ने योग्य है।

सत्शास्त्र में शुभराग का उपदेश हो वहां भी मोक्षमार्ग का ही प्रयोजन है, परन्तु राग स्वतः धर्म नहीं है।

प्रश्नः—सत्शास्त्र तो मोक्षमार्ग का प्रकाश करनेवाले होते हैं, तो फिर शास्त्र में जहाँ अज्ञानी को शुभराग करने की बात आती है वहाँ मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किस-प्रकार हुआ? सम्यग्दर्शन के बिना तो मोक्षमार्ग होता नहीं!

उत्तरः—अज्ञानी को शुभराग करना कहा हो वहाँ राग का प्रयोजन नहीं है, किन्तु कुदेवादि की मान्यता से छुड़ाकर सच्चे देव-गुरु-धर्म की मान्यता कराने का प्रयोजन है। वहाँ तीव्र मिथ्यात्व अंशतः मन्द हुआ, इस अपेक्षा से उसे व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा जाता है। वास्तव में तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है। राग मोक्षमार्ग नहीं है, और उससे धर्म भी नहीं होता, परन्तु कुदेवादि की मान्यता में जो तीव्र मिथ्यात्व है वह वीतरागीदेव को मानने से मंद पड़ता है,

और सत्‌निमित्त होने से सत् समझने का अवकाश है, इससे उपचार से उसे मोक्षमार्ग कहा जाता है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र ऐसा बतलाते हैं कि हे आत्मन्! तू स्वतंत्र है, पूर्ण ज्ञानस्वरूप है, राग तेरा स्वरूप नहीं है।

ज्ञानियों का उपदेश जीवों को साक्षात्‌रूप से अथवा परंपरा से मोक्षमार्ग में लगाने के लिये है।

ज्ञानियों का उपदेश जीवों के कल्याण के लिये होता है। कभी कोई जीव मोक्षमार्ग समझने की योग्यतावाला न हो तो उसे जिसप्रकार से राग अल्प हो वैसा उपदेश देते हैं। जैसे, किन्हीं मुनिराज के पास कोई मांसाहारी भील आकर उपदेश सुनने बैठ गया; अब यदि मुनिराज उसे मोक्षमार्ग का उपदेश देने लग जायें तो उसमें वह कुछ भी न समझ सकेगा। इससे श्रीमुनि उससे ऐसा कहेंगे कि—सुन भाई! हिरन आदि निर्दोष जीवों को मार डालने से पाप होता है और उसके फलस्वरूप नरक होता है, इसलिए तू शिकार छोड़दे और माँसभक्षण छोड़ दे, इससे तेरा कल्याण होगा!

माँस छोड़ देने से कल्याण होगा—ऐसा कहा है, वहाँ ऐसा आशय है कि वह दुर्गति में न जाकर स्वर्गादि में जायेगा; इस अपेक्षा से उसको कल्याण कह दिया है। और भविष्य में, यदि उसकी पात्रता हो तो ऐसा विचार करे कि अहो! अकेला माँस का राग छोड़ा उसका इतना फल! तो सम्पूर्ण रागरहित स्वभाव की महिमा कैसी होगी! ऐसे विचार से वह मोक्षमार्ग में भी लग सकता है। इसप्रकार, सीधी रीति से अथवा परंपरा से भी जिनशासन में जीवों को मोक्षमार्ग में लगाने का ही प्रयोजन है।

जब मुनिराज ने ऐसा कहा कि 'माँसभक्षण छोड़ दे, तेरा कल्याण होगा' यह सुनकर उससमय यदि वह भील विशेष जिज्ञासा से पूछे कि—प्रभो! आप माँसभक्षण छोड़ने के लिए कहते हो तो उससे मुझे धर्म होगा न? और मेरी मुक्ति हो जायेगी? तो उससमय श्रीमुनि को ऐसा विचार आयेगा कि यह कोई पात्र जीव है इससे इसे ऐसी धर्म की जिज्ञासा का प्रश्न उठा है और वह समझने की जिज्ञासा से खड़ा है। ऐसी उसकी पात्रता देख-

कर उसे रत्नत्रय का उपदेश देते हैं कि भाई! हमने तुझे पाप से बचाने के लिये माँसभक्षण त्याग करने के शुभराग से कल्याण होना व्यवहार से कहा था, किन्तु यदि तुझे धर्म को समझने की रुचि है तो धर्म का स्वरूप इस राग से भिन्न है। इस राग से धर्म नहीं है, परन्तु रागरहित आत्मा का चैतन्यस्वभाव समझने से धर्म है।

नरकादि गति से बचने की अपेक्षा से शुभराग से धर्म कह दिया है; परन्तु वास्तविक कल्याण (धर्म) तो उससे भिन्न है—इत्यादि प्रकार से जैसे जीव का हित हो उसीप्रकार जिनशासन का उपदेश है।

जो सत्‌शास्त्रों को पढ़कर राग की पुष्टि करते हैं वे स्वच्छन्दी हैं।

शास्त्र के कथन को पढ़कर जो जीव राग-द्वेष-मोह की वृद्धि करने का आशय निकालते हैं वे जीव सत्शास्त्र के आशय को नहीं समझे हैं और वे स्वच्छन्दी हैं; उन जीवों को तो वे सत्‌शास्त्र हित का भी निमित्त नहीं हैं। शास्त्रों में तो राग-द्वेष-मोह की वृद्धि का आशय है ही नहीं, किन्तु वे जीव अपनी विपरीत श्रद्धा के कारण वैसा समझते हैं। उसमें शास्त्रों के कथन का दोष नहीं है परन्तु जीव की समझ का दोष है। जो जीव यथार्थ आत्मस्वभाव को समझकर राग-द्वेष-मोह को कम करते हैं उन्हें सत्‌शास्त्र निमित्तरूप कहलाते हैं।

शुभराग का क्या प्रयोजन है?

चारित्रदशा में पंचमहाव्रत का शुभ राग होता है—ऐसा सत्‌शास्त्रों में कहा हो, तथापि वह कथन राग कराने के लिये नहीं है किन्तु स्वरूप की दृष्टि और स्थिरता सहित अशुभराग से बचाने का प्रयोजन है तथा जो पंचमहाव्रत का शुभराग रहा वह तो छोड़ने के लिये है। धर्म तो एक निश्चयमार्गरूप ही है। शुभराग के द्वारा धर्म नहीं होता; धर्म तो पुण्य-पापरहित मात्र शुद्धस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और रमणतारूप ही है।

सत्‌शास्त्रों में शृंगाररस, युद्ध, भोगादि के वर्णन का प्रयोजन।

सत्शास्त्रों में शृंगार-रस, युद्ध, भोगादि का वर्णन आये वहाँ भी उसका प्रयोजन जीव को पुण्य-पाप के फल की श्रद्धा उत्पन्न कराने का

और उसके प्रति वैराग्य कराने का ही है। जैनशास्त्रों का सम्पूर्ण प्रयोजन तो जीव को पूर्ण वीतरागता कराना ही है; परन्तु जो जीव सम्पूर्ण वीतरागता का पुरुषार्थ न कर सके तब भी जैनशास्त्र किसी भी प्रकार अतत्त्वश्रद्धान को मंद कराते हैं, तीव्र अशुभ भावों को छुड़ाते हैं, और मिथ्यात्व को कम कराते हैं। अन्यमत के शास्त्रों में किसी प्रसंग पर राग मंद करने को कहा हो तो दूसरे स्थानपर राग से धर्म मनाकर राग करने का उपदेश होता है; इसप्रकार वे शास्त्र अतत्त्वश्रद्धान और मिथ्यात्व के पोषक हैं इससे वे असत् शास्त्र पढ़ने-सुनने योग्य नहीं हैं।

सत्‌शास्त्र स्वाधीनता बताकर वीतरागता की पुष्टि करते हैं।

जो शास्त्र ऐसा बतलाते हैं कि देव-गुरु शास्त्र के अवलम्बन से और उनके राग से धर्म होगा, उन्हीं का जीवों को शरण है, वे सत्शास्त्र नहीं हैं। सत्शास्त्र तो ऐसा बतलाते हैं कि देव गुरु-शास्त्र का अवलम्बन भी आत्मा के धर्म के लिये नहीं है, उसका भी लक्ष छोड़कर अपने स्वभाव का लक्ष करो। इसप्रकार स्वाधीनता और वीतरागता बताते हैं।

शास्त्र में युद्धादि का वर्णन हो, वह विकथा नहीं, किन्तु वैराग्यपोषक कथा है।

तीर्थंकर भगवान के पास इन्द्र नृत्य करते हैं, वहाँ शृंगारभाव की पुष्टि का हेतु नहीं है, परन्तु अपना अशुभराग छोड़कर वीतराग जिनदेव की भक्ति का, और लोगों को भी भक्ति-प्रेम कराने का हेतु है। इसप्रकार उसमें भी जीव कुमार्ग से छूटकर सतधर्म की ओर उन्मुख हो-ऐसा हेतु है। इससे सत्‌शास्त्रों में नृत्यादि का वर्णन आता है, वह विकथा नहीं है। शास्त्र में विकथा के चार प्रकार कहे हैं, उसमें जो शब्द हैं वह विकथा नहीं है। स्त्री के अवयवों आदि का और युद्धादि का वर्णन तो निर्ग्रंथ मुनिराज भी करते हैं; मात्र इसका वर्णन करना या सुनना विकथा नहीं है; परन्तु उसकी रुचिपूर्वक अथवा रागपूर्वक सुनना सो विकथा है। आचार्य-संत जिसका वर्णन करते हैं वह तो वैराग्यपोषक कथा है। इससे ऐसा समझना कि भावानुसार वीतरागी कथा या विकथा कहलाती है, किन्तु मात्र शब्दों के ऊपर से उसका माप नहीं है। सत्शास्त्रों में जो वर्णन किया हो वह किसी न किसी प्रकार वीत-

राग भावों का ही पोषक है; इससे उसमें विकथा नहीं है किन्तु वैराग्य-पोषक कथा ही है।

जो राग-द्वेष-मोह की पुष्टि करते हैं वे शास्त्र नहीं किन्तु शस्त्र हैं।

"जिन शास्त्रों में किसीप्रकार राग-द्वेष मोह भावों का निषेध करके वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो वही शास्त्र पढ़ने सुनने योग्य हैं, किन्तु जिन शास्त्रों में श्रृंगार, भोग, कुतूहलादि को पुष्टि करके रागभाव का, तथा हिंसा युद्धादिक की पुष्टि करके द्वेषभाव का और अतत्वश्रद्धान की पुष्टि करके मोहभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो वे शास्त्र नहीं किन्तु शस्त्र हैं। क्योंकि राग-द्वेष-मोहभाव के द्वारा जीव अनादि से दुःखी होरहा है, उनकी भावना तो जीव को बिना सिखाये भी थी और फिर इन शास्त्रों द्वारा उसीकी पुष्टि की; वहाँ जीव का भला होने की उन्हें कौन सी शिक्षा दी? मात्र जीव के स्वभाव का घात ही किया।"

(मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय—१)

प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से स्वतंत्र है—ऐसा तत्वस्वरूप है। जिस ग्रन्थ में एक तत्व को दूसरे तत्व से पराधीन मनाया हो अथवा एक तत्व दूसरे तत्व का कुछ कर सकता है—ऐसा मनाया हो वह शास्त्र नहीं परन्तु शस्त्र है, क्योंकि वह जीव के सम्यग्दर्शनादि गुणों का घात करता है और मिथ्यात्वादि की पुष्टि करता है। जिसमें राग-द्वेष-मोह की पुष्टि की हो वह शास्त्र नहीं है; क्योंकि राग-द्वेष मोह तो जीव अनादि से कर रहा है। अनादि के राग-द्वेष-मोह से छुड़ाकर मोक्षमार्ग में लगाने के लिये सत्शास्त्र निमित्त हैं।

जिनेन्द्रदेव की पूजा में वीतरागता का प्रयोजन किसप्रकार है?

प्रश्नः—जैनशास्त्रों में तो राग-द्वेष-मोह को कम करने का ही प्रयोजन है, तो फिर जिनेन्द्रदेव के निकट अष्टप्रकार से पूजा करे और उसमें फल—फूलादि चढ़ाये, यह किसलिये करना चाहिये? इसमें तो हिंसा होती है।

उत्तरः—वहाँ भी राग को कम करने का ही हेतु है। बाह्य पदार्थों की क्रिया तो आत्मा कर नहीं सकता, किन्तु वीतरागता की भावना से अपना राग कम करता है। हे प्रभो! आप वीतराग हो, आपकी साक्षी से मैं इन फलादि वस्तुओं की ओर के अपने राग को कम करता हूँ

और मोक्षफल प्राप्ति की भावना करता हूँ-ऐसी भावना से वीतराग-देवरूप निमित्त के लक्ष्य से अपना राग कम करता है। फलादि चढ़ाने की क्रिया स्वतः उसकी योग्यता से होती है। जैनधर्म में भगवान को प्रसन्न करने के हेतु से फल-फूलादि नहीं चढ़ाये जाते और भगवान की प्रतिमा पर तो कुछ भी चढ़ाया ही नहीं जाता। परन्तु अपनी वीतराग होने की भावना से ही भगवान की पूजा की जाती है। आत्मा की पहिचान होने से पूर्व जिनेन्द्रपूजन आदि का शुभराग करके अशुभराग को दूर करे उसका कहीं निषेध नहीं है। उसीप्रकार 'भगवान एक आत्मा थे, और मैं भी आत्मा हूँ; भगवान का जैसा परिपूर्ण स्वरूप है वैसा ही मेरा स्वरूप है'-ऐसा पूर्ण-स्वभाव का भान होने के पश्चात् भी जबतक सम्यग्दृष्टि स्वतः साक्षात् वीतराग नहीं हुआ है तबतक वीतराग मुद्रित प्रतिमा जी में वीतरागदेव की स्थापना करके और उनकी पूजा करके वर्तमान में अपना अशुभराग दूर करता है और शुभराग को भी हटाकर वीतराग होने की भावना करता है। इसप्रकार जैन शास्त्रों में वीतरागता का ही उपदेश है और कहीं-कहीं अशुभराग को दूर करने के लिये शुभ का अवलम्बन भी बताया है, परन्तु वह शुभराग करने के लिये नहीं है, मात्र अशुभराग को दूर करने के लिये है। सत्शास्त्रों का मूल प्रयोजन जीवों को मोक्षमार्ग में लगाने का ही है। इसप्रकार सत्शास्त्रों का स्वरूप कहा।

ज्ञान और ज्ञेय का स्वतंत्र परिणमन

ज्ञान अपने स्वभाव से होता है, शब्द सुनने के कारण नहीं होता। घड़ी में आठ टकोरे पड़े इसलिये 'आठ बजे' ऐसा ज्ञान हुआ-ऐसा अज्ञानी मानता है। वास्तव में ज्ञान की वैसी योग्यता से ही वह ज्ञात हुआ है, टकोरों के कारण नहीं। जड़-शब्द, जड़ के कारण परिणमित होते हैं और ज्ञान, ज्ञान के कारण परिणमित होता है। ज्ञान और ज्ञेय का परिणमन एक ही समय प्रवर्त रहा है किन्तु दोनों स्वतंत्र हैं।

घड़ी में नौ बजने में पाँच मिनट कम हों तब ज्ञान भी वैसा

ही जानता है, और कोई पूछे कि कितने बजे हैं? तो वाणी में भी ऐसा ही आता है कि 'नौ में पाँच मिनट कम हैं' और पूछनेवाले को भी ऐसा ही ज्ञान होता है। इस-प्रकार सब व्यवस्थित होने पर भी प्रत्येक-प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्ररूप से अपने स्वकाल में ही, पर की अपेक्षा के बिना परिणमित होरहा है।

घड़ी में नौ में पाँच कम हों तब ज्ञान वैसा ही जानता है, किन्तु 'बारह बजे हैं' ऐसा नहीं जानता, तथापि घड़ी के कारण ज्ञान नहीं हुआ है। ज्ञान के कारण 'नौ में पांच कम हैं'-ऐसी वाणी नहीं हुई है और उस वाणी के कारण दूसरे जीव को उसका ज्ञान नहीं हुआ है।

घड़ी में आठ बजकर पांच मिनट हुए हों तब ज्ञान वैसा ही जानता है, किन्तु बारह बजे हैं—ऐसा नहीं जानता; वहां घड़ी के कारण ज्ञान नहीं होता। घड़ी में इतने बजे थे इसलिये इतना ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है। वैसे ही-ज्ञान ने जैसा जाना वैसी ही भाषा आती है, और सामनेवाला जीव भी वैसा ही समझ जाता है—ऐसा मेल होने पर भी-ज्ञान ने जाना इसलिये भाषा नहीं हुई और भाषा के कारण सामनेवाले जीव को उसका ज्ञान नहीं हुआ है। ज्ञान की अवस्था स्वावलंबी चैतन्य के आश्रय से ही कार्य करती है-ऐसा समझकर, अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर त्रैकालिक स्व-भाव की श्रद्धा प्रगट करना वह सम्यक्श्रद्धा है; परन्तु घड़ी आदि ज्ञेयों के कारण या शब्दों के कारण ज्ञान हुआ है-ऐसा जो मानता है उस जीव ने आत्मा में ज्ञान और शांति नहीं मानी है, इसलिये वह जीव अपने स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं होता और उसका मिथ्यात्व दूर नहीं होता। प्रशंसा के शब्द जगत में परिणमित हों उनसे आत्मा को सुख या ज्ञान नहीं है, तथापि यदि उनसे सुख या ज्ञान माने तो उस जीव का ज्ञान पर में एकाग्र हुआ है, वह ज्ञान अचेतन है-अधर्म है। शब्दों से और उस ओर के क्षणिक ज्ञान से पृथक् अपना परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है—ऐसा अभि-प्राय होने पर, शब्दों का या अपूर्ण दशा का आश्रय छोड़कर वर्तमान अवस्था पूर्णस्वभाव की ओर उन्मुख होती है। द्रव्य गुण तो त्रिकाल

पूर्ण हैं ही, और उसओर उन्मुख होती हुई अवस्था भी परिपूर्ण को ही स्वीकार करती है, इससे वह अवस्था भी पूर्ण के आश्रय से पूर्ण ही होती है।

वाणी अपने अचेतनत्व से भरी हुई है और मैं अपने चेतन्यत्व से परिपूर्ण हूं। मेरे ज्ञान को वाणी की आवश्यक्ता नहीं है और वाणी को मेरे ज्ञान की आवश्यक्ता नहीं है,-ऐसा जानकर जीव वाणी का एवं वाणी की ओर के रागादि का आश्रय छोड़कर चैतन्यस्वभाव का आश्रय लेता है। चैतन्यस्वभावी आत्मद्रव्य के लक्ष से प्रतिसमय स्वभाव की शुद्धता में वृद्धि होती जाती है-इसका नाम सर्वविशुद्ध-ज्ञान है।

[भेदविज्ञानसार]

*

शुद्ध ज्ञानस्वरूप के अनुभव का उपदेश

(१) स्व में एकता का अभिप्राय सो धर्म, और पर में एकता का अभिप्राय सो अधर्म।

ज्ञान को स्वोन्मुख करके ऐसी प्रतीति की कि-ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ, और पुण्य-पाप तथा परवस्तुएँ मैं नहीं हूँ-वही अनेकान्त है। जो पुण्य पाप है वही मैं हूँ, उससे पृथक् कोई मेरा स्वरूप नहीं है-ऐसा मानना सो एकान्त है, मिथ्यात्व है, और वही पुण्य-पाप की उत्पत्ति का मूल है, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। पुण्य-पाप मैं नहीं हूँ, ऐसी प्रतीति सो पुण्य-पाप का नाश करके केवलज्ञान प्रगट करने का मूल है। बस, स्व में एकता का अभिप्राय सो धर्म है और पर में एकता का अभिप्राय सो अधर्म है। जिसका स्व में एकता का अभिप्राय है उसको स्व के आश्रय से धर्म की ही उत्पत्ति है, और जिसका पर में एकता का अभिप्राय है उसको पर के आश्रय से अधर्म की ही उत्पत्ति होती है। जिसे पुण्य पाप का ही उत्पाद भासित होता है उसे उससमय उसका व्यय भासित नहीं होता; पुण्य-पाप के समय पुण्य-पाप का व्यय करने वाला स्वभाव है, वह उसे भासित नहीं होता। पुण्य-पाप से पृथक्, पुण्य-पाप का व्यय करने वाला स्वभाव जिसे भासित नहीं होता वह पुण्य-पाप का व्यय नहीं कर सकता, इससे उसके शुद्धता

नहीं होती। जिसे पुण्य-पापरहित स्वभाव का भान है वह जीव पुण्य पाप के समय भी स्वभाव की एकतारूप ही उत्पन्न होता है, इससे उससमय भी उसे ज्ञान की शुद्धता की ही उत्पत्ति होती है; पुण्य-पाप की उत्पत्ति नहीं बढ़ती। यह 'सर्व विशुद्धज्ञान अधिकार' है इससे, स्वभाव की श्रद्धा से पर्याय में प्रतिसमय ज्ञान की विशुद्धता होती जाती है—उसका यह वर्णन है।

(२) ज्ञानी के ज्ञान की वृद्धि होती है और अज्ञानी के विकार की।

हे भाई! जिसक्षण पुण्य पाप है उसक्षण आत्मस्वभाव है या नहीं? यदि है तो उससमय तुझे अपना ज्ञान आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख हुआ प्रतिभासित होता है या पुण्य-पाप की ओर ही उन्मुख हुआ भासित होता है? जिसका ज्ञान आत्मस्वभावोन्मुख है उसके तो, पुण्य-पाप के समय आत्मस्वभाव में एकतारूप ही ज्ञान कार्य करता है, इससे ज्ञान की शुद्धि बढ़ती जाती है, और जिसका ज्ञान आत्मस्वभाव का आश्रय छोड़कर पुण्य-पाप में ही उन्मुख है उसके मिथ्याज्ञान है, उसके ज्ञान का हनन होता है और पुण्य पापरूप विकारभावों की वृद्धि होती है।

एक ही समय में त्रैकालिक-स्वभाव और क्षणिक पुण्य-पाप-दोनों हैं। उनमें त्रैकालिकस्वभाव का अस्तित्व स्वीकार करके उसका आश्रय करना सो धर्म का मूल है; और त्रैकालिकस्वभाव का अस्तित्व स्वीकार न करके पर का और क्षणिक पुण्य-पाप का अस्तित्व मानना सो मिथ्यात्व है, वह पाप का मूल है। ज्ञानी को, त्रिकालीस्वभाव की ओर उन्मुख हुए परिणामों से प्रतिसमय निर्मलस्वभाव ही प्रतिभासित होता है और विकार की उत्पत्ति भासित नहीं होती-व्यय ही भासित होता है। अज्ञानी को विकार की उत्पत्ति ही भासित होती है, परन्तु शुद्ध आत्मा का अस्तित्व भासित नहीं होता, इससे उसके शुद्धता की उत्पत्ति नहीं होती। ज्ञानी को शुद्ध आत्मा का अस्तित्व भासित होता है और उसमें पुण्य-पाप का अस्तित्व भासित नहीं होता इससे उसके वास्तव में शुद्ध आत्मा की ही उत्पत्ति होती है और पुण्य-पाप की उत्पत्ति नहीं होती।

(३) स्वभावोन्मुख ज्ञान स्वसमय है और वही मोक्षमार्ग है।

यहाँ परसमय को दूर करके स्वसमय को प्राप्त करने की बात की है। अपने ज्ञानरूपी नेत्रों को जिधर स्थिर करे उसका अस्तित्व भासित होता है और उस ओर परिणमन होता है। मिथ्यात्व ही पुण्य-पाप का मूल है—ऐसा कहकर मिथ्यात्व का नाश करना कहा है। मिथ्यात्व को दूर करने से पुण्य-पाप भी दूर हो ही जाते हैं। मिथ्यात्व को पुण्य-पाप का मूल कहा, उसमें यह भी आगया कि सम्यक्त्व वीतरागीचारित्र का मूल है। स्वभाव की श्रद्धा करके ज्ञान उसमें स्थिर हुआ वही चारित्र है। ज्ञान अपने आत्मस्वभाव में स्थिरता करे उसीमें दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग आजाता है। स्वभावोन्मुख ज्ञान स्वतः मोक्षमार्ग है। जो ज्ञान आत्मस्वभाव के आश्रय से परिणमित हुआ उसमें मोक्षमार्ग आगया। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हुए आत्मा को प्राप्त करना सो स्व-समय की प्राप्ति है। स्वभावोन्मुख निर्मल दशा को यहाँ स्व समय की प्राप्ति कहा है, वही मोक्षमार्ग है, और वही धर्म है। आत्मा स्वतः ही मोक्षमार्गरूप परिणमित होजाता है। आत्मा के स्वभाव की पहिचान करके, आत्मा में ही प्रवृत्तिरूप स्व-समय को प्राप्त करके शुद्धज्ञान को देखना—ऐसा यहां आचार्यदेव का उपदेश है। वह शुद्धज्ञान त्याग-ग्रहण से रहित है, उसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त किया है, वह साक्षात् समयसारभूत है और परमार्थरूप है;-ऐसे शुद्धज्ञान को सर्व परवस्तुओं से स्पष्टरूप भिन्न अनुभवन करना!

(४) ज्ञान में पर का ग्रहण-त्याग नहीं है

आत्मा के ज्ञानस्वभाव में किसी परवस्तु का ग्रहण या त्याग नहीं है। ज्ञानस्वभाव को ग्रहण करने से अर्थात् ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होने से विकार छूट जाता है; वही स्वभाव का ग्रहण और विकार का त्याग है। इसके अतिरिक्त पर का कुछ भी ग्रहण-त्याग ज्ञान में नहीं है। तत्त्वार्थराजवार्त्तिक में कहा है कि आत्मा के कहीं हाथ-पैर नहीं हैं जो वह परवस्तुओं को पकड़े और छोड़े। परमार्थ से तो आत्मा विकार का भी ग्रहण या त्याग करनेवाला नहीं है। 'मैं विकारी हूँ'-ऐसी विपरीत श्रद्धा का त्याग हुआ वही विकार का त्याग है और 'विकाररहित शुद्धस्वभाव है' ऐसी

श्रद्धा की वही स्वरूप का ग्रहण। अज्ञानदशा में जीव पर का ग्रहण-त्याग करना मानता है, परन्तु पर का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता। जिसप्रकार नदी में पानी बहता जारहा हो, वहाँ कोई किनारे पर खड़ा हुआ मनुष्य माने कि 'यह पानी मेरा है' और फिर वह कहे कि 'अब मैं इस पानी को छोड़ देता हूँ' वहाँपर वास्तव में उस मनुष्य ने पानी को छोड़ा भी नहीं है और पकड़ा भी नहीं है। पानी तो अपने प्रवाह में बहता ही जाता है। उस मनुष्य ने पानी का ग्रहण-त्याग करने की मान्यता की थी, परन्तु पानी का ग्रहण या त्याग नहीं किया है। मनुष्य तो पानी के ग्रहण-त्याग से रहित है। इस दृष्टान्त से ज्ञान को भी ग्रहण-त्याग रहित समझना चाहिये; यह जगत के पदार्थ सब अपने-अपने स्वभाव-क्रम में परिणमित होते हैं, वहाँ ज्ञान तो उनसे पृथक् रहकर उन्हें जानता है, परन्तु उनका ग्रहण या त्याग नहीं करता। परमार्थ से तो ज्ञान में विकार का भी ग्रहण-त्याग नहीं है। 'विकार को छोड़ो, विकार के निमित्तों को छोड़ो, कुसंग को छोड़ो'-ऐसा उपदेश चरणानुयोग में आवे वह कथन निमित्त का है। उपदेश में तो ऐसे वचन आते हैं, परन्तु वस्तुस्वभाव ही पर वस्तु के ग्रहण और त्याग से रहित है; ज्ञान में परवस्तु का ग्रहण-त्याग नहीं है-ऐसा स्वभाव है।

आज अनेक अज्ञानी कहते हैं कि अब सक्रिय काम करके दिखाओ! परन्तु भाई! तू क्या करेगा? क्या ज्ञान से तू पर का कार्य कराना चाहता है? परवस्तु में कुछ भी ऊँच-नीच, आगे-पीछे करने की शक्ति ज्ञान में नहीं है। ज्ञान का स्वभाव ही पर में कुछ न करने का है। ज्ञान तो आत्मा में जानने और स्थिर रहने की क्रिया करता है, इसके अतिरिक्त पर में कुछ भी ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता। जैसे दुकान में दर्पण लगाया हो, उसमें अनेक प्रकार के मोटर, गाड़ी मनुष्यादि के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, और फिर चले जाते हैं; वहाँ दर्पण ने उन वस्तुओं का ग्रहण या त्याग नहीं किया है; वैसे ही ज्ञान में सब कुछ ज्ञात होता है, परन्तु ज्ञान किसी का ग्रहण या त्याग नहीं करता। ऐसे ग्रहण-त्याग रहित, साक्षात् समयसारभूत शुद्ध-ज्ञान का अनुभवन करना चाहिये! ऐसा यहाँ उपदेश है। [भेदविज्ञानसार]

धर्मी और अधर्मी का अन्तर कैसे जाना जाता है ?

प्रश्नः—'आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह पर का कुछ नहीं कर सकता'—ऐसा सुनने और समझनेवाले भी व्यापार-धंधा अथवा घरबार छोड़कर त्यागी तो हो नहीं जाते ? जैसा व्यापार-धंधा हम करते हैं वैसा ही यह सुननेवाले भी करते हैं, तो फिर हममें और उनमें क्या अन्तर हुआ ?

उत्तरः—बाह्यदृष्टि से देखनेवाले अनेक जीवों को उपरोक्त प्रश्न उठता है, उसका उत्तर समझने की मुख्य आवश्यक्ता है; जिन जीवों को स्वयं सत्य नहीं समझना है और दूसरे जीव सत्य को समझ रहे हों वे अपनी अपेक्षा कुछ अच्छा कर रहे हैं—ऐसा भी नहीं मानना है, वे जीव अपने स्वच्छंद की पुष्टि के लिये ऐसा कहते हैं कि—सत्य समझनेवाले भी हमारे जैसे हैं ! आप स्वयं अन्तर के भाव को तो समझते नहीं हैं, इससे वे जीव बाह्य संयोग देखकर उनपर से धर्म का माप निकालते हैं । ऐसे जीवों को शास्त्र में बहिरात्मा कहा है । बहिरात्मा जीवों को उपरोक्त प्रश्न उठता है, उसका यहाँ समाधान करते हैं । 'जैसा व्यापार-धंधा हम करते हैं वैसा ही सत्य का श्रवण करनेवाले भी करते हैं'—ऐसा उपरोक्त प्रश्न में कहा है; परन्तु हे भाई ! सर्वप्रथम मूल बात तो यह है कि-बाह्य में व्यापार-धंधा आदि जड़ की कोई भी क्रियाएँ तो तू भी नहीं करता और न दूसरे आत्मा ही करते हैं । ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी आत्मा जड़ की क्रिया तो करता ही नहीं, मात्र अन्तर का भाव करता है; और उस अंतरंगभाव से ही धर्म-अधर्म का माप होसकता है । बाह्य संयोगों पर से धर्म-अधर्म का माप नहीं होसकता । कोई जीव व्यापार-धंधा और घरबार छोड़कर नग्न होकर जंगल में रहता हो, तथापि महान अधर्मी भी होता है और अनन्तसंसार में परिभ्रमण करता है । और किसी जीव को बाह्य में राजपाट का अथवा व्यापार-धंधे का संयोग हो तथापि अन्तर में आत्मस्वभाव का भान है, पहि-

चान है- वैसा जीव महान धर्मात्मा और एकावतारी अथवा उसी भव में मुक्तिगामी भी होता है। इसलिये अंतर के भावों को देखना चाहिये, बाह्य से धर्म का माप नहीं होता।

बाह्यसंयोग समान होनेपर भी एक को प्रतिक्षण धर्म और दूसरे को अधर्म

सत्य को सुनने और समझने वाले जीवों को और उससे विमुख जीवों को बाह्य में व्यापारादि संयोग समान हैं तथापि सत्य को समझने वाले जीवों को उससमय आत्मस्वभाव का भान है, राग से भी भिन्न अपने आत्मा की श्रद्धा करते हैं, और ऐसा नहीं मानते कि बाह्य के कार्य हम कर सकते हैं; इससे उनको राग–द्वेष अत्यन्त अल्प होते हैं और उसीसमय राग से भिन्न आत्मा की श्रद्धा होने से उन्हें धर्म होता है, रागद्वेष का पाप अत्यन्त अल्प है। और जिसे सत्य की दरकार नहीं है ऐसे जीव धन व्यापारादि जड़ की क्रिया को अपनी मानते हैं और उसके कर्तृत्व का अभिमान करते हैं। इससे उनके अज्ञान का महान भारी पाप प्रतिक्षण बंधता है। इसप्रकार बाह्य के संयोग समान होने पर भी ज्ञानी और अज्ञानी के अंतरंग में आकाश–पाताल जितना महान अन्तर होता है। संयोगदृष्टि से देखने वाला जीव इस अन्तर को कैसे समझेगा?

धर्मी जीव के किसका त्याग होता है?

लोग बाह्य का त्याग चाहते हैं, परन्तु परपदार्थ तो आत्मा से त्रिकाल भिन्न ही हैं। परपदार्थ कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं होगये हैं कि आत्मा उनका त्याग करे? पहले अज्ञान भाव से परद्रव्यों को अपना मानता था और उनका अहंकार करता था, परन्तु अब यथार्थ समझ होने से ऐसा जाना कि आत्मा सर्व पर से पृथक् है, इससे तीनलोक के समस्त पदार्थों में से अपनेपन की विपरीत मान्यता छोड़दी, वही मिथ्यात्वरूप अधर्म का त्याग है, यह त्याग अज्ञानी के दिखाई नहीं देता। बाह्य पदार्थों का त्याग या ग्रहण आत्मा नहीं करता, अन्तर में सत्य भावों का ग्रहण और विपरीत भावों का त्याग करे वही धर्म है।

सत्य की स्वीकृति और अस्वीकृति करनेवाले जीवों में महान अन्तर

पुनश्च, सत्य को समझने के जिज्ञासु जीव सत्य को स्वीकार करके उसका आदर करते हैं, उसकी रुचि से उसे समझने का प्रयत्न करते हैं और उसके लिये निवृत्ति लेकर सत्समागम करते हैं, जबकि दूसरे जीवों को सत्य समझने की दरकार नहीं है, उसकी रुचि नहीं है और उल्टा सत्य का अनादर करते हैं। देखो, दोनों के परिणामों में कितना अन्तर है! बाह्य-संयोग समान होने पर भी एक को सत्य की जिज्ञासा है और दूसरे को उसकी अवहेलना है; तो क्या उनमें अन्तर नहीं हुआ? एक जीव सत्य का श्रवण-मनन-भावना करने में दिन का अमुक भाग निवृत्ति लेता है और दूसरा जीव किंचित् निवृत्ति नहीं लेता, तो क्या पहले जीव ने उतना राग नहीं छोड़ा? श्री पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं कि भगवानआत्मा की बात सुनकर रुचिपूर्वक उसे स्वीकार करनेवाला जीव भविष्य में मुक्ति प्राप्त करनेवाला है। एक जीव सत्य की रुचिपूर्वक स्वीकार करता है और दूसरा अस्वीकार करता है, तो उनमें कितना अन्तर है! सत्य को स्वीकार करनेवाला जीव अपनी मान्यता में त्रिकाल सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करता है, और सत्य का अस्वीकार करनेवाला जीव अपनी मान्यता में त्रिकाल सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहण करता है, यह अन्तरंग का ग्रहण-त्याग अज्ञानी की दृष्टि में नहीं आता और बाह्य पदार्थों के ग्रहण-त्याग का अभिमान करता है।

बाह्य संयोगों में स्थित धर्मात्मा क्या करते हैं?

श्रीमद् * राजचन्द्रजी ज्ञानी पुरुष थे; आत्मस्वभाव का भान था, तथापि गृहस्थाश्रमी थे। बाह्य में लाखों रुपये का हीरे-जवाहिरात का व्यापार था, परन्तु उससमय उनके आत्मा में पर का स्वामित्व किंचित् भी नहीं था। अन्तर में से शरीरादि का स्वामित्व हट गया था। अल्प राग था उसके भी स्वामी नहीं होते थे; रागरहित स्वभाव के आश्रय से वे सबका ज्ञान ही करते थे।

---

* आप सौराष्ट्र में करीब ५० वर्ष पूर्व होगये हैं।

बाह्य में व्यापारादि की क्रिया उसके (जड़ के) कारण से होती थी, पर्याय की निर्बलता से अल्पराग भी होता था, परन्तु उससमय भी एकसमय मात्र को चैतन्य के स्वामित्व से च्युत नहीं होते थे और राग का अथवा पर का कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते थे। अज्ञानी जीवों को तो वे बाह्य क्रिया और राग करते दिखाई दें, परन्तु ज्ञानी के अन्तरंग स्वभाव की उन्हें खबर नहीं पड़ती। ज्ञानी तो अपने परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव के स्वामी हैं और उस स्वभाव के आश्रय से प्रतिक्षण--पर्याय पर्याय में उनके ज्ञान की विशुद्धता होती जाती है। ज्ञानी ज्ञानस्वभाव की एकता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करते।

पर का ग्रहण-त्याग किसी के नहीं है।

इस जगत में कौन सा जीव रुपया पैसादि परवस्तु को प्राप्त कर सकता है? और कौन सा जीव उसे छोड़ सकता है? 'मैंने पैसा इकट्ठा किया और मैंने पैसे को छोड़ दिया' इसप्रकार मूढ़ जीव मात्र अहंकार करता है। अज्ञानी जीव भी परद्रव्य में कुछ नहीं करता है। हाँ, वह जीव अपने में ममत्व की वृद्धि या हानि करता है। परमार्थ से तो ममत्वभाव का भी ग्रहण या त्याग आत्मस्वभाव में नहीं है।

अज्ञानी बाह्यत्यागी तथापि अधर्मी; ज्ञानी गृहस्थ तथापि धर्मी।

जो जीव परद्रव्य का स्वामी होता है वह अचेतन का स्वामी होता है। अज्ञानी जीव बाह्य में सब कुछ छोड़कर जंगल में जाकर रहे, इसलिये उसके अन्तर में पर-वस्तु का स्वामित्व छूट गया है ऐसा नहीं समझना चाहिये। और ज्ञानी के बाह्य में लक्ष्मी आदि का संयोग हो इससे उसके परद्रव्यों का स्वामित्व है—ऐसा नहीं समझना चाहिये। ज्ञानी जीव गृहस्थाश्रम में होनेपर भी वह चैतन्य का ही स्वामी है, इससे वह धर्मी है। और बाह्यत्यागी अज्ञानी जीव पर के त्याग का अहंकार करता है—परद्रव्य को मैंने छोड़ा है, ऐसा अभिमान करता है उस जीव की मान्यता में अनन्त परद्रव्यों का स्वामित्व विद्यमान है, इससे वह अधर्मी है।

जिज्ञासु जीव की पात्रता और अन्तर की अपूर्व धर्मक्रिया।

'आत्मा परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप है, पुण्य–पाप के आश्रय से आत्मा को लाभ नहीं है, परवस्तुएँ आत्मा से बिल्कुल पृथक् हैं, उनका आत्मा कुछ नहीं कर सकता'–इसप्रकार ज्ञानियों के निकट जाकर जो सत्य को समझने की जिज्ञासा करता है उस जीव के राग की बहुत मन्दता होगई है। बारंबार वीतराग-स्वभाव का श्रवण करने में इन्कार नहीं करता और रुचिपूर्वक स्वभाव को समझने के लिये समय लगाता है, उस जीव के प्रतिक्षण मोह की मंदता होती रहती है। दूसरे जीव को सत्श्रवण की बात नहीं रुचती और उल्टी अरुचि दिखलाता है, उसका मोह दृढ़ होता जाता है। जिसको निवृत्त-स्वरूप रागरहित आत्मस्वभाव की बात का बारंबार परिचय करना रुचता है उस जीव के अन्तर में वीतरागता और निवृत्ति जंची है या नहीं ? और उतने अंशों में राग से और संसार से उसकी रुचि छूट गई है या नहीं ? बस, इसमें स्वभाव के लक्ष से तीव्रकषाय छूटकर मंदकषाय होगई वह शुभक्रिया है, और उस शुभ से भी आत्मस्वभाव पृथक् है; इसप्रकार बारंबार रागरहित स्वभाव की भावना करने से स्वभाव की ओर अंशतः ज्ञान की एकाग्रता होती जाती है, उतनी ज्ञानक्रिया है। वह रागरहित है तथा वह धर्म का कारण होती है। और इसीप्रकार स्वभाव की रुचि का मंथन करते-करते जैसा परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव है वैसा यथार्थ समझ जाता है और सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है, वह तो अपूर्व धर्मक्रिया है; वह क्रिया अनन्त जन्म–मरण का नाश करनेवाली है। जीव ने अनादिकाल में एक क्षणमात्र भी क्रिया नहीं की है; यदि एक क्षणमात्र भी ऐसी समझरूप क्रिया करे तो जीव की मुक्ति हुए बिना न रहे।

सत् की रुचि ही धर्म का कारण है

पैसा कैसे पैदा होता है, उसकी बात ज्ञानी नहीं करते परन्तु मात्र सत्स्वभाव की वीतरागी बात कहते हैं, उसे सुनने में कितने ही जीवों को रुचि होती है और अनेक जीव उसे सुनना ही नहीं चाहते, तो उन दोनों में कितना अन्तर है ? जिसे सत्स्वभाव की बात नहीं रुचती वह जीव सत् सुनने में भी नहीं

रुकता, और उसके सत् समझने की पात्रता भी नहीं है। जो जीव सत् का आदर करके बारंबार श्रवण-मनन करता है वह जीव बाह्य में भले ही व्यापार-धंधा अथवा घरबार का राग न छोड़ सके, तो भी उसका भाव पहले जीव की अपेक्षा श्रेष्ठ है और उसमें सत् को समझने की पात्रता है। दोनों जीवों के बाह्य में व्यापारादि होने पर भी एक को रागरहित स्वभाव रुचता है और दूसरे जीव को व्यापारादि एवं राग की रुचि है; यह रुचि का फेर है, रुचि ही धर्म-अधर्म का कारण है; स्वभाव की रुचि धर्म का कारण है और संयोग की रुचि अधर्म का कारण है।

जिन जीवों को सत्य आत्म-स्वभाव समझने की जिज्ञासा हुई है, और उसके लिये बारंबार सत्समागम में रुकते हैं ऐसे जीवों को अपूर्व आत्मधर्म कैसे प्रगट हो, यह बात यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं। पर से भिन्न चैतन्यस्वभाव का निर्णय करने से अपने में स्वभाव की पूर्णता का स्वीकार होता है, वही अपूर्णता और विकार को नाश करने का उपाय है। अपूर्ण-दशा जितना या राग जितना अपने आत्मा को न मानकर उसे परिपूर्ण स्वरूप से स्वीकार करना वही प्रथम अपूर्व धर्म है।

[भेदविज्ञानसार]

समयसार जयवंत है!

[श्री नियमसार के शुद्धभाव–अधिकार के व्याख्यानों से]

[मालिनी]

जयति समयसारः सर्वतत्त्वैकसारः
सकलविलयदूरः प्रास्तदुर्वारमारः।
दुरिततरुकुठारः शुद्धबोधावतारः
सुखजलनिधिपूरः क्लेशवाराशिपारः॥

(नियमसार गा. ३८ टीका)

सर्व तत्वों में सारभूत एक समयसार (अर्थात् शुद्धात्मा) जयवंत है। कैसा है समयसार? सम्पूर्ण विलय अर्थात् विकारों से दूर है,

जिसका नाश करना कठिन है ऐसे कामदेव को नष्ट कर दिया है, पुण्य-पाप और अज्ञानरूपी जो दुरित वृक्ष है उसे काटने के लिये कुल्हाड़ी के समान है, शुद्धज्ञान का अवतार है, सुख से भरपूर सागर है और क्लेश के समुद्र से पार है।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि समस्त तत्वों में उत्कृष्टरूप यह समयसार जयवंत है। शुद्धआत्मा में नवतत्वों के विकल्प का अवकाश नहीं है। ऐसे शुद्धआत्मस्वभाव की जय हो और भेद के विकल्पों का क्षय हो;-यही महान मांगलिक है। जिसे शुद्धात्मा की रुचि और महिमा हो वही ऐसा कहता है कि शुद्धआत्मा समयसार जयवंत है। प्रथम तो ऐसे स्वभाव की रुचि और पहिचान करना चाहिये। आत्मस्वभाव की पहिचान होने से उसीसमय पर्याय में से समस्त पुण्य-पाप दूर नहीं होजाते; परन्तु स्वभाव तो निरंतर समस्त विकारों से दूर ही है-उसकी श्रद्धा और ज्ञान होता है तथा विकार का आदर दूर होजाता है। नवतत्वों का विचार है वह राग है, उस राग से रहित मात्र ज्ञाता ही मेरा स्वरूप है, यही समस्त तत्वों का सार है। सर्व तत्वों में साररूप भगवान आत्मा जयवंत है-शुद्धात्मा ही जयवंत है, इससे हमारे पर्याय में शुद्धात्मा का ही उत्पाद होओ! और अशुद्धता का नाश होजाओ! जो शुद्धात्मा को ही जयवंतरूप देखता है उसकी पर्याय में शुद्धता का ही उत्पाद होता है।

आत्मा स्वयं एक परम उत्कृष्ट समयसार तत्व है। अनन्त परद्रव्यों में स्वतः कुछ कर सकता है-ऐसा जो मानता है उसे भगवान ने जैन नहीं कहा है। जैन अर्थात् जीतनेवाला; जो शुद्धचैतन्यस्वभाव है सो मैं हूँ, जो पुण्य है सो मैं नहीं हूँ; विकार मेरा कर्तव्य नहीं है-ऐसे भेदज्ञान के बल से जो विकार को जीते (नष्ट करे) वह जैन है। ऐसे भेदज्ञान के बिना जीव का अनन्तकाल गया और अनन्त अवतार हुए, महापाप करके अनन्तबार नरक गया और बाह्य जैनसाधु होकर महान पुण्य करके नवमे ग्रैवेयक में भी अनन्तबार गया, परन्तु एक भी भव कम नहीं हुआ, क्योंकि उपादेयरूप अपना निश्चयस्वभाव क्या है उसे कभी नहीं जाना। व्यवहार तो बंधनमार्ग है, बंधनमार्ग से तीन-

काल में अबंधतत्व विकसित नहीं होता। जो बन्धभावों से दूर है—ऐसे उत्कृष्ट चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करे तो बंध दूर हो और मुक्ति प्रगटे।

अनन्तकाल से शुद्धात्मा की महिमा नहीं जानी और पुण्य का—राग का-व्यवहार का आश्रय माना, इससे उन पुण्यादि की जय थी अर्थात् उन पुण्य और राग को सदा बनाये रखने की भावना थी, वह अज्ञान था। अब, जहां शुद्ध आत्मा की दृष्टि हुई वहाँ साधक जीव कहता है कि अहो! यह शुद्धआत्मा ही सदैव जयवंत है। रागादि की जय कभी हुई ही नहीं। पूर्व अनंतकाल में रागादि के समय भी एकरूप शुद्धआत्मा ही जयवंत प्रवर्तमान था। एकरूप शुद्धआत्मा की ही जय होओ और पुण्य-पाप विलीन होजाओ! त्रैकालिक स्वभाव में तो रागादि का अभाव है ही, उस स्वभाव की भावना से वर्तमान पर्याय में शुद्धआत्मा प्रगट होओ, और रागादि नष्ट होजाओ!

यह समयसार जयवंत है और पुण्य-पापरूप विकारी भाव तो नाश होने योग्य हैं। उन नाश होने योग्य विकारी भावों से समयसार पृथक् ही है। आत्मा चैतन्यस्वभावमात्र है, उसके स्वरूप में विकार है ही नहीं। जहाँ आत्मा विकार का ही कर्ता नहीं है, तो पर का कुछ करे—यह तो बात ही कहाँ रही?

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव समयसार की टीका के ६२ वें श्लोक में कहते हैं कि "आत्माज्ञानं स्वयंज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोतिकिम्" आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या कर सकता है? अरे प्राणियो! तुम्हारा आत्मा ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर सकता—ऐसा तुम समझो! आत्मा ज्ञातास्वरूप ही है तथापि अज्ञानी मानते हैं कि—हम जड़ की क्रिया करते हैं और शुभराग हमारा कर्तव्य है, ऐसे जीवों के लिये फिर आचार्यदेव कहते हैं कि—"परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्"—आत्मा परभावों का कर्ता है—ऐसा मानना सो व्यवहारी जीवों का मोह है—अज्ञान है। मूढ़ मिथ्यादृष्टि जीव राग की क्रिया का कर्ता होता है, परन्तु रागरहित अपना सहज ज्ञानस्वभाव है उसे नहीं मानता। शुद्धस्वभाव में अभेद होकर परिणमन करना

चाहिये उसके बदले अज्ञान के कारण रागादि में एकत्व मानकर परिणमित होता है वही अधर्म है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वतः ज्ञान ही है। ज्ञानस्वरूप से ही आत्मा त्रिकाल जयवंत है, उसमें राग अथवा जड़ की क्रिया तीनलोक और तीनकाल में नहीं है; तथापि ऐसे भगवान आत्मा को ज्ञान के अतिरिक्त परभावों का कर्ता मानना और रागादि परभावों को अपना स्वरूप मानना वह मूढ़-अज्ञानी जीवों का व्यवहार है, यह व्यवहार ही अधर्म है; अपने स्वभाव में तो विकार नहीं है, तथापि अज्ञानी जीव मोह से उन्मत्त होकर विकार को अपना कार्य माने तो उसका क्या हो ?

यहाँ शुद्धभाव-अधिकार में शुद्ध आत्मस्वभाव समझाते हैं। स्वभाव में विकार का अभाव है, परन्तु शुद्धस्वभाव की दृष्टि किये बिना कोई अज्ञानी जीव ऐसा माने कि 'आत्मा तो पर्याय से भी शुद्ध ही है, पर्याय में भी रागादि नहीं हैं' तो उसकी मान्यता मिथ्या है। पर्याय में विकार होता है उसे जो जाने ही नहीं तो गृहीतमिथ्यात्व है। अपनी पर्याय में विकार होते हैं उसे जानकर शुद्धस्वभाव की दृष्टि से उन्हें टालने की यह बात है। यदि अवस्था में विकार होता ही न हो तो आत्मा में वर्तमान पूर्ण शुद्धदशा प्रगट होनी चाहिये। और यदि पूर्ण शुद्धदशा प्रगट हो तो फिर सुनने-समझने की आवश्यकता ही क्या हो ? अवस्था में विकार होता तो है, परन्तु त्रिकाल वस्तुस्वरूप में वह विकार नहीं है वह ऊपर ही ऊपर रहता है। विकार से भिन्न स्वभाव का ज्ञान करने से धर्म होता है, परन्तु आत्मा को विकारी ही जाने तो धर्म नहीं होता। पुण्य-पाप विकारी क्रिया है, उसमें एकाग्रता छोड़कर शुद्ध आत्मस्वभाव में एकाग्रता करना सो ज्ञान की अविकारी क्रिया है, वही क्रिया मोक्ष का कारण है।

भगवान आत्मा मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप विकल्प से दूर है, त्रैकालिकस्वभाव की विकार के साथ एकता नहीं है परन्तु भिन्नता है। आत्मा के स्वरूप में काम की वासना नहीं है, संकल्प-विकल्प नहीं हैं; सभी आत्माओं का स्वरूप ऐसा ही है। पर्याय में जो संकल्प-विकल्प होते हैं वह तो पराश्रय से नवीन उत्पन्न करता है; अपने स्वभाव में तो उस कामदेव की वासना का

और संकल्प-विकल्पों का अभाव है। स्वभाव जयवंत है और विकार का अस्त है। अभिप्राय में जहाँ स्वभाव का आदर हुआ वहाँ काम-वासना का नाश ही होता है। इन्द्रियविषयों में सुख की कल्पना अस्त होजाती है। शुद्धआत्मा में तो उसका त्रिकाल अस्त है ही, और वह शुद्धात्मा के आदर से पर्याय में से भी अस्त हो जाता है। जिसे त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की भावना नहीं है उसकी पर्याय में से कभी भी विकार का नाश नहीं होता, किन्तु विकार ही होता रहता है। समस्त तत्वों में उत्कृष्ट—ऐसे अपने परमपारिणामिक स्वभाव की भावना करने से पर्याय में से विकारी वासनाओं का ऐसा अस्त हो जाता है कि वे फिर कभी उदित नहीं होतीं।

पुनश्च, वह समयसार कैसा है?

अज्ञान और पुण्य-पापरूप जो दुरितवृक्ष है, उसका नाश करने के लिये कुल्हाड़ी के समान है। जहाँ समयसार स्वभाव का आदर हुआ वहाँ अज्ञान और पुण्य-पाप नष्ट होजाते हैं। शुद्धस्वभाव के आदर में से केवलज्ञानरूपी वृक्ष उगता है और पुण्य पापरूपी दुरित-वृक्ष नष्ट होता है।

और वह आत्मस्वभाव शुद्धज्ञान का अवतार है, सुखसागर से भर-पूर है और क्लेशसागर से पार है। ऐसा आत्मा ही सर्व तत्वों में सार है, इससे वही उपादेय है। ऐसा सर्व तत्वों में उत्कृष्ट भगवान-आत्मा जयवंत है।

—○—

जहाँ रुचि वहाँ निःशंकता

अज्ञानी पर में सुख मानकर निःशंक होता है और ज्ञानी स्वभाव में निःशंक होते हैं

खान-पान, स्त्री, लक्ष्मी इत्यादि विषयों में जीव ने कभी सुख नहीं देखा है, और वहाँ सुख है भी नहीं। तथापि आत्मा में सुख है, उसे भूलकर अज्ञानियों ने पर विषयों में सुख मान रखा है। पैसा, मकान, भोजन, शरीरादि तो परमा-णुओं के बने हैं—अचेतन हैं; क्या उन अचेतन परमाणुओं में सुख है? उनमें कहीं भी सुख नहीं है, और वे सुख के कारण भी नहीं हैं; तथापि विपरीत रुचि के कारण वहाँ

निःशंकरूप से सुख की कल्पना कर ली है। जहाँ सुख नहीं है वहाँ उसे माना है इसलिये वह मान्यता मिथ्या है। यदि विपरीत रुचि को बदलकर आत्मा की रुचि करे तो आत्मा के स्वभाव में सुख है उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो। यदि मिष्टान्न में सुख हो तो उसका अर्थ ऐसा हुआ कि जब मिष्टान्न खाये तब आत्मा में सुख आये और पश्चात् जब वह विष्टारूप होकर निकल जाये तब आत्मा में से सुख निकल जाये! मिष्टान्न में सुख नहीं है; उसमें जो सुख भासित होता है वह तो मात्र अज्ञानी की मिथ्या कल्पना है। वह कल्पना उसने स्वयं अपने में उत्पन्न की है। सुख की कल्पना कहाँ होती है, वह भी कभी विचार नहीं किया है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य किन्हीं भी पदार्थों में सुख कभी देखा नहीं है और न है ही; तथापि वहाँ सुख की कल्पना करके निःशंकरूप से सुख मान लिया है, असत् कल्पना खड़ी की है। पर में सुख न होने पर भी, और देखा न होने पर भी मात्र रुचि के विश्वास से मान लिया है। इसलिये 'जो देखे उसीको मानता है'-ऐसा नहीं है, परन्तु जहाँ रुचता है वहाँ निःशंक होजाता है। अज्ञानी को विपरीत रुचि का बल है इससे 'पर में सुख नहीं है'-ऐसा लाखों ज्ञानी कहें तो भी वह अपनी मान्यता नहीं बदलता। तब, अपने आत्मस्वभाव में तो परिपूर्ण सुख है, उसे जानकर मानना-यह तो सत् पदार्थ की रुचि है। यदि स्वभाव की प्रतीति और रुचि करे तो स्वभाव का सुख तो ज्ञात होने और अनुभव में आने योग्य है! पर में सुख माना वह तो असत् प्रतीति थी, इससे दुःख था। पर में सुख है ही नहीं, तो फिर उसकी प्रतीति करने से सुख कहाँ से आयेगा? अपने स्वभाव में सुख है, उसे मानना वह सत् प्रतीति है, और ऐसी प्रतीति करे तो स्वभाव में सुख प्रगट होता है। जो ज्ञान में ज्ञात हो उसीको माने-ऐसा जीव की श्रद्धा का स्वभाव नहीं है, परन्तु जो स्वतः को रुचता है उसे वह मानता है और वहाँ निःशंक होजाता है। यदि स्वभाव की रुचि करे तो स्वभाव का सुख तो ज्ञान के अनुभव में आये ऐसा है। आत्मा का सुख पर में है-ऐसी विपरीत श्रद्धा ही महापाप है।

आत्मा का श्रद्धागुण ऐसा है कि जहाँ रुचि हो वहाँ वह निःशंक होजाता है। अपने स्वभाव में निःशंक हो तो धर्म होता है और पर में सुख मानकर वहाँ निःशंक हो तो अधर्म होता है। अज्ञानी जीव पर को जानते समय अपना ज्ञान पर में रोककर वहाँ सुख मान लेता है, परन्तु उस मान्यता में, उस ज्ञान में अथवा परवस्तु में स्वतः कभी सुख नहीं देखा है; और उस किसी में सुख नहीं है—ऐसा अनन्त तीर्थंकरों ने कहा है तथापि अपनी उस मान्यता को अज्ञानी नहीं छोड़ता। देखो! अनंत तीर्थंकर कहें तो भी स्वतः को जो बात रुच गई है उसे नहीं छोड़ता—ऐसी दृढ़तावाला है। वैसे ही जिसे स्वभाव की रुचि से स्वभाव में सुख की श्रद्धा हुई, वह जीव इतना दृढ़ होता है कि यदि इन्द्र भी उसे श्रद्धा से डिगाने आयें तो भी वह न डिगे; समस्त जगत न माने और प्रतिकूल होजाये तब भी उसके स्वभाव की श्रद्धा न बदले। केवलज्ञान में सम्पूर्ण आत्मा जैसा प्रत्यक्ष ज्ञात होता है वैसा ही प्रत्यक्ष उस जीव के ज्ञान में भले ही न आता हो, परन्तु केवलियों ने जैसा देखा है वैसे ही परिपूर्ण आत्मस्वभाव की प्रतीति उसे होती है; जैसा आत्मा केवली-भगवान की श्रद्धा में है वैसा ही उस साधक-धर्मात्मा की श्रद्धा में है, उस श्रद्धा में वह निःशंक है, वह किन्हीं दूसरों की अपेक्षा नहीं रखता। ऐसी प्रतीति करना ही धर्म का उपाय है। अफीम खाने में अथवा अग्नि में जलने आदि में सुख की कल्पना करता है; क्या अफीम या अग्नि में सुख है? वहाँ सुख नहीं है, मात्र अज्ञान से कल्पना की है। अज्ञान से पर में सुख की कल्पना करने में भी पर का आश्रय नहीं लेता किन्तु स्वतः कल्पना करके, जहाँ न हो वहाँ भी सुख मान लेता है; तो फिर अपने स्वभाव में सुख है, उसे किसी पर का आश्रय नहीं है और उस स्वभाव की श्रद्धा भी पराश्रयरहित है।

[भेदविज्ञानसार]

मोक्षाभिलाषी उत्तम पुरुषों का कर्तव्य

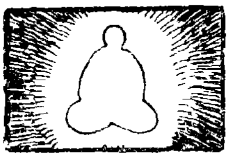
मोक्षरूपी वृक्ष का बीज सम्यग्दर्शन है और संसाररूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है—ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है; इसलिये मोक्षाभिलाषी उत्तम-पुरुषों को सम्यग्दर्शन प्राप्त करके अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक उसकी रक्षा करना चाहिये।

[पद्मनन्दि-देशव्रतोद्योतन अधिकार—३]

आत्मधर्म
कार्तिक २४७६
वर्ष पाँचवाँ : अङ्क सातवाँ

श्री सिद्ध भगवान की आत्मकथा

[श्री सनातन जैनशिक्षण वर्ग, सोनगढ़ की द्वितीय श्रेणी की परीक्षा के एक प्रश्न का उत्तर]



सिद्ध भगवान के आत्मा का विचार करने से उनकी आत्मकथा सम्बन्धी जो प्रेरणा हुई वह निम्न प्रकार है:—

वह जीव अनादिकाल से निगोद दशा में ही अनन्तानन्त दुःख सहता हुआ उसीमें जन्म-मरण करता था। अहो! उसके अपार दुःखों का पूरा ज्ञान तो केवलज्ञानी के अतिरिक्त और किसे हो सकता है? वहाँ निगोददशा में एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं और उनको एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, उसके ज्ञान का क्षयोपशम भी अत्यन्त अल्प होता है। प्रचुर मोहावेश से वे घिरे रहते हैं। एक श्वासोच्छ्वास में अठारह बार जन्म-मरण करते हैं। ऐसे अपार दुःखों को सहन करते हुए उस जीव ने एक बार कुछ मंद-कषायरूप परिणामों से मरण करके एक सुप्रसिद्ध सेठ के घर पुत्ररूप में जन्म लिया।

वह सेठ सम्पत्तिशाली थे और साथ में उनके हृदय में धर्मभावना भी प्रबल थी, वे वीतराग धर्म के अनन्य भक्त थे। बड़े भारी व्यापार के काम काज में पड़े होने पर भी सेठ के हृदय में आत्महित की कामना थी। वे प्रतिदिन नियमित देवदर्शन, शास्त्र-स्वाध्याय तथा मुनिराज के चरणकमलों के निकट भक्तिपूर्वक देशना श्रवण करना नहीं चूकते थे; सेठ ने नगर में अनेक जिनमन्दिर बंधाये थे और उनके गृह में भी एक भव्य जिनमन्दिर था। सेठ वास्तव में एक श्रेष्ठ आत्मार्थी जीव थे; सेठ की भाँति उनकी पत्नी और सारा परिवार भी सस्कार और धर्मभावनामय था।

ऐसे सेठ के घर में उस जीव ने पुत्ररूप में जन्म लिया। पुत्र जन्म का सेठ ने एक महोत्सव किया,

जिनमन्दिर में अनेक प्रकार के विधान-पूजन हुए और अनेक प्रकार के दान की घोषणा की, सारे नगर में गरीब लोगों को मिष्टान्न और वस्त्रादि बाँटे गये। सेठ ने पुत्र का नाम 'सिद्धकुमार' रखा।

"सिद्धकुमार" का बचपन बड़े ही लाड़प्यार में बीतने लगा। सेठ जब जिनमन्दिर में पूजा स्वाध्याय, ध्यान करते, तब बालक सिद्धकुमार पिता के निकट जाकर बैठ जाता और जिनप्रतिमा के सन्मुख एकटक देखता रहता। सिद्धकुमार की सौम्य सुन्दर मुखाकृति और शांत प्रकृति देखकर लोग आश्चर्यचकित होते थे। जब सिद्धकुमार पाँच बरस का हुआ तो सेठ ने उसके लौकिक और धार्मिक शिक्षण की व्यवस्था की और सिद्धकुमार दिन-प्रतिदिन उसमें आगे बढ़ने लगा।

एकबार एक वीतरागी मुनि आहार लेने शहर में पधारे। सेठ ने मुनिराज की पड़गाहना की। महाभाग्य से सेठ को आहारदान का शुभावसर प्राप्त हुआ। आहार की विधि समाप्त होने के पश्चात् मुनिराज के चरणों का स्पर्श करके सब अपने को कृतार्थ मानने लगे। सिद्धकुमार ने भी मुनिराज के चरण-कमलों में उल्लासपूर्वक साष्टांग प्रणाम किया। मुनिराज ने उसके मस्तक पर हाथ रखकर सेठ से कहा "यह जीव इसी भव में भगवती जिनदीक्षा धारण करके परमानन्दमय शाश्वत सिद्धदशा को प्राप्त करेगा" ऐसा कहकर मुनिराज वहाँ से विहार कर गये। सिद्धकुमार के विषय में यह बात सुनकर सेठ और समस्त कुटुम्बीजनों के हृदय में हर्ष का सागर लहराने लगा, आनन्दमग्न सेठ ने महान उत्सव किया; उस दिन से सब सिद्धकुमार के प्रति अत्यन्त भक्ति प्रेम रखने लगे।

इधर सिद्धकुमार का अभ्यास क्रम भी शीघ्रता से आगे बढ़ने लगा। उसकी बुद्धि का चमत्कार देखकर उसके शिक्षक भी आश्चर्यमग्न होजाते थे। लगभग तेरह वर्ष की आयु होने तक तो सिद्धकुमार ने लौकिक अभ्यास में गणित, साहित्य विज्ञान, कविता आदि का अधिकांश अभ्यास कर लिया। और धार्मिक अभ्यास में भी चारों अनुयोगों का अच्छी तरह अभ्यास किया। नवतत्त्व, छह द्रव्य, त्रिलोक की रचना, कर्म का स्वभाव, श्रावक और मुनि के

आचरण तथा ऋषभादि त्रेसठ शलाका पुरुषों का चरित्र अभ्यास होने पर सिद्धकुमार को समस्त जगत की व्यवस्था और संसार-मोक्ष का स्वरूप ज्ञात होने लगा। स्वाध्याय तथा वीतरागी मुनियों के समागम से उसने आत्मा के स्वरूप का भी अभ्यास किया। उसके अन्तर में निश्चय हुआ कि अहो! इस अनन्त संसार-सागर में जीव को अनन्त दुःखों का एक मूल कारण स्वरूप भ्रम, मिथ्यामान्यता ही है। इन अनन्त दुःखों से मुक्त करके मोक्ष-मार्ग में स्थापित करने वाला कल्याणमूर्ति एक सम्यग्दर्शन ही है, वही धर्म का मूल है। इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना जीव जो कुछ करता है वह संसार में परिभ्रमण का ही कारण होता है। ऐसे कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन के लिये सिद्धकुमार की जिज्ञासा और आकांक्षा बढ़ने लगी। संसार के सुख-वैभव से उसकी वृत्तियाँ उदासीन होने लगीं। अब वह अधिक समय मुनियों के समागम में रहने लगा। वीतरागी मुनियों का भी उसके प्रति परम अनुग्रह रहता था।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के लिये तरसते हुए सिद्धकुमार की आयु १६ वर्ष के लगभग हो गई। सामान्यतः युवा पुत्र को देखकर माता-पिता का विचार विवाह करने का होता है; परन्तु संसार के प्रति उसकी तीव्र उदासीनता देखकर सिद्धकुमार के पिता उनके समक्ष व्याह की बात न कह सके। एक बार रात्रि के अन्तिम प्रहर में सिद्धकुमार आत्मा के स्वरूप को चिंतवन कर रहे थे। अपने अखण्ड ज्ञायक स्वभाव में लीन होने से अंतरंग ज्ञान भानु का उदय हुआ, मिथ्यात्व परिणति का नाश हो गया। शरीर, कर्म और संयोग से भिन्न एवं विकारी तथा अपूर्ण पर्याय से पार त्रिकाल शुद्ध चैतन्य-स्वरूप निजात्मा का अनुभव हुआ। अनादि से जो परिणति परपदार्थ और विकार का आश्रय करती हुई अनन्त क्लेश को पा रही थी वह अब स्वभाव का आश्रय लेकर क्लेश रहित हुई, और जिसे प्राप्त करने की भावना सिद्धकुमार वर्षों से कर रहा था वह स्वरूप निधि प्राप्त होने से सिद्धकुमार को परमानंद प्राप्त हुआ। उसे त्रिलोक पूज्य सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई इससे वह अपने को कृतकृत्य समझने लगा।

प्रभात होते ही स्नानादि से

निवृत्त होकर सिद्धकुमार जिन-मंदिर में पूजन करने गये। पश्चात् नगर के बाहर विराजमान वीतरागी मुनि श्री जिनेन्द्राचार्य के निकट की अनुमति लेने को कहा। सिद्ध-कुमार परम भक्ति से नमस्कार करके अपने घर आये।

घर आकर माता-पिता तथा

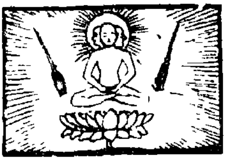


गये; अपने को हुए स्वानुभव का वर्णन किया तथा हाथ जोड़कर प्रार्थना की–"प्रभो! अब मेरी परिणति संसार से उदासीन हुई है, मुझे भगवती जिनदीक्षा देकर अपने चरणकमलों का आश्रय दीजिये।" ऐसा कहकर सिद्धकुमार ने चारित्रदशा धारण करने की अपनी अन्तरभावना आचार्यदेव के समक्ष व्यक्त की। सिद्धकुमार की इस उच्च भावना की आचार्यदेव ने अनुमोदना की और जिनदीक्षा धारण करने के लिये. कुटुम्बीजनों कुटुम्बीजनों से अपनी जिनदीक्षा लेने की अभिलाषा व्यक्त की। यह सुनकर उनके धर्मिष्ठ माता-पिता तथा कुटुम्बीजन हर्ष से अवाक् रह गये। माता-पिता की आँखों से आनंद के आँसू बहने लगे। सिद्ध-कुमार ने उन्हें वैराग्य प्रेरक तत्त्व सुनाया। माता-पिता तथा कुटुम्बीजनों ने सिद्धकुमार को हार्दिक अनु-मोदना पूर्वक जिनदीक्षा लेने की अनुमति दी। और दीक्षाका बड़ा उत्सव मनाया। महान् रथयात्रा

के रूप में सब गाजे-बाजे सहित श्री जिनेन्द्राचार्य के निकट आये। सिद्धकुमार ने गुरुदेव को नमस्कार करके विधिपूर्वक समस्त परिग्रह का त्याग किया और निर्ग्रन्थ दशा धारण की।



जिनदीक्षा ग्रहण करके मुनिराज सिद्धकुमार अपने आत्मस्वभाव में लीन रहते हुए प्रचंड पुरुषार्थ द्वारा मोह शत्रु का चारों ओर से नाश करने लगे। एक बार मध्यरात्रि के समय स्व-स्वरूप में लीन होकर, विद्यमान अल्प मोह भाव का भी नाश करने को उद्यत हुए। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर मोह शत्रु का सम्पूर्ण नाश किया और लोकालोकप्रकाशक परमज्योति केवलज्ञान को प्रगट किया। मुनीश्वर सिद्धकुमार को केवलज्ञान होते ही चारों प्रकार के देव उनके केवलज्ञान का महोत्सव करने आये। केवलज्ञानरूपी दिव्यनेत्र के धारक श्री सिद्धकुमार ने ॐ दिव्य ध्वनि द्वारा मोक्षमार्ग का



उपदेश करके अनेक जीवों के संसार ताप को शांत किया। इस प्रकार कई वर्ष तक सारे संसार में वस्तु स्वभाव का उपदेश करके अनेक जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति कराई।

अब आयु पूर्ण होने आई, इससे श्री सिद्धकुमार की देह सम्मेद शिखर पर स्थित होगई। तुरन्त योग निरोध करके चौदहवें गुण स्थान में प्रवेश किया और अल्पकाल में ही देह मुक्त होकर उनका आत्मा एक समय में लोकाग्र में स्थित हुआ और शाश्वत परमानन्दमय तथा केवलज्ञानादि गुणों सहित सर्वोत्कृष्ट सिद्ध दशा को प्राप्त हुआ।

सच्चा ब्रह्मचर्य जीवन कौन जी सकता है ?

ब्रह्मचारी का अर्थ क्या ?

ब्रह्मचारी अर्थात् आत्मा का रंगी और विषयों का त्यागी।

विषयों का त्यागी कौन हो सकता है ?

जो विषयों में सुख न मानता हो।

विषयों में सुख कौन नहीं मानता ?

जिसे विषयों से रहित आत्मा के सुख का भान और रुचि होगई हो।

जिस प्रकार एक स्पर्शनेन्द्रिय के विषय में सुख नहीं है, उसी प्रकार पांच इन्द्रियों सम्बन्धी किसी भी विषय में आत्मा का सुख नहीं है--ऐसा जानकर जिसे सर्व विषयों में से सुखबुद्धि दूर हो और सर्व विषयों से रहित असंगी आत्मस्वभाव की रुचि हो वही जीव वास्तविक ब्रह्मचर्य जीवन जीता है। इसलिये वास्तव में जितना-जितना आत्मिक सुख का अनुभव है उतने-उतने अंशों में ब्रह्मचर्य जीवन है। अन्य प्रकार से कहा जाये तो ब्रह्मस्वरूप आत्मा में जितने अंश में चर्या (परिणमन) होती है उतना ही ब्रह्मचर्य जीवन है। और जितनी ब्रह्म में चर्या होती है उतना पर विषयों का त्याग होता है और बाह्य में भी उस-उसप्रकार के विषयों का संग नहीं होता।

श्री आत्मावलोकन में शील की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'अपने चेतन स्वभाव को शील कहते हैं। अपने स्वभाव की अन्य परभावरूप नारी के प्रति विरक्ति (अर्थात् उसका त्याग) और अपने स्वभाव में स्थिरता—वही शील पालन है।

परन्तु जो जीव पर विषयों से अथवा परभावों में सुख मानता हो उस जीव के ब्रह्मचर्य जीवन नहीं होता; क्योंकि उसे विषयों के संग की रुचि पड़ी है। फिर भले वह जीव शुभराग द्वारा कदाचित् स्त्री संग या पुरुष संग न करता हो, परन्तु "अमुक शब्द से या मूर्ति इत्यादि अमुकरूप से अथवा किसी भी विषय से मुझे सुख हो अथवा उसके निमित्त से मुझे ज्ञान हो" ऐसी जिनकी दृष्टि है उन्हें पर विषयों की रुचि हो है और इससे उन्हें वास्तविक ब्रह्मचर्य होता ही नहीं।

इससे, तत्वज्ञान का और ब्रह्म-

चर्य का मेल सिद्ध हुआ; क्योंकि जिस जीव को तत्वज्ञान होता है, आत्मा की रुचि होती है वह जीव कभी किसी भी पर विषय में सुख नहीं मानता अर्थात् रुचि में-श्रद्धा में-दृष्टि में तो उसने अपने आत्म-स्वभाव का संग करके सर्व पर विषयों का संग छोड़ दिया है, इसलिये वह जीव रुचि-श्रद्धा से तो ब्रह्मचर्य जीवन ही जी रहा है। और फिर स्वभाव की रुचि के बल से उस स्वभाव में लीनता करने से ज्यों-ज्यों रागादि परिणति टलती जाती है, वैसे ही वैसे उसके निमित्तभूत बाह्य विषय भी स्वयमेव छूटते जाते हैं, और इस क्रम से आत्मिक ब्रह्मचर्य जीवन में आगे बढ़ने से वह जीव स्वतः पूर्ण ब्रह्मस्वरूप परमात्मा हो जाता है।

शरीर के स्पर्श में जिसे सुख की मान्यता दूर हो गई हो, वही उससे विरक्त होकर ब्रह्मचर्य जीवन जी सकता है। और जिसे शरीर के स्पर्श-विषय में से सुखबुद्धि दूर हो गई हो उस जीव को शब्द, रूप, रस, गंध अथवा वर्णादि विषयों में से भी सुखबुद्धि अवश्य दूर हो गई होती है। जिसे वास्तव में एक भी इन्द्रिय में से सुखबुद्धि दूर हो जाये उसे पांचों इन्द्रियों में से सुखबुद्धि दूर हो जाती है। और पांच इन्द्रियों के विषयों में से सुखबुद्धि उसी को दूर होती है कि जिसने सत्पुरुष के उपदेश के श्रवणपूर्वक पांच इन्द्रियों के विषयों से पार अतीन्द्रिय आत्मा का सुख लक्ष्यगत किया हो और अन्तर में उसकी रुचि हुई हो-ऐसा ही जीव वास्तव में इन्द्रिय विषयों से विरक्त होकर ब्रह्मचर्य जीवन जी सकता है।

आत्मा के लक्ष्य बिना स्पर्शेन्द्रिय के विषय को छोड़कर कोई जीव शारीरिक ब्रह्मचर्य तो पाले, परन्तु कड़वाहट में दुःख और लड्डू खाने में आनन्द-सुख माने तो उसने 'रस' के साथ विषय किया है अर्थात् उसका यथार्थ ब्रह्मचर्य जीवन नहीं है परन्तु विषयी जीवन है।

उसीप्रकार दुर्गंध में दुःख और सुगंध में सुख माने तो उसने 'दुर्गंध' के साथ विषय किया है।

वैसे ही, स्त्री आदि की आकृति के कारण विकार होना माने, और भगवान की मूर्ति आदि के कारण वीतरागता होना माने अथवा उस रूप के कारण ज्ञान का होना माने तो उसने 'रूप (वर्ण)' के साथ विषय किया है।

और, 'निन्दा आदि के शब्द द्वेष कराते हैं तथा प्रशंसा के शब्द राग करते हैं, अथवा देव-गुरु की वाणी से मुझे ज्ञान होता है'—ऐसा जिसने माना है उसने 'शब्द' के साथ विषय किया है।

और ब्रह्मचर्य के नाम से जिसे मान-पोषण की या अन्य किसी वस्तु की रुचि हो उस जीव ने 'मान' के साथ विषय किया है।

उपरोक्तानुसार जिस जीव की परिणति स्व-घर छोड़कर पर-घर में भटकती है—आत्मविषय को छोड़कर पर विषयों में एकता करती है वह जीव वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं है परन्तु अब्रह्मचारी है। सम्यग्दर्शन स्व-द्रव्य का विषय करने वाला है; जो स्व-द्रव्य का विषय करे उसीके पर-द्रव्य के साथ का विषय दूर होता है। जो स्व-द्रव्य का विषय न करे और पर-द्रव्य के साथ ही विषय करे उसके कभी विषय दूर नहीं होता और ब्रह्मचर्य जीवन नहीं होता।

कोई जीव शुभराग के वेग से बाह्यत्यागी-द्रव्यलिंगी तो होजाये, परन्तु वह ऐसा मानता हो कि-'मुझे निमित्त से लाभ हानि होते हैं, अथवा जो पुण्य की वृत्ति होती है वह मुझे धर्म का कारण है,—तो उस जीव ने पर विषयों का और पर भाव का किंचित् भी संग नहीं छोड़ा है और उसको किंचित् आत्मिक ब्रह्मचर्य प्रगट नहीं हुआ है। पुण्यभाव तो पर विषयों के लक्ष से ही होते हैं, उस पुण्य को जिसने धर्म माना उसने वास्तव में यही माना है कि पर विषयों में सुख है, इससे उसके अन्तर में पर विषयों का संग छोड़ने की रुचि नहीं है, परन्तु पर विषयों का संग करने की रुचि है। पर विषयों का संग करने की जो रुचि वह अब्रह्मचर्य ही है।

पर विषयों से मुझे कुछ भी होता है—ऐसा जो मानता है वह जीव उन पदार्थों की अनुकूलता में सुख माने बिना नहीं रहता। जो जीव ऐसा मानता है कि देव-गुरु-शास्त्र से आत्मा को लाभ होता है उसे देव-गुरु-शास्त्र के विषय को छोड़ने की रुचि नहीं है किन्तु उनका विषय करने की रुचि है। जिस प्रकार स्त्री आदि में सुखबुद्धि सो विषय है, उसी प्रकार देव-गुरु-शास्त्र भी पर विषय हैं, उनमें सुखबुद्धि सो विषय ही है—एक अशुभ है

और दूसरा शुभ है इतना ही अन्तर है। परन्तु हैं तो दोनों विषय ही; एक अब्रह्म के ही वे दो प्रकार हैं।

मेरे असंग चैतन्य तत्व को किसी परद्रव्य का संग किंचित् भी नहीं है। पर द्रव्य के संग से मुझमें सुख नहीं है परन्तु परद्रव्य के संग बिना ही मेरे स्वभाव से मेरा सुख है। इस प्रकार जिस जीव ने अपने अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव की रुचि और लक्ष किया है, तथा सर्व इन्द्रिय विषयों की रुचि छोड़ी है वह भव्य जीव यथार्थ आत्मजीवन—ब्रह्मजीवन जीता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा भगवान के समान है—ऐसा ज्ञानी कहते हैं।

यह शरीर तो काष्ठ की पुतली के समान जड़ है और चैतन्यमूर्ति आत्मा उससे पृथक् है—ऐसा जाने, अर्थात् शरीर और आत्मा का भेदज्ञान करे उसे भगवान समान कहा जाता है। दूसरों का सुन्दर शरीर देखने के कारण से उसे किंचित् विकार नहीं होता। इससे उसमें आत्मा के लक्ष से ही ब्रह्मचर्य पालन करने का आया। इसके सिवाय शरीर के लक्ष से शुभभावरूप ब्रह्मचर्य रखे और विषय की इच्छा न करे वह पुण्यबंध का कारण है, परन्तु मात्र ऐसा शुभभावरूप ब्रह्मचर्य पालन करने वाले को भगवान समान नहीं कहा है।

इस प्रकार वास्तव में, आत्मस्वभाव की रुचि के साथ ही ब्रह्मचर्यादि सर्व गुणों के बीज पड़े हैं, और जैसे-जैसे उस रुचि का विकास होता जाता है, वैसे ही वैसे आत्मिक ब्रह्मचर्य, अहिंसादि गुण भी विकसित होते जाते हैं,। इसलिये सच्चा ब्रह्मचर्य जीवन जीने के अभिलाषी जीवों का प्रथम कर्तव्य यह है कि—सर्व परविषयों से रहित और अतीन्द्रिय सुख से परिपूर्ण—ऐसे अपने आत्मस्वभाव की रुचि करना, उसका लक्ष करना और उसका अनुभव करके उसमें तन्मय होने का प्रयत्न करना।

इस प्रकार से ब्रह्मचर्य जीवन जीने वाला अवश्य "परमब्रह्म" हो जाता है।

निकट भव्य और अभव्य

[श्री प्रवचनसार गाथा ६२ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के व्याख्यानों का सार]

सुख का साधनभूत परिपूर्ण ज्ञान ही है.-ऐसा बतलाकर अब ऐसी श्रद्धा कराते हैं कि केवलियों को ही पारमार्थिक सुख होता है:-

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु
परम त्ति विगदघादीणं।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा
वा तं पडिच्छन्ति ॥६२॥

(गुजराती हरिगीत)

सुणी 'घातिकर्मविहीननुं
सुख सौ सुखे उत्कृष्ट छे',
श्रद्धे न तेह अभव्य छे, ने
भव्य ते संमत करे।६२।

अर्थः—जिसके घातिकर्म नष्ट हो गये हैं उनका सुख सर्व सुखों में परम अर्थात् उत्कृष्ट है'-ऐसा वचन सुनकर जो उसकी श्रद्धा नहीं करते वे अभव्य हैं और भव्य उसका स्वीकार (आदर, श्रद्धा) करता है।

केवली भगवन्तों के सम्पूर्ण ज्ञान होता है, इससे उनके ही पारमार्थिक सुख होता है। अज्ञानी को तो सुख होता ही नहीं और ज्ञानी धर्मात्मा मुनि को भी पूर्ण पारमार्थिक सुख नहीं होता, क्योंकि सुख का साधनरूप पूर्णज्ञान उनके नहीं है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि-भगवान केवलज्ञानियों के ही परिपूर्ण सुख है-ऐसा हम अल्पकाल में भगवान होने वाले कहते हैं; उसे सुनकर प्रसन्न होकर यदि स्वीकार करे तो तू निकट भव्य है. और यदि तू हमारे समक्ष इन्कार करे तो तू अभव्य है; तुझे मोक्ष सुख की रुचि नहीं है। हम अल्पकाल में सिद्ध होनेवाले हैं. और हमारे समक्ष ही हमारा विरोध करनेवाले अभव्य हैं। इसमें स्वतः की श्रद्धा की विशेष-विशेष शुद्धता का बल है। हम परिपूर्ण आत्मस्वभाव का वर्णन करते हैं और उस समय तू स्वभाव का अस्वीकार करता है तो तू अपात्र है-अभव्य है। कदाचित् हम तीर्थंकर-केवली हुए तो ऐसा अस्वीकार करनेवाला जीव हमारे समवसरण में नहीं होता-ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

केवलज्ञानी जीवों के सम्पूर्ण सुख होता है और वह सुख समस्त

सुखों में उत्कृष्ट है। लौकिक सुख तो सच्चा-सुख है ही नहीं, परन्तु गणधर-मुनिवरों के जो सच्चा सुख होता है वह अल्प है, उसकी अपेक्षा केवलज्ञानियों का सुख परम उत्कृष्ट है-ऐसी बात सुनकर जो उसका स्वीकार करता है वह तो निकटभव्य है, और जो अस्वीकार करता है वह अभव्य है। भले ही वह जीव कदाचित् त्रिकाल अभव्य न हो परन्तु वर्तमान में तो वह अभव्य है ही। यहाँ कहा है कि—'सुनकर' अस्वीकार करता है वह अभव्य है—अर्थात् जहाँतक तेरे सुनने में ऐसा न आया कि "इन्द्रियविषयों में सुख नहीं है, परन्तु अतीन्द्रिय केवलज्ञानी ही सम्पूर्ण सुखी है" वहाँतक तो तूने केवली भगवान के सुख की श्रद्धा नहीं की, परन्तु अब यह बात सुनने पर भी यदि तू श्रद्धा न करे तो तू अभव्य है। और यह सुनते ही 'केवलज्ञान ही पारमार्थिक सुख है, इन्द्रिय सुख है वह सुख नहीं है' इस प्रकार रुचिपूर्वक उसकी श्रद्धा करता है वह जीव निकट भव्य है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। ज्ञान परिपूर्ण परिणमित हो वही पूर्ण सुख है। जिनके पूर्ण ज्ञानस्वभाव प्रगट होगया है, उनके किंचित् भी स्वभाव-प्रतिघात न होने से आकुलता का अभाव है और इससे उनके किंचित् दुःख नहीं होता। इसलिये केवलज्ञानी भगवान स्वभाव से ही सुखी हैं, इससे उनके आहारादि नहीं होते।

जिसे आत्मा के ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है वह अज्ञानी जीव विकार भावों में और इन्द्रिय-विषयों में सुख मान रहा है, परन्तु उसमें तो ज्ञानस्वभाव का हनन होने से दुःख ही है। अज्ञानी जीव ज्ञानरूप परिणमित नहीं होता परन्तु मोहरूप परिणमित होता है, वह मोहजाल में उलझा हुआ है, स्वतः अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर अज्ञानरूप हुआ है, इससे उसकी पर्याय में स्वभाव का घात है और आकुलता है, इससे वह जीव दुखी ही है—उसे किंचित् मात्र पारमार्थिक सुख नहीं है।

जितना ज्ञानस्वभाव का परिणमन उतना ही सच्चा सुख है। ज्ञान के अतिरिक्त पुण्यभाव में, इन्द्रपद में, पैसे में, स्त्री में, राजपद में कहीं भी सुख नहीं है, मात्र सुखाभास है—सुख की कल्पना मात्र है। जब, पुण्य में अथवा उसके

फल में भी सुख नहीं है तब, पाप में तो सुख होगा ही कहाँ से ? पुण्य में सुख नहीं है परन्तु अज्ञानी को सुखाभास होता है। ऐसा होने पर भी पुण्य और उसके फलरूप इन्द्रिय विषयों में सुख कहने की अपारमार्थिक रूढ़ि है—मिथ्या रूढ़ि है। राजामहाराजाओं को अथवा देवों को बाह्य पुण्यफल के कारण सुखी कहने की जो रूढ़ि है वह मिथ्या है, अर्थात उन्हें सुखी कहा जाता है परन्तु उनके पारमार्थिक सुख नहीं है। उन्हें पूर्णज्ञान न होने से वे भी दुःखी हैं, तथापि सुखी कहने की मिथ्या रूढ़ि है।

इन्द्रिय विषयों में सुख कहने की जो यह मिथ्यारूढ़ि है उससे विपरीत देखें तो, महामुनि धर्मात्मा-आत्मस्वरूप की लीनता में स्थित हों और बाह्य में परिषह आये—सिंह आकर शरीर को खाये जा रहा हो—उससे मुनि दुखी हैं—ऐसा कहना सो अपारमार्थिक रूढ़ि है, क्योंकि वास्तव में मुनि को दुख नहीं है किन्तु वे तो अन्तर स्वभाव की लीनता से अनाकुल आनन्दरूप सुख को ही भोगते हैं। इससे यहाँ ऐसा बताया है कि इन्द्रिय-विषयों की अनुकूलता में सुख नहीं है, परन्तु ज्ञानस्वरूप परिणमित होना सो सुख है।

'भगवान को अनेक प्रकार के परिषह आये और भारी कष्ट सहना पड़ा, अथवा-मुनि-संत भारी दुःखों का सेवन करते हैं'—ऐसा कहना सो वह सब कथन अपरमार्थ है; यथार्थ नहीं है। बाह्य के प्रतिकूल संयोगों को देखकर जीव को दुःखी कहना और अनुकूल संयोग देखकर उसे सुखी कहना वो बिलकुल मिथ्या है। यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं कि जैसे केवली भगवान स्वतः ही सम्पूर्ण ज्ञानमय हो गये हैं इससे वे सम्पूर्ण सुखी हैं, वैसे ही सभी जीवों को अपना ज्ञानस्वभाव ही सुख का कारण है, विषयों का—संयोगों का सुख किसी जीव को नहीं है। प्रतिकूल संयोगों का मुनि को दुःख नहीं है, मुनि तो अपने स्वभाव के सहज आनन्दरस में मग्न हैं, वे संयोग के ओर की आकुलता का अनुभव नहीं करते परन्तु चैतन्य मूर्ति स्वरूप में परिणमित होकर जो अनाकुल आनन्द का स्रोत बहता है उसका संत-मुनि अनुभव करते हैं। धर्म दुःख-दायक नहीं किन्तु सुखदायी है,

वर्तमान में वह सुखरूप है और उसके फल में पूर्णानन्द दशा प्रगट होती है। यह सुनकर जो जीव ऐसा समझ जाता है कि सच्चा सुख आत्मा के ज्ञान स्वभाव में है; इन्द्रियाधीन ज्ञान में अथवा बाह्य विषयों में आत्मा का सुख नहीं है; उसके इन्द्रिय विषयों में सुख-बुद्धि दूर होजाती है और ज्ञान स्वभाव की रुचि होती है, वह जीव निकट भव्य है—ऐसा श्री आचार्यदेव कहते हैं।

घानी में पिलकर मुनियों का चकनाचूर हो गया और अपार दुःख सहा—ऐसा रूढ़ि से कहा जाता है, परन्तु वैसा वस्तु स्वरूप नहीं है। आत्मा तो चैतन्य स्वरूप अरूपी है; फिर घानी में कौन पिलाता है? शरीर का चूरा हो गया तो उसमें आत्मा को क्या? जिस प्रकार नारियल में से गोला पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार धर्मात्मा मुनि तो देह से पृथक् चैतन्य पिण्ड के सहजानन्द का अनुभव कर रहे हैं, घानी के संयोग का किंचित् दुःख उनके नहीं है।

आत्मा का स्वभाव सम्पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा है। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को किंचित् भी पर का कर्ता माने अथवा विकाररूप माने तो ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का अभाव होता है और आकुलता की उत्पत्ति होती है—वही दुःख है। मैं तो ज्ञाता-दृष्टा ही हूं, राग का अंश भी मेरा नहीं है, मैं किसी पर का कर्ता नहीं हूँ ऐसा अपने स्वभाव का भान करके राग-द्वेष रहित होकर ज्ञान में ज्ञान स्थिर हुआ कि वहाँ ज्ञानस्वभाव प्रगट हुआ। जितने अंश में राग से पृथक् होकर ज्ञान, ज्ञानस्वभाव में परिणमित होता है उतने अंश में स्वभाव का घात नहीं होता, इससे अनाकुलता की उत्पत्ति है और वही सुख है। केवली भगवान को परिपूर्ण ज्ञानमय परिणमन है और स्वभाव का प्रतिघात किंचित् नहीं है इससे वे केवलज्ञान द्वारा परिपूर्ण सुखी हैं।

भगवान को समवसरण के कारण सुख नहीं है, सुंदर शरीर के कारण सुख नहीं है इन्द्र पूजते हैं उसका भी सुख नहीं है परन्तु स्वभाव-प्रतिघात का अभाव है अर्थात् ज्ञान परिपूर्ण परिणमित होता है इससे उन्हें पारमार्थिक सुख है। उस सुख का लक्षण अनाकुलता है,

अनुकूल संयोग कहीं सुख का लक्षण नहीं है और प्रतिकूल संयोग दुःख का लक्षण नहीं है परन्तु अनाकुलता सुख का लक्षण है और आकुलता दुःख का लक्षण है; ज्ञान स्वभाव सुखमय है। ज्ञान स्वभावरूप परिणमन सो सुख है, और ज्ञान परिणमन में जितनी अपूर्णता हो उतना सुख अपूर्ण है। बहुत सम्पत्ति हो तो सुखी ऐसा नहीं है, पैसे के और की आकुलता वह दुःख ही है।

केवली भगवान सम्पूर्ण ज्ञान रूप ही होगये हैं; इससे उनके ज्ञान स्वभाव का घात नहीं है और आकुलता भी किंचित् नहीं है ऐसा सहर्ष मानने योग्य है। परन्तु भगवान को रोग हुआ और दवा कराई तथा खुराक ली ऐसा कभी मानने योग्य नहीं है। भगवान को केवलज्ञान का परिपूर्ण सुख है, वे स्वतः परमानन्दरूप हो गये हैं, उनके रोग नहीं है, दवा नहीं, अशन नहीं है ऐसा बराबर मानने योग्य है।

अब श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव सत की जोरदार घोषणा करते हैं:— भगवान को स्वभाव से ही परमार्थिक सुख का अनुभव है—ऐसा श्रद्धान जो नहीं करते हैं वे मोक्षरूपी सुधापान से दूरवर्ती अभव्य हैं। केवली भगवान तो आत्मा के मोक्षरूपी अनाकुल पूर्ण सुख का सुधापान कर रहे हैं; वैसा भगवान का स्वरूप जो नहीं मानते, अर्थात् आत्मा को अपने स्वभाव से ही, सुख है—ऐसा जो नहीं मानते वे जीव स्वतः मोक्ष सुख का सुधापान प्राप्त नहीं करेंगे, अर्थात वे मोक्ष सुख से सदैव दूर रहने वाले अभव्य हैं। उन्हें आत्मा के स्वाधीन सुख की श्रद्धा नहीं है और विषयों में सुख प्राप्त करना चाहते हैं; इससे वे जीव मृगतृष्णा की भांति आकुलता का ही अनुभव करते हैं। जिस प्रकार मृग, जलरहित भूमि में जल की कल्पना करके उस ओर दौड़ता है और आकुलव्याकुल होकर दुःखानुभव ही करता है, वैसे ही अज्ञानी अभव्यजीव श्री भगवान के पारमार्थिक अतीन्द्रिय सुख को स्वीकार नहीं करते और परविषयों में से आत्मा को सुख प्राप्त होता है—ऐसा मानकर विषयों में लीन होते हैं; वे सदैव आकुलतामय दुःख को ही भोगते रहते हैं; विषयों से पार आत्मा के अनाकुल सुख का उनको स्पर्श भी नहीं है। और जो जीव भगवान

के अतीन्द्रिय सुख का तुरन्त ही स्वीकार करते हैं उन जीवों की विषयों में से सुखबुद्धि टल जाती है और उनका ज्ञान विषयों से हट-कर अपने अतीन्द्रिय स्वभाव में परिणमित होता है, आत्मा के पारमार्थिक सुख का वे अंशतः अनुभव करते हैं और वे निकट भव्य हैं। स्वभाव का स्वीकार करनेवाले निकट भव्य और अस्वीकार करने वाले अभव्य—इस प्रकार आचार्यदेव ने दो भाग कर दिये हैं।

अहो! केवलज्ञानदशा में, किसी भी अन्य पदार्थ की अपेक्षा के बिना आत्मा स्वतः ही पूर्ण सुखी है, वहां किंचित् भी आकुलता का सद्भाव नहीं है, आत्मा ही पूर्ण आनन्द और ज्ञान स्वरूप होगया है। मेरा आत्मा भी ज्ञानानंद स्वभाव वाला है, मेरे आत्मा को ज्ञान और आनन्द के लिये किन्हीं पदार्थों की अपेक्षा नहीं है। जिस प्रकार केवली भगवान मात्र ज्ञानरूप ही परिणमित होते हैं, रागरूप परिणमित नहीं होते, वैसे ही मेरा स्वभाव भी उसी प्रकार का है, केवली जितना ही मेरा ज्ञान स्वभाव है, जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं उन रूप में परिणमित नहीं होता, परन्तु ज्ञान स्वभावरूप ही परिणमित होता हूँ। इसप्रकार केवलीभगवान के पारमार्थिक सुख की प्रतीति करने में अपने आत्म स्वभाव की प्रतीति भी आजाती है; इसलिये वह जीव वर्तमान में ही मोक्ष लक्ष्मी का भाजन होगया है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि, परिपूर्ण ज्ञान स्वभावरूप रहनेवाले केवली भगवन्तों को परिपूर्ण सुख है—ऐसा वचन सुनकर जो तत्काल उसका स्वीकार करते हैं वे मोक्ष लक्ष्मी के भाजन निकट भव्य हैं। और इसे सुनकर जो जीव सीधा इन्कार करते हैं वे अभव्य हैं। स्वभाव के सुख की बात सुनते ही जिसके अन्तर में जम जाती है और उत्साह से स्वीकार करता है वह निकट भव्य है।

स्वीकार करनेवाले के अन्तर में कितना उत्तरदायित्व है? 'आत्मा की केवलज्ञान दशा में ही पारमार्थिक सुख है'—इतना यथार्थ स्वीकार किया उस जीव को स्वभाव सुख का आदर हुआ और पाँच इन्द्रियों के विषयों में सुख की मान्यता हट गई। शरीर में सुख नहीं है, संयोग में सुख नहीं है, शुभभाव में भी सुख नहीं है, इन सबसे

पृथक् मात्र आत्मस्वभाव, मैं ही सुख है—ऐसा आत्मस्वभाव का ही स्वीकार हो गया, इससे वह जीव निकट मोक्षगामी है

'जो इस वचन का तत्काल स्वीकार करते हैं वे निकट भव्य हैं'—ऐसा कहकर यहाँ उपादान-निमित्त की संधि बताई है। आचार्य भगवान कहते हैं कि हम स्वतः अल्पकाल में मोक्ष जानेवाले हैं, जो हमारे वचनों को अर्थात् वचनों में जो भाव कहने का आशय है उस भाव को समझकर उसी समय उसका स्वीकार करते हैं वे जीव भी शिवश्री के (मोक्ष लक्ष्मी के) पात्र हैं। हम निकट मोक्षगामी निमित्त-रूप हैं, और हमारे निमित्त से जिस जीव ने स्वभाव का सत्कार किया है उस जीव का उपादान भी अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यतावाला है।

हे जीव! एक ही भव में मोक्ष प्राप्त करने वाले धर्मात्मा की सत् का समर्थन करती हुई वाणी को निमित्तरूप से सुनकर यदि तुझे तत्काल उल्लास पूर्वक अन्तर से 'हाँ' आई तो निमित्त और उपादान के भाव में एकता हुई अर्थात् जिस प्रकार निमित्तरूप वाणी सुनानेवाले अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं उसी प्रकार उसकी 'हाँ' कहनेवाला तू भी मोक्ष प्राप्ति के लिये ही चला आरहा है; और तुझे निकट मुक्तिगामी जीव की वाणी निमित्त-रूप प्राप्त हुई है और इस परम सत्वाणी का यदि तू अस्वीकार करे तो तू निकट निगोदगामी है। हम जोर-शोर से कहते हैं कि केवली भगवान को पारमार्थिक सुख है, उन्हें किंचित् खेद या आकुलता नहीं है—इस बात की तुझे यदि निःशंकता होगई तो तू भी निकट मुक्तिगामी है। परन्तु यदि उसमें किंचित् शंका पड़ी तो तू दूर भव्य है।

श्री कुन्दकुन्द भगवान भव्य जीवों को मोक्ष के लिये आमंत्रण देते हैं; हमारे आंगन में मोक्षदशा की रसोई तैयार होगई है, हम तुझसे जो कह रहे हैं, उसका स्वीकार कर, तो तू मोक्षदशा की थाली पर बैठा है, थाली पर बैठने के पश्चात् मोक्षदशा का भोजन आते देर नहीं लगेगी। अरे! आ तो सही! हाँ तो कह! आत्मा के स्वभाव सुख का स्वीकार तो कर! अहा! आत्मा के स्वभाव सुख का कौन अस्वीकार करता है? अभव्य जीव हो वह

'ना' कहता है। आसन्न भव्य जीव तो उल्लास से स्वीकार करता है।

श्री कुंदकुंद भगवान ने निकट मुक्तिगामी भव्य और अभव्य ऐसे दो ही भाग किये हैं, वर्तमान में 'हाँ' कहता है वह निकट मुक्तिगामी भव्य है, और वर्तमान में 'ना' कहता है वह अभव्य है। इस समय 'ना' कहता है किन्तु भविष्य में 'हाँ' कहेगा—ऐसे जीव को अभव्य से भिन्न स्वीकार नहीं किया है। हम साक्षात् कह रहे हैं तब—तू हमारे समक्ष ही 'ना' कहता है, तो हमारे समक्ष तो तू अभव्य ही है, भविष्य में 'हाँ' कहेगा उसका स्वीकार हम इस समय नहीं करते हैं।

टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने तीन भाग किये हैं। केवली भगवान को एकान्त सुख है-ऐसा सुनकर जो तत्काल 'हाँ' कहकर उसे स्वीकार करता है वह आसन्न भव्य है, जो भविष्य में उसका स्वीकार करेंगे वे दूर भव्य हैं, और जो कभी भी स्वीकार नहीं करते वे अभव्य हैं।

आत्मा की स्वाभाविक ज्ञान दशा में सुख है, और ज्ञान बाह्य विषयों में भटके वह दुःख है। इन्द्रिय के किसी भी विषय में सुख है ही नहीं। पुण्य के फल में सुख मानने की अज्ञानी की रीति है, परन्तु उसमें दुःख ही है। ज्ञान में पर को जानने की या भोगने की वृत्ति हो वह दुःख है, किन्तु विषयों में ही एकतावुद्धि होने से अज्ञानी को वह दुःख प्रतिभासित नहीं होता। ज्ञान, ज्ञानरूप स्थिर न रह कर चंचल होकर विषयों की ओर झुकता है—वह दुःख है। जिस प्रकार सदैव पानी में रहने वाली मछली यदि किनारे पर रेती में आ गिरे तो उसे दुःख होता है, तब फिर जीवित मछली को अग्नि में गिरने पर कितना दुःख होगा? उसी प्रकार इस आत्मा का स्वभाव अनाकुल, परमामृतमय शांत ज्ञानस्वरूप में रहने का है, उसमें से हटकर शुभभाव में आना भी दुःखदायक है और अशुभ भावों में तो अंगारों जैसा दुःख है। अज्ञानी जीव को विषय रहित चैतन्य स्वभाव का सुख भासित नहीं होता, इससे विषयों के ओर की शुभाशुभ वृत्तियों में उसे दुःख भासित नहीं होता। धर्मी जीव को शुभाशुभ दोनों में दुःख भासित होता है। शुभ होता है वह भी ज्ञानस्वरूप के बाहर निकलकर होता है, उसमें भी आकु-

छता ही है। केवली भगवान की भाँति सम्पूर्ण ज्ञानमय परिणमित होना ही सुख है। शुभाशुभ राग होने पर भी जिसे ऐसी श्रद्धा है वह जीव आसन्न भव्य है।

मछली की रुचि पानी में है, उसे पानी का ही परिचय है, इससे पानी के बाहर निकलने से उसे दुःख होता है; वैसे ही ज्ञानी-धर्मात्मा जीवों की रुचि निराकुल ज्ञान स्वरूप में ही है। ज्ञान स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव के परिचय में उन्हें दुःख लगता है। ज्ञानस्वरूप में से बाहर आकर शुभराग होता है उसमें आकुलता है—सुख नहीं है। जितना शुभराग होता है उतना ज्ञान का परिणमन रुकता है—स्वभाव का घात होता है, वह दुःख का कारण है। जो अशुभभाव होता है उसमें बहुत दुःख है। परन्तु ज्ञानी धर्मात्मा जीवों को अपने चैतन्य स्वरूप का और विकार का भेदज्ञान है, चैतन्य भावरूप ही परिणमित होने की उनकी भावना है, इससे परमार्थ से वे रागरूप परिणमित नहीं होते, परन्तु ज्ञान-रूप ही परिणमित होते हैं। जितना ज्ञानरूप परिणमन है उतना ही सच्चा सुख है और ज्ञान परिणमन में जितनी कचास है उतना पारमार्थिक सुख का अभाव है। जिस प्रकार मछली को बाहर निकालो तो कूदकर फिर से पानी में गिरती है, उसी प्रकार धर्मात्मा शुभअशुभ का निषेध करके ज्ञान स्वरूप में ही परिणमित होते हैं। बाह्य विषयों से पीछे हटकर स्वरूप में ही झुकाते हैं पुनः-पुनः स्वरूप में ही एकाग्रता का अभ्यास करते हैं। अज्ञानी जीव तो विषयों में सुख मानकर उन्हीं में लीन रहते हैं; क्षण-क्षण में ज्ञान को नये-नये विषयों में घुमाते हैं और उससे आकुलता का ही वेदन करते हैं। ज्ञान स्वरूप में परिणमन करने वाले केवली भगवान एकान्त सुखी हैं और ज्ञान को भूलकर बाह्य पदार्थों में सुख की कल्पना करके परिणमित होने वाले अज्ञानी जीव एकान्त दुःखी हैं।

केवलज्ञानी प्रभु शुभ-अशुभ से हटकर और समस्त बाह्य विषयों से हटकर अपने शांत शीतल स्वभाव में ही डूब गये हैं, वे स्वरूप से बाहर बिलकुल नहीं निकलते वे सम्पूर्ण सुखी हैं, ऐसा ही पारमार्थिक सुख मुझे उपादेय है—ऐसा साधक ज्ञानी जानते हैं।

अहो! जिस भाव से तीर्थङ्कर

नामकर्म बंधता है वह भाव भी आकुलतामय दुःखदायी है। मेरे स्वरूप का घात हुआ तो शुभ भावना उत्पन्न हुई। अरेरे, पूरा ज्ञान परिणमन नहीं, वीतरागता नहीं पुरुषार्थ की दुर्बलता के कारण शुभ भावना हो जाती है, और वह मुझे सुखदाई है। अकेले ज्ञानघन से पूरा-पूरा परिणमन होते ही पूर्ण पारमार्थिक सुख होता है। इस तरह ज्ञानी की स्वरूप के प्रति ही रुचि है और शुभ में हेय बुद्धि है। जिसे शुभभाव की लगन हो और उसी में सुख ज्ञान होता हो वह जीव केवली भगवान के पारमार्थिक सुख को स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि केवली भगवान का स्वरूप तो शुभभाव से रहित है। स्वरूप के बाहर निकल कर शुभभाव में रहना पड़े तो ज्ञानी छटपटाने लगता है, स्वरूप की पूर्णता के लिये तड़पता है।

जिस तरह पानी का ज्वार आता और उतर जाता है और उसमें कुछ मछलियाँ किनारे की मिट्टी में रह जाती हैं और तड़पती हैं कि पानी! पानी! पानी से विलग होकर मिट्टी में रहना उनके लिए दुःखदाई है। उसी तरह चैतन्य स्वरूप की शुद्धता के अनुभव का ज्वार आकर उतर जाय और शुभ अशुभभाव तथा इन्द्रिय विषयों में फँस कर रहना पड़े तो ज्ञानीजन शुद्ध स्वभाव के अनुभव के लिए व्यग्र हो उठते हैं। अरे, कहाँ मेरे चैतन्यमय परिणमन का निराकुल आनन्द और कहाँ यह आकुलता? मेरा निराकुल आत्म आनन्द ही सुखदाई है और यह राग तो दुःखदायी है। अज्ञानी जीव तो विषयों की ओर के रस को सुख ही मानता है, विषयों का अपेक्षारहित ज्ञान स्वभाव का सुख वह स्वीकार नहीं करता—यहीं श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा वह जीव अभव्य है।

अज्ञानी जीव यह भूल जाते हैं कि सुख आत्मा में है और अच्छा भोजन, वस्त्र, पैसा, स्त्री आदि में सुख मानते है; परन्तु सच्चा सुख उनमें नहीं उनकी ओर के लक्ष में तो दुःख ही है। केवली भगवान भोजन, वस्त्र, पैसा आदि से रहित स्वयं ही ज्ञान स्वरूप में एकाग्र सुखी हैं, परमार्थी सुख उन्हीं को है। उनका पूरा-पूरा-सम्पूर्ण ज्ञानमय परिणमन हो जानेसे एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय पर उपयोग घूमता नहीं। ज्ञान जैसा का वैसा एकरूप और

निश्चल रहता हुआ सब को जानता है. इससे उन्हें आकुलता नहीं होती। ऐसे परमार्थ सुखमय ज्ञान स्वभाव को जो जीव अन्तर से स्वीकार करता है वह निकट भव्य है।

इसे कब स्वीकृत किया कहा जायगा कि केवली भगवान को अपनी आत्मा से ही पारमार्थिक सुख है। प्रथम तो यह कि जिस प्रकार भगवान किसी भी पर पदार्थ के बिना ही सुखी हैं उसी प्रकार मेरी आत्मा को भी सुख के लिए किसी पर द्रव्य की अपेक्षा नहीं। भगवान जिस प्रकार शुभाशुभभाव के बिना भी सुखी हैं उसी तरह यदि मेरी आत्मा में शुभाशुभभाव उदित हों तो वह मेरा स्वरूप नहीं, मेरे लिए आदरणीय नहीं। भगवान के पुण्य-पापभाव होते ही नहीं, अकेला ज्ञान ही होता है, इसी लिए वह सुखी हैं मुझे तो पुण्य-पापभाव होते हैं उनसे मेरा ज्ञान भिन्न है, पुण्य-पापभाव मेरी आत्मा के सुख का कारण नहीं इसलिए वे हेयरूप हैं। इस प्रकार शुभाशुभभाव रहित अकेले ज्ञानपन की ही परिणमता होने से केवली भगवान पारमार्थिक सुखी हैं उसी प्रकार मैं भी अकेला ज्ञान स्वभावरूप हूँ, दूसरे भाव मेरा स्वरूप नहीं, अकेले ज्ञान स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और उसमें रमणता वही मेरे पारमार्थिक सुख का कारण है—इस प्रकार जो प्रसन्न मन से अभी ही स्वीकार करते हैं, वे थोड़े समय में मुक्ति पाने वाले आसन्नभव्य हैं। लेकिन जो अभी तत्काल ही स्वीकार नहीं करते और अनन्तकाल तक भटकने के बाद स्वीकार करेंगे वे जीव दुर-भव्य है। जो कभी स्वीकार करते ही नहीं उनकी तो बात ही क्या की जाय ?

'केवली प्रभु का राग रहित परमार्थ सुख है' इसे जो आत्मा वर्तमान में ही मान लेता है उसका परिणमन वर्तमान में ही अपने राग रहित स्वभाव को स्वीकार करता है। जिसने केवली भगवान के पारमार्थिक सुख को माना उसने सचमुच तो यह स्वीकार किया है कि मेरी आत्मा का सुख विषयों में नहीं, राग में नहीं, अधूरे परिणमन में नहीं, परन्तु पूर्ण स्वभाव में है। उसकी परिणति स्वीकार करती है कि राग मैं नहीं, मैं तो शुद्ध ज्ञान हूँ। इसलिए जिसका परिणमन राग से और पर से हटकर अपने चैतन्य स्वभाव की ओर मुड़ा वह

वर्तमान सम्यग्दृष्टि है और अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करने वाला है। जो जीव आगत पर ऐसी श्रद्धा करेगा वह दुरभव्य है। यहाँ तो वर्तमान में धर्मात्मा सन्त के मुँह से सुनते ही तत्काल प्रसन्न होकर मान ले—ऐसे निकटभव्य जीव की ही बात कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कही है। वर्तमान में साक्षात श्रवण कर के भी जो नहीं मानता उस जीव की बात ही नहीं कही गई है।

कोई जीव चैतन्य स्वभाव की बात सुनकर यों कहे कि यह बात अच्छी है लेकिन मैं बाद में समझूँगा, अभी नहीं तो उस जीव की बात झूठी है। वास्तव में उसने चैतन्य के पारमार्थिक सुख को माना नहीं। यदि चैतन्य के पारमार्थिक सुख की बात उसे अच्छी लगी हो तो उत्साह से अभी ही उसे स्वीकार करना चाहिये। उसके लिए एक क्षणभर की भी देर नहीं होनी चाहिये। बात अच्छी है लेकिन अभी उसे मानना नहीं है—ऐसा जो कहे उसकी बात गलत है, उसे चैतन्य के सुख की अपेक्षा दूसरा कुछ अच्छा लगता है इसलिए वह चैतन्य से श्रद्धा करने के लिए समय माँगता है। यदि केवली भगवान की आत्मा के पारमार्थिक सुख के प्रति सचमुच में रुचि पैदा हुई है तो वर्तमान में ही उत्साहपूर्वक उसके लिए अभिलाषा होती है कि अभी ऐसे पूर्ण पारमार्थिक सुख की प्राप्ति करूँ। लेकिन तुझे आत्मा के पारमार्थिक सुख की रुचि ही नहीं इसलिये मन में से नकार उठता है। तुझे तो विषयों में सुख बुद्धि है।

श्री आचार्य भगवान एक ही भव में मुक्ति प्राप्त करनेवाले हैं इसलिये उग्र पुरुषार्थ से केवलज्ञानी के पारमार्थिक सुख का प्रतिपादन करते हैं, जो जीव यह सुनकर आनन्द से 'हाँ' कहता है वह आसन्नभव्य है; उसे आत्मा का केवलज्ञानस्वभाव रुचिकर लगा है, वह भी अल्पकाल में पूर्ण राग रहित होकर सुखी होगा। जिस प्रकार छह बैलों को एक साथ चक्कर में फिराने पर पहले दो बैल छोटा चक्कर, बाद के दो बड़ा चक्कर और अन्त के दो सबसे बड़ा चक्कर लगाते हैं, परन्तु चक्कर उन सभी को लगाना पड़ता है और वे सब घूमकर चक्कर पूरा करते हैं, उसी प्रकार जो जीव आत्मा के पारमार्थिक स्वभाव की

श्रद्धा और रुचि करते हैं वे सभी जीव संसार चक्र को पूरा करनेवाले हैं। कुन्दकुन्द भगवान ज्ञान और सुखस्वरूप चैतन्यस्वभाव की बात करते हैं और उसी को 'हाँ' कहकर जो मानते हैं वे सभी जीव मुक्ति को प्राप्त होनेवाले हैं कोई कुन्दकुन्द भगवान की तरह एक भव में, कोई दो भव में और कोई तीन भव में। स्वभाव का आदर करनेवाले सभी जीव निकट भव्य हैं। 'हाँ' कहनेवाले जीवों को साथ रखकर निमित्त उपादान को साथ ही रखा है।

एक समय का ज्ञान होता है?

[रात्रि चर्चा में से]

छद्मस्थ जीव को ज्ञान का उपयोग असंख्यात समय का है, और राग की परिणति प्रत्येक समय की है। असंख्य समय का उपयोग एक समय की परिणति को नहीं पकड़ सकता।

(२) एक समय की पर्याय को पकड़ने जाने से, वह समय तो नहीं पकड़ाता, परन्तु पर्याय को धारण करनेवाले त्रिकाली द्रव्य की प्रतीति होती है और उस द्रव्य के आश्रय से केवलज्ञान होने पर वह प्रत्येक समय की पर्याय को भी जानता है।

(३) छद्मस्थ जीव को ज्ञान उपयोग में एक समय की परिणति ही पकड़ में नहीं आती, तो फिर परवस्तु का ग्रहण-त्याग तो कहाँ रहा?

(४) श्रद्धा की परिणति एक समय में सम्पूर्ण द्रव्य को स्वीकार करती है। परन्तु उस श्रद्धा की परिणति असंख्य समय ज्ञान के उपयोग में आती है। श्रद्धा ने जिसे विषय किया है उस द्रव्य स्वभाव के आश्रय से ज्ञान का उपयोग सूक्ष्म होते-होते ऐसा हो जाता है कि वह एक समय को पकड़ता है—केवलज्ञान होता है। और तब प्रतीति (श्रद्धा) की निर्मलता के अविभाग प्रतिच्छेद भी बढ़ जाते हैं और उसे परमावगाढ़ श्रद्धा कहा जाता है।

(५) 'आत्मा' शब्द में एक 'आ' अनन्त पुद्गल का स्कन्ध

है। 'आ' ऐसा बोला जाता है कि उसमें असंख्य समय चला जाता है, और उस पुद्गल स्कन्ध की असंख्य पर्यायें पलट जाती हैं। जीव उन पर्यायों को तो जानता भी नहीं है, तो वह शब्दों को किस प्रकार परिणमित करेगा? उसी प्रकार हाथ चलता है तो वहां पुद्गल के अनन्त गुण एक साथ परिणमित हो रहे हैं, और प्रत्येक समय में उनका परिणमन होता है उन गुणों को या उनके प्रत्येक समय के परिणमन को जीव जान नहीं सकता तो उन्हें चलायेगा किस प्रकार? एक समय की अवस्था को जानने के लिये ज्ञान को लंबाने से वह ज्ञान त्रिकाली द्रव्य-गुण में अभेद होता है और द्रव्य की प्रतीति होती है, और उस द्रव्य के आश्रय से ज्ञान सूक्ष्म होने पर केवलज्ञान होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण स्व-पर प्रकाशक स्वभाव विकसित होजाने से ज्ञान के सामर्थ्य में स्व-पर सब कुछ एक साथ एक समय में होजाता है—ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। पर को जानने के लिये उस ज्ञान को पर लक्ष नहीं करना पड़ता।

(६) क्रियावती शक्ति के परिणमन में भी तारतम्यता होती है। जिस प्रकार क्षायोपशमिक ज्ञान का अमुक विकास और अमुक आवरण होता है, तथा आंख इत्यादि स्थान में रहते हुए अमुक प्रदेश में से ही उसका उपयोग होता है इस प्रकार आत्मा के अनेक गुणों मे विचित्रता है। वैसे ही आत्मा की क्रियावती शक्ति में भी विचित्रता है। आत्मा को क्रियावती शक्ति अनादि अनन्त है, उसकी पर्याय में अमुक प्रदेश चलते हैं और अमुक स्थिर रहते हैं—ऐसी विचित्रता होती है। जैसे कि किसी समय हाथ चलता हो तब उस हाथ के क्षेत्र के आत्मप्रदेश चलते हैं और बाकी के आत्म प्रदेश उसी समय स्थिर होते हैं—ऐसा क्रियावती शक्ति की पर्याय की तारतम्यता का स्वभाव है।

जीव के अनन्त गुणों का परिणमन प्रति समय होता रहता है। एक समय की पर्याय में चारित्र गुण रागरूप परिणमित हुआ, उसी समय श्रद्धा-ज्ञानादि गुण भी परिणमित होते हैं। परन्तु छद्मस्थ जीव के ज्ञान में एक समय का राग पकड़ में नहीं आता; छद्मस्थ का ज्ञान एक समय को ख्याल में नहीं ले

सकता। उसके ज्ञान का उपयोग इतना स्थूल है कि उस प्रकार का विकार असंख्य समय तक लंबा कर जब उसका स्थूलरूप हो तब असंख्य समय के स्थूल उपयोग द्वारा ज्ञान उसे जानता है। वहां राग की परिणति तो प्रत्येक समय में परिणमित होती है, और राग के साथ के ज्ञान का परिणमन तो प्रत्येक समय होता है परन्तु उस ज्ञान का उपयोग असंख्य समय का है। उस ज्ञान में एक समय परिणति कब ज्ञात होती है? वह राग के लक्ष से ज्ञात नहीं होती, परन्तु राग और अपूर्णता रहित त्रिकाल परिपूर्ण अपना स्वरूप है उस स्वरूप का विश्वास करके और उसमें अभेद होकर जब श्रद्धा पर्याय परिणमित हो तब 'प्रत्येक समय का परिणमन स्वतंत्र है, और उस प्रत्येक समय को जानने की ज्ञान की शक्ति है' ऐसा विश्वास प्रगट होता है। तथापि ज्ञान जहाँ तक पूर्ण अभेद होकर परिणमन न करे वहाँ तक वह ज्ञान प्रत्येक समय को नहीं जान सकेगा। श्रद्धा ने जिस परिपूर्ण स्वभाव का प्रतीति की, उस स्वभाव में ही अभेद होकर परिणमित होने से ज्ञान का उपयोग क्रमशः सूक्ष्म होने लगा और स्वभाव में पूर्ण लीन होनेपर प्रत्येक समय को जाने इतना सूक्ष्म ज्ञान (केवलज्ञान) होता है। पहले, स्वभाव में अभेद होने पर एक समय को जानने की प्रतीति हुई और पश्चात् स्वभाव के ही आश्रय से ज्ञान को निर्मलता होते होते, एक समय को जाने-ऐसी शक्ति प्रगट हुई। इस प्रकार प्रत्येक समय को जानने के लिये स्वभाव का आश्रय करना ही आया।

पहले पर की ओर का राग वाला जो उपयोग असंख्य समय तक लंबाने से स्थूल पर्याय को ही पकड़ सकता था; वह उपयोग स्वभाव में उन्मुख होकर उसमें अभेद हुआ, वहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय की अभेदता होने से एक-एक समय की पर्याय को सर्व प्रकार से जान सके-ऐसा परिपूर्ण ज्ञान सामर्थ्य प्रगट हुआ।

इसमें दो बातें की हैं-(१) प्रयेक समय की प्रतीति कब होती है और (२) प्रत्येक समय का पर्याय का ज्ञान कब होता है? (१) प्रथम, यदि वर्तमान प्रतीति त्रैकालिक द्रव्य में अभेद हो तो प्रत्येक समय की पर्याय की तारतम्यता की प्रतीति

होती है। ऐसी प्रतीति होने से सम्यग्ज्ञान हुआ, तथापि साधक का ज्ञान एकसमय को नहीं पकड़ सकता। (४) एक समय को ज्ञान कब पकड़ सकता है? श्रद्धा ने जिस स्वभाव की प्रतीति की है उस स्वभाव में ज्ञान जब परिपूर्ण लीन होता है तब उस स्वभाव के आश्रय से एक समय को पकड़े-ऐसा ज्ञान सामर्थ्य प्रगट होता है अर्थात् केवलज्ञान प्रगट होता है। इससे, एक समय की पर्याय को पकड़ना कहने से पर्याय के सम्मुख लक्ष करना नहीं रहता; किन्तु त्रिकाली द्रव्य-गुण में ही अभेद होना आता है। पर्याय के लक्ष से एक समय पकड़ में नहीं आता इसलिये एक समय को पकड़ना कहने से तो द्रव्य-गुण-पर्याय का अभेदत्व करना ही आता है।

जिस प्रकार एक समय के लक्ष से एक समय का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही एक समय की पर्याय के लक्ष से एक समय की प्रतीति नहीं होती; परन्तु त्रिकाली स्वभाव में प्रतीति पर्याय अभेद हो तब प्रत्येक समय की स्वतंत्रता की प्रतीति होती है। त्रिकाली स्वभाव की प्रतीति बिना एक समय की सच्ची प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार एक समय की पर्याय की स्वतंत्रता स्वीकार करने में भी प्रतीति का त्रिकाली द्रव्य में ही अभेद होना आता है, और एक समय का ज्ञान करने में भी त्रिकाली द्रव्य में ही उपयोग का अभेदत्व आता है।

× × ×

जीव द्रव्य है, उसमें अनन्त गुण हैं, उन सब गुणों का प्रति समय परिणमन होता है अर्थात् प्रत्येक समय में अनन्त पर्याय होती हैं। और वस्त्रादि जड़ पदार्थों में भी अनन्त गुण हैं, उनकी पर्याय प्रति समय बदलती है। उस प्रत्येक समय की पर्याय को छद्मस्थ जीव नहीं जान सकता। मैं यह वस्त्र ग्रहण करूं अथवा यह वस्त्र छोड़ दूं'-ऐसा विकल्प जीव को हुआ, वहां चारित्र गुण प्रत्येक समय में परिणमित हो रहा है और ज्ञान गुण भी प्रत्येक समय परिणमित हो रहा है; तथापि उस विकल्प को ज्ञान एक समय में नहीं जान सकता। परन्तु चारित्र की ऐसी की ऐसी विकारी-पर्याय असंख्य समय तक, लंबाई तब ज्ञान के स्थूल उपयोग में उसका ख्याल आया। वास्तव में विकल्प अर्थात्

राग तो एक समय की पर्याय में ही है; असंख्य समय की पर्यायों का राग एकत्रित नहीं होता। अपनी एक-एक समय की पर्याय को भी छद्मस्थ जीव नहीं पकड़ सकता तो फिर वस्त्रादि पर द्रव्य की पर्याय को ग्रहण करे या छोड़े–यह बात कहाँ रही? और फिर, जिस प्रकार स्वतः में प्रत्येक समय की राग पर्याय को नहीं पकड़ सकता उसी प्रकार पुद्गल में भी प्रति समय होनेवाली पर्याय को वह नहीं जान सकता। "मैं वस्त्र को ग्रहण करूँ अथवा छोड़ूँ"–ऐसा विकल्प हुआ वहाँ तो वस्त्र के अनन्त गुणों की असंख्य पर्यायें बदल चुकी हैं, उन्हें जीव जान भी नहीं सकता, तो फिर वह वस्त्र का ग्रहण या त्याग कैसे करेगा? पर का ग्रहण और त्याग करने की मान्यता तो अज्ञान और भ्रम है।

जिसप्रकार पर की प्रत्येक समय की पर्याय को अथवा स्वतः में होने वाले राग की पर्याय को जीव नहीं पकड़ सकता, उसी प्रकार प्रत्येक समय की निर्मलदशा को भी छद्मस्थ जीव पकड़-जान नहीं सकता। सम्यक्श्रद्धा से अखण्ड द्रव्य स्वभाव की प्रतीति की, वहाँ श्रद्धा का कार्य तो एक समय का ही है, उसकी पर्याय प्रति समय बदलती है; उस एक समय की अपनी पर्याय को भी छद्मस्थ जीव का ज्ञान नहीं पकड़ सकता। प्रत्येक समय की पर्याय को ज्ञान कब जान सकता है? पर के लक्ष से विकार के लक्ष से अथवा पर्याय के लक्ष से एक समय को नहीं जान सकता, परन्तु अपने परिपूर्ण अखण्ड स्वभाव के आश्रय का ग्रहण करके वहाँ लीन होने से परिपूर्ण केवलज्ञान प्रगट होजाता है अर्थात् ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव पूर्ण रूप से विकसित होजाता है। वहाँ अभेद रूप से अपने स्वभाव का प्रकाशन होने से सर्व-पर पदार्थों का ज्ञान भी एक समय में होजाता है। जो ज्ञान मात्र स्वभाव ग्रहण करके उसमें अभेद हुआ उस ज्ञान में समस्त स्व-पर पदार्थों का एक समय में ग्रहण (ज्ञान) होता है। इसप्रकार वास्तव में ज्ञान में अभेद स्वभाव का ही ग्रहण आता है और वहाँ राग का त्याग होजाता है। इसके अतिरिक्त अन्य का ग्रहण-त्याग आत्मा में नहीं है। अज्ञानी जीव भ्रम से पर का ग्रहण-त्याग मानता है, परन्तु वह जीव भी पर का ग्रहण या त्याग नहीं

कर सकता; क्योंकि वह तो पर की पर्याय को जान भी नहीं सकता, तो फिर उसका ग्रहण या त्याग कहाँ से करेगा? और ज्ञानस्वभाव में स्थिर होने से प्रत्येक समय को जाने वैसा सामर्थ्य प्रगट हुआ, परन्तु वहाँ तो पर के त्याग और ग्रहण का विकल्प भी नहीं होता अर्थात् उसके भी पर का ग्रहण या त्याग नहीं होता। इसप्रकार विकार से या स्वभाव से आत्मा के परवस्तु का ग्रहण-त्याग नहीं है।

छद्मस्थ के उपयोग में श्रद्धा-गुण की पर्याय असंख्य समय में ख्याल में आती है, परन्तु वह श्रद्धा-गुण की पर्याय अखण्ड स्वभाव की प्रतीति रूप कार्य तो प्रत्येक समय में ही करती है। श्रद्धा कहीं असंख्यात समय में कार्य नहीं करती। उस एक समय की श्रद्धा पर्याय को पकड़ने से ज्ञान उपयोग में असंख्यात समय लगता है। वहाँ उस ज्ञान के साथ की श्रद्धा पर्याय भी अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा से हीन है। और जब वह ज्ञान उपयोग स्वद्रव्यस्वभाव में लीन होने से सूक्ष्म होकर केवलज्ञान होता है तब उस ज्ञान के साथ श्रद्धापर्याय के अविभाग प्रतिच्छेद भी बढ़ जाते हैं और तब उसे परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा जाता है। इसप्रकार अभेदस्वभाव के आश्रय से जहाँ ज्ञान एक समय को पकड़े ऐसा सूक्ष्म हुआ वहाँ श्रद्धा भी उग्र हो कर परमावगाढ़ होगई। यद्यपि ज्ञान जब एक समय को नहीं जानता था तब भी प्रतीति तो एक समय में ही कार्य करती थी, परन्तु उस समय उसकी निर्मलता के सामर्थ्य-अंश कम थे और केवलज्ञान होने पर उसका सामर्थ्य बढ़ा उससे वह परमावगाढ़ श्रद्धा कहलाई।

पर के ऊपर लक्ष करने से ज्ञान एक समय को नहीं पकड़ सकता और राग दूर नहीं होता। ज्ञान जहाँ यथार्थरूप से एक समय को लक्ष में लेने जाये वहाँ उसका उपयोग सूक्ष्म होकर त्रिकाली स्वरूप में अभेद होता है। पहले तो ज्ञान अभेद स्वभाव की ओर उन्मुख होने से राग दूर होजाता है और केवलज्ञान प्रगट होता है; वह ज्ञान एक समय को भी जान लेता है। इसप्रकार एक समय की पर्याय को जानने के लिये भी ज्ञान को अपने स्वभाव में अभेद करना ही उपाय सिद्ध हुआ। ज्ञान अपने स्वभाव में

अभेद होनेपर उसमें एकसमय में सब सहजरूप से ज्ञात होजाता है। पर को जानने के लिये उस ओर उपयोग नहीं लगाना पड़ता।

आत्मा में अनन्त गुण हैं, उसमे एक क्रियावती शक्ति भी है। जिसप्रकार ज्ञानादि गुणों के परिणमन में तारतम्यता है, उसीप्रकार इस क्रियावती शक्ति के परिणमन में भी तारतम्यता होती है। जिसप्रकार ज्ञानादि गुण द्रव्य प्रमाण असंख्य प्रदेशी हैं उसीप्रकार क्रियावती शक्ति भी असंख्यप्रदेशी है। जिसप्रकार क्षयोपशम ज्ञानदशा में कुछ विकास और कुछ विकास का अभाव-ऐसा तारतम्य है तथा वह क्षयोपशम ज्ञानदशा द्रव्य प्रमाण होने पर भी अमुक नियत प्रदेश में अमुक विषय को ही जानती है—ऐसी उसमें तारतम्यता है; उसीप्रकार क्रियावती शक्ति की पर्याय भी द्रव्यप्रमाण होने पर भी उसमें अमुक प्रदेश में क्षेत्रान्तर होता है और अमुक प्रदेश में नहीं होता—ऐसी तारतम्यता है।

ज्ञान निश्चय से स्व को जानता है और व्यवहार से पर को जानता है।

ज्ञान निश्चय से तो अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होकर स्व को ही जाननेवाला है, और पर का जाननेवाला तो व्यवहार से है। पर को जाननेवाला व्यवहार से है—ऐसा कहा, उससे यहां ऐसा नहीं समझना चाहिये कि परद्रव्य का ज्ञान आत्मा को होता ही नहीं है। आत्मा का ज्ञान पर को जानता तो है ही, परन्तु पर के सन्मुख होकर पर को नहीं जानता, अपने स्वभावसन्मुख रहते पर वस्तुएँ सहज ही ज्ञात होजाती हैं, वहाँ 'ज्ञान पर को जानता है'-ऐसा कहने से पर की अपेक्षा आती है इसलिये उसे व्यवहार कहा है; पर से पृथक् रहकर पर को जानता है इसलिये व्यवहार है। स्व का ज्ञाता सो निश्चय है। इससे जिस प्रकार स्व के ज्ञान बिना पर का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता—यह बात भी इसमें आजाती है।

—भेदविज्ञानसार

आत्मधर्म

२४७६ मार्गशीर्ष

वर्ष पाँचवाँ : अङ्क आठवाँ

आत्मा पर का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता

प्रत्येक समय के परिणमन को ज्ञान कब जान सकता है?

[पूज्य श्री कानजी स्वामी के श्रीमुख से प्रगट हुए अन्तर के सूक्ष्म न्याय]

ण वि सक्कइ घित्तु जं ण विमोत्तु जं य जं परद्दव्वं ।
सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि ॥४०६॥

(१) आत्मा ज्ञानस्वरूपी वस्तु है, उसकी प्रत्येक समय की अवस्था है। उस एक समय की अवस्था में आत्मा पर का कुछ ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता।

आत्मा के ज्ञान में सबको एक समय में जानने की शक्ति है; आत्मा उस शक्ति का एक समय में विश्वास कर सके और एक समय में सब जाने–वैसा ज्ञान सामर्थ्य प्रगट कर सकता है अथवा अपने ज्ञान सामर्थ्य का अविश्वास करके पर्याय में प्रत्येक समय का विकार करता है, परन्तु एक साथ दो समय का विकार नहीं कर सकता। अपनी अवस्था में प्रत्येक समय का जो विकार होता है उसीको नहीं पकड़ सकता तो परवस्तु को कैसे पकड़ सकेगा? प्रत्येक समय का नवीन-नवीन विकार करने से अनादि से अभीतक विकार हुआ; वह विकार मेरा स्वरूप नहीं है, मैं सदैव ज्ञानस्वरूप ही हूं-इस प्रकार अपने स्वरूप की ओर एकाग्र होकर पूर्ण ज्ञान होने से अपने अनादि–सांत विकार का ज्ञान एक समय में कर सकता है, परन्तु दो समय का विकार एकत्रित नहीं होता। जिसने अपने ज्ञानस्वरूप का निर्णय किया उसके तो विकार का अंत आजाता है, इससे उसके विकार अनादि-अनन्त नहीं परन्तु अनादि-सांत है। अभव्य आदि जीवों को अनादि-अनन्त विकार है वह भी प्रत्येक समय परिवर्तित होते-होते ही होता है। कोई जीव अपने आत्मा में दो समय का विकार एकत्रित नहीं कर सकता, परन्तु अपने ज्ञान-स्वरूप की एकाग्रता द्वारा अपने अनादि-सांत विकार का और समस्त

आदि परजीवों के अनादि-अनन्त विकार का एक समय में ज्ञान कर सकता है।

(२) द्रव्य प्रत्येक समय में परिणमित होता है। उस प्रत्येक समय के परिणाम को छद्मस्थ ज्ञान जान नहीं सकता परन्तु उसकी प्रतीति एक समय में कर सकता है। बस, प्रत्येक समय में परिणमित होने वाला द्रव्य जिस ज्ञान प्रतीति में आया वह ज्ञान 'प्रत्येक समय में विकार रहित स्वभाव है' उसे जानता है। स्वभाव में ज्ञान की पूर्णता है; उसकी प्रतीति करके उसमें ज्ञान स्थिर हो तो उस ज्ञान में प्रत्येक समय में सब कुछ ज्ञात हुए बिना न रहे। परन्तु ज्ञान में पर का किंचित् ग्रहण या त्याग नहीं है-ऐसे ज्ञानस्वभाव को पहिचानना वह धर्म है।

(३) आत्मा का ज्ञानस्वभाव है; उसमें ज्ञान-श्रद्धा-सुख इत्यादि अनन्त गुण हैं; वह ज्ञानस्वभावी आत्मा किसी परवस्तु का ग्रहण या त्याग नहीं करता।

आत्मा का ज्ञानगुण त्रिकाल है, उसकी वर्तमान दशा जानने का कार्य करती है। पदार्थों में प्रत्येक समय की जो अवस्था है उसे छद्मस्थ जीव अपने ज्ञान में नहीं पकड़ सकता। ज्ञान के उपयोग का कार्य रागमय होने से वह परवस्तु की वर्तमान अवस्था को भी पकड़ (जान) नहीं सकता। लकड़ी इत्यादि जो कुछ ज्ञात होता है वह असंख्य समय का ऐसा का ऐसा स्थूल परिणमन ज्ञात होता है, उसका एक एक समय का सूक्ष्म परिणमन ज्ञात नहीं होता। परवस्तु की एक समय की अवस्था को आत्मा स्थूल उपयोग द्वारा जान भी नहीं सकता; तब फिर उसका ग्रहण या त्याग कैसे करेगा?

आत्मा स्वतः ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, सुख इत्यादि अनन्त गुणों का पिण्ड है, और उस प्रत्येक गुण की एक-एक समय की अवस्था है; उसमें ज्ञानदर्शन की अवस्था उपयोगरूप हैं, अन्य गुणों में उपयोग नहीं है, परन्तु प्रत्येक समय का परिणमन है। वह ज्ञान उपयोग अपने एक-एक समय के अस्तित्व को भी नहीं पकड़ सकता; और जो राग होता है वह प्रत्येक समय में बदलता है; उस एक-एक समय की रागपर्याय को भी ज्ञान का उपयोग पकड़ नहीं सकता—जान नहीं सकता;

तो वह ज्ञान परद्रव्य की एक एक समय की अवस्था को पकड़ ले–ऐसा काल में नहीं बनता।

अज्ञानी मानता है कि 'मैंने यह लकड़ी हाथ में ली' परन्तु 'मैंने यह लकड़ी हाथ में ली'–इतना विचार किया उतने समय में तो लकड़ी में असंख्य पर्यायें पलट गईं हैं। लकड़ी के परमाणुओं के अनन्तगुणों को अथवा उसकी एक-एक समय की अवस्था को पृथक् करके ज्ञानका वर्तमान कार्य नहीं जान सकता। हे अज्ञानी! तेरे ज्ञान का वर्तमान कार्य सामनेवाले पदार्थों को एक-एक समय का अवस्था को पृथक् करके नहीं जान सकता; तो फिर तेरा ज्ञान उन पदार्थों में कुछ करे या उन्हें ग्रहण करे–ऐसा कैसे हो सकता है?

(४) आत्मा राग द्वारा तो पर पदार्थ की वर्तमान अवस्था को नहीं पकड़ सकता; परन्तु ज्ञान द्वारा भी उसे नहीं पकड़ सकता; राग सहित होने से ज्ञान का उपयोग अत्यन्त स्थूल है इससे वह पदार्थों के स्थूल परिणमन को ही पकड़ सकता है। स्वतः में भी श्रद्धा आदि गुण एक-एक समय में कार्य करते हैं; परन्तु उन श्रद्धा आदि की एक-एक समय की अवस्था को भी ज्ञान का उपयोग जान नहीं सकता। ज्ञान–दर्शन उपयोग एक-एक समय कार्य करता है परन्तु वह स्वतः अपने एक-एक समय के परिणमन को नहीं पकड़ सकता; तब फिर आत्मा पर को पकड़े–ऐसा त्रिकाल में नहीं हो सकता।

अज्ञानी मानता है कि 'मैंने पर द्रव्य को पकड़ा' परन्तु क्या पर द्रव्य उसके हाथ में आगया है? अथवा पर द्रव्य का कोई गुण उसके हाथ में आगया? या पर द्रव्य की कोई पर्याय उसके हाथ में आगई? पर द्रव्य प्रति समय बदलकर अवस्था धारण करता है; उसके स्पर्शादि अनन्तगुणों की एक-एक समय की अवस्थाएँ हैं; वह ज्ञान के ख्याल में नहीं आता। जब बहुत समय तक ऐसे का ऐसा स्थूल परिणमन रहता है तब ही वह ज्ञान के ख्याल में आता है। ज्ञान में पर द्रव्य की एक अवस्था को लक्ष्य में लेता है, वहाँतक तो उस द्रव्य में असंख्य पर्यायें पलट जाती हैं, तो ज्ञान उसे किस प्रकार पकड़ेगा? पदार्थ के स्थूलरूप का जो ख्याल आता है वह यथार्थ कब कहलाता है? अज्ञानी का उपयोग

तो पर पदार्थ में एकत्वरूप से कार्य करता है, इससे उसे तो यथार्थ ज्ञान होता नहीं है। ज्ञानी के स्वभाव की श्रद्धा और रुचि के बल से राग का अभाव होकर, ज्ञान का आत्म—स्वभाव में एकत्व होने से द्रव्य-गुण-पर्याय अभेद होकर कार्य करते हैं, इससे उसका ज्ञान यथार्थ जानता है।

(५) आत्मा में अनन्तगुण हैं; उनमें से ज्ञान और दर्शनगुण ही उपयोगरूप हैं, दूसरे श्रद्धा, चारित्रादि गुणों में उपयोग नहीं होता। ज्ञान-दर्शनगुणों का स्वभाव ऐसा है कि उनका उपयोग असंख्य समय तक लंबाता है। उपयोग का परिणमन तो प्रत्येक समय का ही है, परन्तु उसमें असंख्य समय तक उसका कार्य लंबाता है। श्रद्धा चारित्रादि गुणों में वैसा नहीं होता: उनका कार्य एक-एक समय का ही है, एक समय के पश्चात् दूसरे समय में उनका कार्य नहीं लंबाते। छद्मस्थ जीव के ज्ञान का उपयोग असंख्य समय का है, यदि वह उपयोग पर लक्ष्य से जाने तो अपने एक-एक समय को नहीं पकड़ सकेगा। किन्तु यदि वह उपयोग अपने स्वभाव में एकाग्र हो तो ज्ञान की शुद्धता बढ़ते-बढ़ते एक-एक समय को भी पकड़ सके और स्वतः प्रत्येक समय में कार्य करे—ऐसा सामर्थ्य प्रगट हो अर्थात् केवलज्ञान हो जाये। परन्तु अपने स्वभाव का लक्ष्य करके एकाग्र हुए बिना ज्ञान का उपयोग एक-एक समय की अवस्था को नहीं जान सकेगा और वह उपयोग स्वयं एक-एक समय में जानने का कार्य नहीं कर सकेगा। इस प्रकार आत्मा प्रत्येक समय की अपनी अवस्था को भी नहीं पकड़ सकता और पर वस्तु की एक समय की वर्तमानदशा को भी नहीं जान सकता। पर से भिन्न रहकर भी ज्ञान में पर को नहीं जान सकता तो वह राग करके या पर के साथ एकमेक होकर पर को पकड़ ले ऐसा तो हो ही नहीं सकता। अज्ञानी जीव अपने उपयोग को आत्मोन्मुख करके आत्म स्वभाव को श्रद्धा में न लेकर, पर वस्तु को ग्रहण करने की रुचि से अनन्त पर पदार्थों के कर्तृत्व का अभिमान करता है और उससे संसार में परिभ्रमण करता है। साधकज्ञानी को जानना तो स्थूल कार्य है, वह एक-एक समय को नहीं जान सकता, तथापि श्रद्धा में तो, प्रत्येक समय को पूर्ण

जाने—ऐसे आत्म स्वभाव को पकड़ा है। श्रद्धा गुण के प्रत्येक समय के परिणमन को उपयोग नहीं पकड़ सकता, परन्तु श्रद्धा तो प्रत्येक समय में पूर्ण आत्मस्वभाव की प्रतीति का कार्य करती ही है। उन श्रद्धादि के एक-एक समय के परिणमन को पकड़ना चाहे तो पर्याय के लक्ष्य से वह नहीं पकड़ा जा सकता; परन्तु जहाँ एक समय को लक्ष्य में लेने जाता है वहाँ उपयोग एकदम सूक्ष्म होकर स्वभावोन्मुख होता है और स्वभाव के लक्ष से द्रव्य पर्याय की एकता होने से ज्ञान के उपयोग को ऐसी निर्मलता होती है कि प्रत्येक समय में स्व को परिपूर्ण जानना है, और स्व को जानने से पर के प्रत्येक समय को भी वह ज्ञान जानता है; किन्तु वह ज्ञान किसी वस्तु को ग्रहण करता या छोड़ता है—ऐसा कभी नहीं होता।

(६) स्वभावोन्मुख होकर ज्ञान पूर्ण परिणमित हुआ तब उस ज्ञान के साथ की श्रद्धा को परमावगाढ़ श्रद्धा कहा गया; अर्थात् ज्ञान के साथ श्रद्धा की निर्मलता में भी वृद्धि हुई है। जहाँतक ज्ञानादि स्वभाव में पूर्णतया एकत्व न हो वहाँतक श्रद्धादि भी अपूर्ण हैं, इससे उसे परमावगाढ़ श्रद्धा नहीं कहा जाता। यह बात सूक्ष्म है।

(७) (१) मैं रागादि करके पर को ग्रहण करूँ या छोड़ूँ ऐसा अज्ञानी मानता है; वह अज्ञानी राग की पकड़वाला है, उसने विपरीत श्रद्धा से राग को पकड़ रखा है, परन्तु किसी भी पर वस्तु का ग्रहण तो वह कर ही नहीं सकता। (२) ज्ञानिओं ने द्रव्य पर्याय की एकता प्रगट करके सम्पूर्ण आत्म द्रव्य को श्रद्धा ज्ञान में पकड़ा है, परन्तु अभी उनका ज्ञान एक समय को नहीं पकड़ सकता। वे ज्ञानी जीव भी पर वस्तु को तो तीनकाल में ग्रहण नहीं कर सकते; और (३) केवली भगवान को आत्म स्वभाव में पूर्ण एकता द्वारा केवलज्ञान प्रगट हुआ है, और वे एक-एक समय में सब कुछ जानते हैं, एक समय को भी जानते हैं, परन्तु उनको भी किसी पर का ग्रहण तो त्रिकाल में नहीं है। इस प्रकार वस्तु का स्वभाव पर के ग्रहण त्याग रहित है; अज्ञानी विकार करके या ज्ञानी अपने ज्ञान स्वभाव में रहकर भी पर का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकते।

(८) जीव पर वस्तु के ग्रहण

त्याग का अभिमान छोड़कर चैतन्यस्वभाव की रुचि करे वहाँ भी उस रुचि की प्रत्येक समय की अवस्था को उसके ज्ञान का व्यापार पकड़ नहीं सकता; परन्तु त्रैकालिक स्वभाव में उस ज्ञान की एकता करके उसकी सामान्य रीति से प्रतीति होती है। यदि बिल्कुल एक समय की रुचि को ज्ञान पकड़े तो वह ज्ञान सर्वथा राग रहित, एक समय के उपयोग वाला होता है। एक एक समय को जाने वैसा ज्ञान कब प्रगट होता है? यदि एक-एक समय के सन्मुख ही लक्ष करे तब तो राग होगा और राग वाला ज्ञान एक-एक समय को नहीं पकड़ सकेगा, इसलिये एक-एक समय के भेद का लक्ष छोड़कर सम्पूर्ण द्रव्य में उपयोग की अखण्डता हुए बिना, ज्ञान में एक समय ज्ञान हो ऐसी सामर्थ्य प्रगट नहीं होगा। इससे ऐसा निश्चित् हुआ कि प्रत्येक समय का ज्ञान प्रगट करने के लिये भी आत्म स्वभाव में ही उपयोग की अखण्डता होना चाहिये। इस प्रकार स्वभावोन्मुख होने की ही इसमें बात है।

(९) 'मैंने पुस्तक ली, मैंने लकड़ी ली'—ऐसा अज्ञानी मानता है, अर्थात् ज्ञान ने परद्रव्य का ग्रहण किया—ऐसा वह मानता है, परन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! ज्ञान ने परद्रव्य को किस प्रकार लिया? क्या परद्रव्य, उसका कोई गुण या उसकी कोई अवस्था ज्ञान में प्रविष्ट हो गई है? ऐसा तो होता ही नहीं। पुनश्च, वस्तु में उसके तीनों काल की अवस्थाएँ वर्तमान में प्रगट प्रवर्तमान तो नहीं हैं, मात्र एक ही समय की प्रगट अवस्था वर्त रही है; उस एक-एक समय का वर्तमान वर्तती अवस्था को तो तेरा ज्ञान जानता भी नहीं है। और उस ओर का राग तथा ज्ञान भी प्रतिसमय परिवर्तित होता है उसे भी तू नहीं जान सकता। अपने वर्तमान ज्ञान को, राग को अथवा वर्तमान पर को जाने बिना पर को ग्रहण करना मानता है—वह मिथ्यात्व है। अभी वस्तु के एक समय को भी तेरा ज्ञान नहीं पकड़ सकता तो उस त्रिकाली वस्तु को तू किस प्रकार पकड़ेगा? मात्र अज्ञान भाव से ही पर का ग्रहण-त्याग माना है। पर के ग्रहण-त्याग की मान्यता को छोड़कर ज्ञान अपने स्वभाव में एकाग्र हो तब ज्ञान में स्वद्रव्य को

लिया अर्थात् आत्मा का ग्रहण किया; उस ज्ञान में परद्रव्य भी ज्ञात होती है। परन्तु ज्ञान अपने स्वभावोन्मुख हुए बिना परद्रव्य को यथार्थ जाने—वैसा सामर्थ्य उसमें प्रगट नहीं होता; और परद्रव्य का किंचित् भी ग्रहण करे—ऐसा सामर्थ्य तो तीनकाल में किसी जीव में नहीं है।

(१०) जिस प्रकार ज्ञान परद्रव्य को किंचित् ग्रहण नहीं करता, उसी प्रकार उसे किंचित् छोड़ता भी नहीं है। परद्रव्य में ज्ञान का कुछ भी कार्य नहीं है। वास्तव में राग भी ज्ञान से परद्रव्य है, इससे ज्ञान राग को नहीं छोड़ता। ज्ञान स्वभाव ने राग को कभी ग्रहण नहीं किया और उसे कभी छोड़ता भी नहीं है; यदि राग का अपने में ग्रहण किया तभी तो उसे छोड़ेगा न? ज्ञान अपने स्वभाव में एकाग्र होने से वह राग को नहीं छोड़ता। यहाँ द्रव्य दृष्टि बतलाकर पर्याय दृष्टि को ही निकाल दिया है। परिपूर्ण स्वभाव की श्रद्धा करके ज्ञान उसमें एकाग्र हुआ कि राग अपने आप ही छूट जाता है। ज्ञानस्वभाव में स्थिर हुआ, उससमय वास्तव में राग होता ही नहीं तो वह छोड़ेगा किसे? इस प्रकार स्वभाव में एकाग्र हुआ ज्ञान राग को भी नहीं छोड़ता तो फिर आत्मा शरीर को छोड़े, आहार छोड़े, वस्त्र धन आदि को छोडे—यह बात कहाँ रही? ज्ञान से या राग से भी पर का त्याग करना वस्तु स्वभाव में नहीं है।

ज्ञानमूर्ति आत्मा का वर्तमान असंख्य समय का रागवाला उपयोग है; श्रद्धा इत्यादि गुणों का कार्य एक-एक समय का होने पर भी ज्ञान का उपयोग उसे नहीं जान सकता। वह उपयोग स्वभावोन्मुख होने से ज्ञान की निर्मलदशा प्रतिसमय बढती जाती है और एक-एक पर्याय को पूर्णतया पकड लें ऐसा निर्मल उपयोग प्रगट होता है। एक पर्याय को पूर्ण पकड़ने से केवलज्ञान हो जाता है, परन्तु पर्याय के लक्ष्य से पर्याय पूर्णतया पकड़ में नहीं आती, अभेद द्रव्यस्वभाव में ढलने से, प्रत्येक पर्याय को जाने—ऐसा केवलज्ञान प्रगट होता है। जहाँ स्वभाव में एकता करके ज्ञान किया वहाँ ज्ञान आत्मा को ग्रहण करे—ऐसा भेद भी नहीं है।

(११) अनादिकाल से एक समय मात्र भी जीव ने अपने अन्तर में आत्मा की रुचि से विचार नहीं किया। अपना ज्ञानस्वरूप क्या है

उसका भाव नहीं है इससे पर में ग्रहण-त्याग करना मानता है, और इससे संसार में परिभ्रमण करता है। हे भाई! तेरे वर्तमान ज्ञान में पर की एक समय की वर्तमान अवस्था को जानने की भी शक्ति नहीं है; तब फिर आहारादि पर-द्रव्यों का ग्रहण करने को या छोड़ने की बात कहाँ से लाया? आहार का ग्रहण या त्याग तेरे द्रव्य में नहीं है, गुण में नहीं है, पर्याय में भी नहीं है और राग करके भी तू आहार का तो ग्रहण या त्याग कर ही नहीं सकता। आहार तो अनन्त परमाणुओं का स्थूल स्कन्ध है, और तेरे ख्याल में उसका स्थूल परिणमन आता है। आहार का ग्रास थाली में से मुँह तक आया, उतने समय में तो उसके अनन्त गुणों की असंख्य पर्यायें बदल गई हैं; उस सूक्ष्म परिणमन को तो तेरा ज्ञान जानता ही नहीं, तो उसमें तू क्या कर सकता है?

(१२) आत्मा में ज्ञान के अति-रिक्त श्रद्धा–चारित्रादि कोई गुण जानने का कार्य नहीं कर सकते। स्वभाव की रुचि हुई हो उसे ज्ञान ही जानता है; रुचि स्वयं अपने को या पर को नहीं जानती। आत्मा के सभी गुण तो एक-एक समय में परिणमित होते हैं, परन्तु उनमें दर्शन और ज्ञान ही ऐसे हैं कि जिनका उपयोग छद्मस्थ के असंख्य समय तक लंबाता है। श्रद्धा आदि पर्यायों का कार्य एक-एक समय में ही होता है, वह एक पर्याय के बाद दूसरी पर्याय में नहीं लंबाता। ज्ञान का कार्य परिपूर्ण हो तब तो वह प्रत्येक समय में ही जानने का कार्य करता है, परन्तु अपूर्ण ज्ञान हो वह असं-ख्य समय के उपयोगवाला है; राग सहित हो तब भी श्रद्धा इत्यादि तो प्रत्येक समय में कार्य करते हैं, उनका कार्य लंबाता नहीं है। जब ज्ञान शुद्धनय के बोध अनुसार आत्मा को जानकर स्वभावोन्मुख होता है तब उसके साथ सम्यक् श्रद्धा होती है, वह सम्यक्श्रद्धा स्वतः एक समय में पूर्ण आत्मा को प्रतीति में लेने का कार्य करती है, परन्तु ज्ञान उस श्रद्धा को असंख्य समय में जानता है। श्रद्धा एक समय की होने पर भी ज्ञान उसे एक समय में नहीं पकड़ सकता। ज्ञान का उपयोग स्वभावोन्मुख होने से राग और ज्ञान की एकत्वबुद्धि

दूर होकर द्रव्य–गुण के साथ एकत्व होता है और मिथ्यात्व सहज ही दूर हो जाता है। वास्तव में, ज्ञान मिथ्यात्व को छोड़े-ऐसा कहना भी उपचार है। और आत्मा किसी परवस्तु को नष्ट–भ्रष्ट करे या निकट दूर करे यह बात तीन काल में नहीं होती। अज्ञानी जीव स्वभाव की ओर के ज्ञान से च्युत होकर राग और निमित्त में ज्ञान की एकता मानकर स्थूल बुद्धि से स्थूल पदार्थों को पकड़ना या छोड़ना मानता है; परन्तु अन्तरंग में सूक्ष्म आत्मस्वभाव की ओर वह अपने ज्ञान के उपयोग को नहीं लगाता, इससे उसे ऐसा ज्ञान प्रगट नहीं होता जो प्रत्येक समय को जान ले: और ऐसे ज्ञान सामर्थ्य की प्रतीति भी नहीं होती।

ज्ञानी को अपने पूर्ण ज्ञान सामर्थ्य का विश्वास है और ज्ञान स्वभावोन्मुख हुआ है, तथापि प्रत्येक समय की अवस्था का व्यापार जिस समय प्रवर्तमान होता है उस समय उसका ख्याल नहीं आता; परन्तु असंख्य समय का स्थूल परिणमन ख्याल में आता है। इस प्रकार आराधक जीव भी प्रत्येक समय के परिणाम को नहीं जान सकता, तो फिर पर को छोड़े या ग्रहण करे ऐसा तो स्वभाव ही नहीं है, और विभाव से भी वैसा नहीं बनता।

केवली भगवान एक-एक समय के परिणमन को भी जानते हैं, परन्तु उनका तो पर के सन्मुख लक्ष्य नहीं है और पर के ग्रहण त्याग का विकल्प भी नहीं है; इससे उनके भी पर का ग्रहण त्याग नहीं है। साधक जीव एक-एक समय के परिणाम को पकड़ नहीं सकता; जिस समय जो परिणाम हो उसी समय उसे पकड़ नहीं सकता; तब फिर उसके पर वस्तु का ग्रहण-त्याग कहाँ से होगा?

(१३) जीव को अपूर्ण दशा में राग होता है तथापि उस राग के कारण पर के ग्रहण–त्याग की क्रिया नहीं कर सकता। और वह राग वाला ज्ञान पर की वर्तमान वर्तती अवस्था को या अपनी श्रद्धा इत्यादि की वर्तमान अवस्था को नहीं पकड़ सकता। शांति, श्रद्धा, पुरुषार्थ इत्यादि गुणों की वर्तमान दशा शुद्ध है या नहीं,– वह ज्ञान असंख्य समय में जानता है। ज्ञान का स्वभाव एक समय में जानने का है और श्रद्धादि भी प्रति समय परिणमित होते हैं, परन्तु राग वाला उपयोग एक समय में नहीं जानता और एक समय को पकड़ नहीं

सकता। ऐसा आत्मा का ज्ञान स्वभाव किसी पर वस्तु को पकड़े या छोड़े–यह बात द्रव्य में, गुण में या पर्याय में नहीं है।

(१४) अहो! साधक जीव का स्वभाव में अभेद हुआ ज्ञान भी अपनी प्रत्येक समय की पर्याय को नहीं पकड़ता, तब फिर वह ज्ञान राग को वा पर को पकड़े–ऐसा कहने वाला तो आत्मा के ज्ञान स्वभाव को नहीं जानता और वह वीतराग के शासन को, केवली भगवान को, संत-मुनियों को या उनकी वाणी को भी नहीं जानता। यह बात सम्यग्दर्शन की है। आत्मा का ज्ञान स्वभाव जैसा है उसे वैसा यथावत् जाने तो सम्यग्दर्शन हो। जिस प्रकार लोक–व्यवहार में कहा जाता है कि-'अँगूठी पर पर्वत को उठा लिया'–उसी प्रकार यहाँ ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण सत् को तोलने की-मापने की बात है। एक समय की श्रद्धा में त्रिकाली चैतन्य स्वभाव की प्रतीति करनेकी यह बात है। इसके लिये आत्मा की रुचि और अनन्त पुरुषार्थ चाहिये। चैतन्य स्वभाव जैसा है वैसा ही ज्ञान के माप में आये बिना धर्म नहीं होता।

(१५) अज्ञानी पर को लेना और छोड़ना मानता है वह मिथ्यात्व है। वह जीव ज्ञानस्वभाव को चूक कर राग-द्वेष का कर्ता होता है परन्तु पर का ग्रहण-त्याग तो कर ही नहीं सकता। राग के समय पर को जानने का भी सामर्थ्य ज्ञान में नहीं है तब फिर पर वस्तु का ग्रहण या त्याग कहाँ से करेगा? पर के ग्रहण-त्याग रहित ज्ञानस्वभाव का भान होने के पश्चात् चारित्र की अस्थिरता के दोष से जो रागादि होते हैं उनसे भी पर का ग्रहण या त्याग आत्मा कर ही नहीं सकता।

आत्मा ज्ञानस्वभाव है; वह प्रायोगिक गुण से या वैस्रसिक गुण से भी पर का कुछ ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता। अर्थात् आत्मा रागादि विकाररूप परिणमित हो या ज्ञानस्वभावरूप परिणमित हो परन्तु पर का तो कुछ ग्रहण–त्याग वह कर ही नहीं सकता।

(१६) जिसे आत्मा के ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है–ऐसा अज्ञानी पर का कुछ करने से या शारीरिक बल से आत्मा का बड़प्पन मानते हैं। ऐसी एक बात आती है कि–"महावीर स्वामी के जन्माभिषेक के समय इन्द्र को ऐसी शंका हुई कि 'भगवान का कोमल शरीर पानी की धारा को कैसे सहन कर सकेगा? तब भगवान ने इन्द्र की वह शंका मिटाने के लिये

अपने पाँव के अँगूठे से मेरुपर्वत को डगमगा दिया; "—देखो! यह दोनों बातें बिल्कुल मिथ्या हैं। प्रथम तो इन्द्र सम्यग्दृष्टि है, उसे भगवान के बल को शंका नहीं हो सकती, और भगवान अँगूठे को दबा कर मेरुपर्वत नहीं हिलाते मेरुपर्वत तो शाश्वत् स्थिर है, वह कभी डिगते नहीं। जिसने आत्मा की दृष्टि से च्युत होकर देह दृष्टि की है उसका यह कथन है। वे चैतन्य बल के माहात्म्य से च्युत हुए हैं इस लिये शरीर बल की महत्ता का वर्णन कर रहे हैं; उसमें भी भूल है। तीर्थंकर देव बालपन से ही सम्यग्दृष्टि होते हैं।

(१७) यहाँ पर का ग्रहण या त्याग करने की बात नहीं है; परन्तु पर की अवस्था को जानना भी स्वभाव की एकाग्रता के बिना नहीं होता। जो अवस्था स्वभावोन्मुख नहीं होती वह एक-एक समय को नहीं जान सकती। स्वभाव में एकाग्र होते होते, जो एक समय की वर्तमान पर्याय वर्तती है उसे ज्ञेय करने जाये तो ज्ञान का उपयोग सूक्ष्म होकर स्वभावोन्मुख होता है और स्वभाव की एकाग्रता से केवलज्ञान प्रगट होता है, वह केवलज्ञान त्रिकाली द्रव्य-गुण सहित प्रत्येक समय की अवस्था को भी जानता है।

आत्मा में आनन्द गुण त्रिकाल है, परन्तु उसका परिणमन एक-एक समय का है। एक समय में त्रिकाली आनन्द नहीं आता; आनन्द का उपभोग समय-समय का है। साधक को प्रत्येक समय के आनन्द का उपभोग है परन्तु उस एक-एक समय के आनन्द को उसका ज्ञान नहीं पकड़ सकता। समय-समय का वेदन पकड़ने जाने से, समय-समय की वह अवस्था जिसमें से आती है-ऐसे द्रव्य की ओर ज्ञान ढल जाता है। और उस द्रव्य के आश्रय से ऐसा ज्ञान प्रगट होता है कि एक-एक समय में द्रव्य-गुण-पर्याय सबको जानता है। वह ज्ञान तीनकाल के आनन्द को एक समय में जान लेता है, परन्तु एक समय में तीनकाल का आनन्द अनुभव में नहीं आता। अपने आनन्द की दो समय की अवस्था को भी ज्ञान एकत्रित नहीं कर सकता, तब फिर आत्मा पर को ग्रहण करे या छोड़े-यह बात तो कहाँ रही?

(१८) अज्ञानी ऐसा मानता है कि 'मैंने हाथ में प्याज ली।' अब, विचार करो कि मैंने अर्थात् किसने?

हाथ अर्थात् क्या! और प्याज अर्थात् क्या? स्वतः तो ज्ञान स्वरूप है, हाथ तो परमाणुओं का पिंड है, और प्याज भी परमाणुओं का पिंड है। उस प्याज में असंख्यात औदारिक शरीर हैं, उस प्रत्येक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं, एक जीव में अनन्त गुण हैं और उस प्रत्येक गुण में अनन्त पर्यायें हैं। तो क्या इसमें से कोई द्रव्यगुण या पर्याय इस हाथ के परमाणु में आ गया है? या हाथ के स्थान में रहने वाले आत्मा के प्रदेश में वह आ गया है? या राग में अथवा ज्ञान में आ गया है? ऐसा तो नहीं होता, तब फिर आत्मा ने प्याज को किस प्रकार लिया? हाथ के ऊँचे-नीचे होने की क्रिया भी आत्मा नहीं करता। अज्ञानी जीव अपने चैतन्य के अस्तित्व को चूक गया है, वह राग के या ज्ञान के एक-एक समय के कार्य को भी नहीं जानता, और पर में भी प्रत्येक समय में उसका स्वतंत्र परिणमन होता है उसे नहीं जानता, तथापि पर को ग्रहण करना मानता है वह स्वतः अपने अज्ञान भाव में पकड़ा जाता है।

छद्मस्थ ज्ञानी या अज्ञानी कोई जीव एक समय को पकड़ नहीं सकता, जान नहीं सकता; परन्तु अज्ञानी जीव, पर वस्तु का ग्रहण त्याग मैं करता हूँ—ऐसा मानकर अज्ञान में फँस जाता है, पर के अहंकार से उसका ज्ञान हीन होता जाता है। और ज्ञानी तो अपने स्वभाव में ही ज्ञान की एकता करके उस स्वभाव के आश्रय से प्रति समय ज्ञान की शुद्धता में वृद्धि करते हैं; और इस प्रकार ज्ञान की शुद्धता बढ़ते—बढ़ते एक समय को भी जान सके ऐसा निर्मल ज्ञान—केवलज्ञान उनके प्रगट होता है। आत्मा का ऐसा ज्ञान स्वभाव है। इसके अतिरिक्त कोई राग या पर का कर्तृत्व आत्मा का स्वभाव नहीं है।

(१९) जहाँ आत्मा का ऐसा ज्ञान स्वभाव रुचि में आया, वहाँ समस्त गुणों की अवस्था निर्मल होती जाती है अर्थात् सर्व विशुद्धि होती जाती है। सभी अवस्थाएँ, एक की अपेक्षा दूसरी अधिक निर्मल होती जाती है, इस प्रकार स्वभाव की रुचि के बल से सर्व अवस्थाओं में निर्मलता बढ़ते-बढ़ते पूर्णदशा होती है, वह ज्ञान तीनकाल और तीन लोक को एक समय में विकार रहित जानता है, उसमें किंचित

अनाकुलता, अपूर्णता नहीं है और जो पूर्णता हुई है वह नित्य स्थायी है, पुनः वैसी पूर्णता नहीं करनी पड़ती, परन्तु सदैव पूरा-पूरा परिणमन होता रहता है। ऐसे स्वभाव रूप परिणमन से भी आत्मा पर का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता

(२०) एक रजकण की अवस्था का ग्रहण या त्याग तो जीव कर ही नहीं सकता परन्तु एक अवस्था को जानना हो तो वह भी, केवलज्ञान रूप अपना स्वभाव हो जाये तभी ज्ञात होती है, पर के लक्ष्य से ज्ञात नहीं होती। इस प्रकार एक अवस्था का ज्ञान करने के लिये भी अपने अखण्ड स्वभाव की ओर ढलना ही आता है। पर सम्मुख देखने से राग होता है, राग के समय द्रव्य और ज्ञान अवस्था में भेद होता है, इसलिये ज्ञान की की पूर्ण दशा नहीं होती और ज्ञान द्रव्य-गुण को या एक पर्याय को प्रत्यक्ष नहीं जान सकता। पर लक्ष्य छोड़कर ज्ञान अपने स्वभाव में ढलने से द्रव्य और पर्याय की एकता होती है और राग दूर होकर पूर्ण ज्ञान प्रगट होता है, वह ज्ञान एक समय में अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को प्रत्यक्ष जानता है और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय भी उसमें ज्ञात हो जाते हैं। ऐसा ही अपना ज्ञान स्वभाव है; उसकी श्रद्धा से ही धर्म होता है। श्रद्धा के बल से चैतन्य स्वभाव में एकता होने पर ज्ञान की अवस्था सहज ही निर्मल होती जाती है और राग दूर होता रहता है,-उसका वर्णन इस सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार में किया है।

(२१) हे जीव! श्रद्धा की रुचि में सम्पूर्ण चैतन्य स्वभाव को ले। तेरे ज्ञान की दशा इतनी निर्बल है कि वह ज्ञान एक समय को नहीं पकड़ सकता। एक समय में सम्पूर्ण तत्त्व नहीं आता, और उस एक समय की अवस्था को ज्ञान पकड़ भी नहीं सकता। इस लिये अखण्ड चैतन्य स्वभाव की श्रद्धा करके उस स्वभाव में अपने ज्ञान उपयोग को एकाग्र कर, तो उस स्वभाव के आधार से ज्ञान की निर्मलता होते-होते, एक समय में सब कुछ प्रत्यक्ष जाने ऐसा ज्ञान प्रगट हो। अंतर में अपने स्वभाव को न देख कर बाह्य में परसम्मुख देखता रहे, वह जीव बहिर्दृष्टि है, उसके ज्ञान की निर्मलता नहीं होती।

(२२) यदि ज्ञान पूर्ण निर्मल

न हो तो वह स्व और पर को पूर्णतया नहीं जानता और उसमें राग हुए बिना नहीं रहता। ज्ञानादि समस्त गुणों की अवस्था का अस्तित्व तो एक ही समय का है, परन्तु ज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि उसका कार्य लंबाता है। ज्ञान की अवस्था तो एक-एक समय की ही है परन्तु उसके उपयोग का कार्य असंख्य समय तक चालु रहे ऐसी उसकी योग्यता है। जिस ज्ञान का उपयोग राग-सहित है उसे एक समय में सम्पूर्ण वस्तु लक्ष्य में नहीं आती। राग सहित उपयोग एक-एक समय में जानने का कार्य नहीं कर सकता। ज्ञान की अवस्था का अस्तित्व एक समय का है—ज्ञान एक एक समय में परिणमित होता है, तथापि यदि उस ज्ञान का उपयोग प्रत्येक समय में जानने का कार्य न करे तो वह ज्ञान भेदवाला है, वह ज्ञान स्वभाव में पूर्णतया अभेद होकर कार्य नहीं करता। पर्यायरूप ज्ञान का अस्तित्व एक समय का है, परन्तु ज्ञान का उपयोग असंख्य समय का है। यदि वह ज्ञान स्वभावोन्मुख हो तो साधक होकर मलिनता और निर्मलता का विवेक कर सकता है, परन्तु एक-एक समय की मलिनता-निर्मलता को नहीं जान सकता। उसी प्रकार ज्ञानादि गुणों में प्रत्येक समय का परिणमन है—ऐसा सामान्यरूप से ज्ञान के ख्याल में आये, परन्तु प्रत्येक समय को वह ज्ञान नहीं पकड़ सकता। तब फिर ज्ञान आहारादि परवस्तुओं को या राग का तो तीन काल में भी ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता।

(२३) आहारादि अमुक विधि से लेना चाहिये और अमुक वस्तुओं का त्याग करना चाहिए—ऐसे पर के ग्रहण—त्याग के कथन शास्त्रों में आते हैं; वे सब व्यवहार कथन हैं। अर्थात् मात्र बोलने के लिये हैं। शास्त्रों के वे शब्द तो जड़ हैं; उनमें कहीं आत्मा नहीं है। उस भाषा में ज्ञान का तात्पर्य क्या था उसे समझे तो वह केवली भगवान को, ज्ञानियों को और शास्त्रों को समझा कहा जाये; मात्र भाषा के शब्दों को ही पकड़े तो उसे ज्ञानी के कथन का आशय समझ में नहीं आयेगा। अनन्त गुणों के पिण्ड आत्मा को ग्रहण न करे और मात्र शब्दों को पकड़े तो उसने स्वभाव को छोड़कर पर का ग्रहण किया है, स्वभाव के ज्ञान बिना पर का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा।

चरणानुयोग में निमित्त की अपेक्षा से पर वस्तु को ग्रहण करने और त्यागने के कथन आते हैं, परन्तु 'आत्मा पर वस्तु में किंचित् ग्रहण त्याग नहीं कर सकता' ऐसा वस्तु स्वभाव है उसे लक्ष्य में रखकर उसका आशय समझना चाहिये।

(२४) आत्मा के ज्ञान स्वभाव की रुचि से स्वभाव में अभेदता हुई, इससे सम्यग्ज्ञान हुआ-साधक दशा हुई-धर्म हुआ, परन्तु अभी जबतक स्थिरता से स्वभाव में अभेदता न हो वहाँतक राग होता है और ज्ञान एक समय को नहीं जानता। बाह्य में प्रभु के सम्मुख चावल आदि चढ़ाने की क्रिया तो कोई आत्मा स्वभाव से या विकार से कर ही नहीं सकता। मैं पर का करूँ ऐसी विपरीत मान्यता से या राग द्वेष से भी पर वस्तु का तो जीव कुछ कर ही नहीं सकता। अज्ञानी जीव रागादि को ही अपना स्वरूप मानता है इससे राग से पृथक् होकर श्रद्धारूप से आत्मा में अभेद नहीं होता, और ज्ञानी ने श्रद्धा से तो आत्मस्वभाव में अभेदत्व प्रगट किया है परन्तु अभी स्थिरता से आत्मा में अभेदत्व नहीं हुआ है वहाँ तक उसे राग होता है; परन्तु अज्ञानी या ज्ञानी राग के सामर्थ्य से भी पर में कुछ भी ग्रहण-त्याग करने के लिये समर्थ नहीं हैं। आत्मा द्वारा पर का ग्रहण-त्याग होना अशक्य है। ऐसे आत्म स्वभाव को जाने तो पर में से पीछे हटकर ज्ञान अपने स्वभाव में स्थिर हो, और प्रति समय अनन्त गुनी विशुद्धता बढ़ती जाये, राग दूर होता जाये और निमित्तरूप कर्म खिरते जायें;—यही संवर निर्जरारूप धर्म है और यही मोक्ष का मार्ग है।

× × ×

(२५) ज्ञान परद्रव्य को किंचित् भी ग्रहता या छोड़ता नहीं है—ऐसा कहा है; अब कहते हैं कि ज्ञान आहारक नहीं है इसलिये ज्ञान में देह की शंका नहीं करना:—

पुनश्च, 'परद्रव्य ज्ञान का (अमूर्तिक आत्मद्रव्य का) आहार नहीं है, क्योंकि वह मूर्तिक पुद्गल द्रव्य है; अमूर्तिक के मूर्तिक आहार नहीं होता, इसलिये ज्ञान आहारक नहीं है। इसलिये ज्ञान में देह की शंका नहीं करना।

आत्मा का स्वभाव अमूर्तिक है, उसका ज्ञान अमूर्तिक है, उस स्वभाव में भेद करके राग हो तो

वह भी अमूर्त है; वह मूर्त आहार को ग्रहण नहीं करता। कर्म–नोकर्मरूप आहार ज्ञान के नहीं है। वर्तमान ज्ञान उपयोग को त्रैकालिक स्वभाव की ओर उन्मुख करके एकाग्र होने से जो शांत उपशमरस प्रगट हो वही आत्मा का आहार है। आत्मा के प्रयत्न से कर्म या आहार का ग्रहण त्याग नहीं होता। त्रिकाली द्रव्य को ज्ञान में पकड़ कर उसमें एकाग्र रहने से राग छूट जाता है अर्थात् राग होता ही नहीं–ऐसा ज्ञानस्वभाव है। वास्तव में राग को छोड़ना भी आत्मा नहीं करता; आत्मा का त्रिकाली ज्ञानस्वभाव है वह राग को करता भी नहीं और न छोड़ता ही है। यह स्वभावदृष्टि की बात है। स्वभावदृष्टि से आत्मा राग को करता या छोड़ता नहीं है इससे ज्ञानस्वभाव में राग का भी ग्रहण त्याग नहीं है, तब फिर आहारादि का ग्रहण-त्याग तो कहाँ से होगा ?

वास्तव में स्वभावदृष्टि से रागादि भी मूर्त हैं। शास्त्रों में भी उन्हें अवधिज्ञान के मूर्त विषयों में गिना है। अमूर्तिक चैतन्य का स्वभाव नहीं हैं इसलिये वे रागादि मूर्त हैं, वे रागादि भाव चैतन्य से विरुद्ध हैं। धर्मी को ज्ञानस्वभाव की दृष्टि में ज्ञान की निर्मलता की ही वृद्धि होती जाती है, परन्तु मूर्त रागादि भावों की वृद्धि नहीं होती; इसलिये उसके राग का भी ग्रहण नहीं है, तब फिर पर की खुराक तो ज्ञानी के कहाँ से होगी ? इससे आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञान को आहार नहीं है इसलिये ज्ञान के देह की शंका नहीं करना चाहिये। ज्ञान स्वस्वभावोन्मुख हुआ कि वहाँ ज्ञान के विकार नहीं है, आहार नहीं है, देह नहीं है, भव नहीं है। इसलिये आत्मा के भव की शंका नहीं करना चाहिये।

(२६) इस गाथा पर श्री जयसेनाचार्यदेव की टीका में शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन्! आपने यह कहा है कि आत्मा के आहार नहीं है, परन्तु अनाहारक जीव तो सिद्धदशा में होता है अथवा चौदहवें गुणस्थान में होता है और विग्रहगति के समय होता है। इसके अतिरिक्त तो जीव को आहारक कहा है, तब यहाँ उसे अनाहारक कैसे कहा है ? सिद्ध के अथवा चौदहवें गुणस्थान में तो किसी प्रकार का आहार नहीं होता, और विग्रहगति में नोकर्म का

ग्रहण नहीं है, इससे उसे अनाहारक कहा है। इसके अतिरिक्त तो सभी जीवों के आहार होता है। केवली भगवान के कवलाहार तो नहीं होता परन्तु कर्म वर्गणा के ग्रहणरूप आहार तो उनके भी है; तब फिर यहाँ आत्मा को त्रिकाल अनाहारक किस प्रकार सिद्ध करते हैं? शिष्य इस प्रकार प्रश्न करता है; तब आचार्यदेव उसका उत्तर देते हैं कि–शास्त्र में जीव को आहारक कहा है वह संयोग का ज्ञान कराने के लिये कहा है, मात्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध से जीव को आहार का ग्रहण कहा गया है परन्तु वास्तव में तो जीव आहार के साथ तन्मय नहीं होता इसलिये वह आहार का ग्रहण ही नहीं करता; निश्चय स्वभाव से सदैव सर्व जीव अनाहारक ही हैं। मूर्त आहार को कोई जीव ग्रहण नहीं करता; शास्त्रों में निमित्त के कथन हैं। कोई जीव कर्म को अथवा भोजन को नहीं पकड़ता। स्वभावदृष्टि से सिद्ध अथवा एकेंन्द्रिय किसी भी जीव के आहार का ग्रहण नहीं है; परन्तु जीव अपने चैतन्य स्वभाव को नहीं पकड़ता इसलिये ऐसा कहा है कि वह आहार ग्रहण करता है। जीव स्वभावरूप परिणमित न हो और विकाररूप परिणमित हो तब उसके निमित्त से कर्म–नोकर्म का ग्रहण होता है उस संयोग का और विकार के प्रकारों का ज्ञान कराने के लिये व्यवहार-शास्त्रों में आहारकादि का वर्णन आता है; परन्तु आत्मा जड़ का ग्रहण करता है अथवा आत्मा किसी पर का ग्रहण कर सकता है–यह बात बिलकुल मिथ्या है। अज्ञानी जीव भी कर्म का या आहार का ग्रहण नहीं करता। देव-मनुष्यादि कोई भी जीव एक परमाणु मात्र आहार को अथवा कर्म को ग्रहण नहीं करते। केवली भगवान को (तेरहवें गुणस्थान में) परमाणु आकार शरीर के साथ बंधते हैं इससे निमित्त से उन्हें आहारक कहा जाता है, परन्तु उनके आत्मा में एक रजकण का भी ग्रहण नहीं होता। यदि अमूर्तिक आत्मा जड़–मूर्त द्रव्य का ग्रहण करे तो वह स्वतः जड़–मूर्त हो जाये–ऐसा कभी नहीं होता।

'निश्चय से तो आत्मा आहार नहीं करता परन्तु व्यवहार से आहार करता है' ऐसा अज्ञानी मानता है; परन्तु वह बात यथार्थ नहीं है। स्वभाव से या विकार से,

निश्चय से अथवा व्यवहार से, ज्ञानी अथवा अज्ञानी–कोई भी जीव आहारादि पर वस्तु का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता। व्यवहार से भी आत्मा आहार का तो ग्रहण नहीं करता परन्तु व्यवहार से आरोप करके वैसा कहा जाता है, इससे कहीं वस्तु स्वरूप वैसा नहीं हो जाता। इसलिये ज्ञान स्वरूपी आत्मा के आहार नहीं है।

(२७) भगवान आचार्यदेव कहते हैं कि–ऐसा है, इसलिये ज्ञान के देह की शंका नहीं करना चाहिये। यहाँ ज्ञान स्वरूप में निःशंक होना कहा है। जो ज्ञान स्वरूप में देह की शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा का जो ज्ञान स्वभाव है वह ज्ञान का ही उत्पादक है। आत्मा के ज्ञान स्वभाव में से शरीर उत्पन्न नहीं होता, ज्ञान से शरीर स्थिर नहीं रहता और ज्ञान से शरीर बदलता भी नहीं है। जिसे ऐसे ज्ञान स्वभाव की श्रद्धा नहीं है और यह मानते हैं कि यह शरीर मेरा वह निःशंक मिथ्यादृष्टि है। चैतन्य स्वरूपी आत्मा मात्र चैतन्य से ही परिपूर्ण है, उसमें राग नहीं है, आहार नहीं है और देह नहीं है। जो ऐसे शुद्ध चैतन्य स्वरूपी आत्मा की निःशंक श्रद्धा करता है वह सम्यग्दृष्टि है।

ज्ञान स्वरूपी आत्मा अमूर्तिक है उसके मूर्तिक आहार त्रिकाल और तीन लोक में नहीं है। ऐसे अपने चैतन्य स्वरूप की रुचि करके उसकी श्रद्धा तथा ज्ञान करने से राग की रुचि उसी प्रकार पर की पकड़ छूट जाती है और स्वभाव के आश्रय से प्रतिक्षण ज्ञान की शुद्धता बढ़ती जाती है–उसका वर्णन इस सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार में किया है।

(२८) भाई! स्वभाव से च्युत होकर तेरे उपयोग की उन्मुखता पर में होती है, तथापि तू परवस्तु का तो किंचित् भी ग्रहण–त्याग नहीं कर सकता, इसलिये अपने उपयोग को पर की ओर से मोड़कर चैतन्य स्वभाव में उन्मुख कर तो चैतन्य में एकाग्रता से तेरे ज्ञान की निर्मलता हो और एक समय में तेरे ज्ञान में तीन काल और तीन लोक ज्ञेयरूप से आजायें–अर्थात् ज्ञात हों।

(२९) जब नदी में भयंकर बाढ़ आती है और वह नहीं उतरती तब कोई मनुष्य अपनी अँगूली काटकर उसके लोही से नदी की पूजा

करते हैं। थोड़े समय के पश्चात् जब नदी उतर जाती है तो ऐसा मानता है कि मैंने अपनी अँगूली काटकर नदी को चढ़ाई इसलिये नदी उतर गई; यह तो बिल्कुल स्थूल मिथ्यात्व है। अँगुली के एक रजकण का भी आत्मा ने ग्रहण नहीं किया है और उसका त्याग भी आत्मा नहीं कर सकता। अँगुली के अनन्त रजकणों की क्रिया स्व-तंत्र है और उसके कारण बाढ़ नहीं उतरी है। वह जीव पानी की एक-एक समय की क्रिया को अथवा अँगुली को प्रत्येक समय की क्रिया को तो जानता नहीं है, स्थूल ज्ञान मे मात्र स्थूल वस्तु को देखने से "यह मैंने किया" ऐसा अज्ञान से मानता है। आत्मा के आहार या देह ही नहीं है, तब देह की क्रिया अथवा देह द्वारा पर की क्रिया को तो आत्मा किस प्रकार करेगा? ज्ञान द्वारा अथवा राग द्वारा पर में तो जीव कुछ भी कर ही नहीं सकता। पर की जो-जो क्रियाएँ होती हैं वे ज्ञान द्वारा या रागद्वारा नहीं होती परन्तु वे स्वतः पर के कारण होती हैं।

(३०) अहो! भगवान आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण है और सर्व पर से बिल्कुल उपेक्षा वाला है। अस्थिरता से पर लक्ष्य होता है और रागादि होते हैं उनको भी स्वभाव दृष्टि के बल से उपेक्षा करनेवाला है। ऐसे आत्मा को देह के साथ एकमेक मानना सो वास्तव में मिथ्यात्व है, और ऐसे मिथ्यात्वी जीव की व्रत, तप, प्रतिक्रमणादि की समस्त क्रियाओं को शास्त्र वास्तव में पाप ही कहते हैं, क्योंकि उसके अल्प पुण्य के साथ मिथ्यात्व का अनंत पाप साथ ही बंधता है।

(३१) पर को दूर करूँ, पर का ग्रहण करूँ अथवा पर को परिवर्तित कर दूँ—यह बात आत्मा के स्वभाव में नहीं है, और 'राग को टालना' यह भी पर्याय बुद्धि है, वास्तव में राग को टालना भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है। राग को दूर करने की दृष्टि भी पर्याय दृष्टि है, पर्यायदृष्टि से राग दूर नहीं होता। अपने ज्ञान उपयोग को अखण्ड चैतन्य स्वभाव में उन्मुख करके एकाग्रता करने से राग होता ही नहीं।

स्वोन्मुख कर! भाई! अपने चैतन्य उपयोग को आत्मोन्मुख कर! बाह्य में तू कुछ भी ग्रहण

या त्याग नहीं कर सकता, इसलिये अपने उपयोग को बाह्य में मत बढ़ा, अपने अन्तर स्वभाव में लाकर वहाँ एकाग्र हो, तो केवलज्ञान हो और तेरे संसार परिभ्रमण का अन्त आये।

जिसने ऐसे ज्ञानस्वभाव को माना और उसका आदर किया उसने अनन्त तीर्थंकरों-सन्तों को माना है और उनका आदर किया है, उसीने अपने आत्मा को माना है।

(३२) आत्मा के श्रद्धा–ज्ञान किसका अवलम्बन लेते हैं? आत्मा के श्रद्धा–ज्ञान किसी परवस्तु का देव–गुरु–शास्त्र का अथवा रागादि का अवलम्बन नहीं करते, अपने आत्म–द्रव्य का ही अवलम्बन करते हैं। आत्म–द्रव्य अनन्तगुणों से अभेद है, उसमें अपने उपयोग को उन्मुख कर तो सम्यक् श्रद्धा–ज्ञान हों। यहाँ ज्ञान को देह की शंका नहीं करना' अर्थात् ज्ञान स्वभाव में निःशंक होना–ऐसा आचार्यदेवने आदेश किया है। आचार्यदेव स्वयं उपदेश के या लिखने के विकल्प में नहीं रुके हैं और सामनेवाले जीव को भी उपदेश सुनने के विकल्प में रुकने को नहीं कहते परन्तु स्व-भावोन्मुख होने को कहते हैं–स्व-भावोन्मुख होकर निःशंक होने को कहते हैं। महान् अद्भुत रचना है। अन्तिम गाथाओं में अद्भुत वर्णन है। ज्ञान को देह की शंका नहीं करना चाहिये और अस्थिरता से देह की ओर लक्ष्य जाने पर आहारादि का किंचित् राग हो जाये तो वहाँ से उपयोग हटाकर सम्पूर्णरूप से स्वरूप में स्थिर होने की भावना है। आहारादि का ग्रहण-त्याग आत्मा नहीं करता–इस प्रकार श्रद्धा की बात भी साथ ही साथ बतला दी है।

(३३) (यहाँ टीका में 'ज्ञान' कहने से 'आत्मा' समझना चाहिये क्योंकि अभेद विवक्षा से लक्षण में ही लक्ष्य का व्यवहार किया जाता है, इस न्याय से टीकाकार आचार्यदेव आत्मा को ज्ञान ही कहते आये हैं।)

'ज्ञान' परद्रव्य का किंचित् भी ग्रहण या त्याग नहीं करता अर्थात् 'आत्मा' ही परद्रव्य का किंचित् ग्रहण–त्याग नहीं करता ऐसा समझना चाहिये। ज्ञान के देह नहीं है–ऐसा कहने से आत्मा के ही देह नहीं है ऐसा समझना चाहिये। अभेद विवक्षा से ज्ञान को आत्मा कहना उसे यहाँ व्यवहार

कहा है। परन्तु आत्मा ज्ञानद्वारा या रागद्वारा देहादि का कुछ कर सके—ऐसी मान्यता सो व्यवहार नहीं किन्तु मिथ्यात्व है। यहाँ तो ज्ञान स्वभाव को ही आत्मा कहा है इससे 'आत्मा में राग होता है' यह बात भी निकाल दी है। बाह्य की वस्तुओं का ग्रहण—त्याग आत्मा करे—ऐसा कहीं व्यवहार नहीं है। अधिक तो ज्ञान को आत्मा कहने का व्यवहार है वहाँ भी अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेने का प्रयोजन है। परन्तु ज्ञान और आत्मा ऐसे भेद का अर्थात् व्यवहार का लक्ष्य छोड़ने योग्य है; तब फिर राग को अथवा शरीरादि को आत्मा कहने की बात तो कहाँ रही?

पर के ग्रहण—त्याग की मान्यता छोड़कर, ऐसे ज्ञान स्वभाव को ग्रहण करने का पुरुषार्थ करके उपयोग को उसमें एकाग्र करने से एक समय में पूर्ण सब कुछ जानले वैसी परमात्मदशा प्रगट होती है उसी की यह विधि कही गई है।

(३४) "ज्ञानस्वरूप आत्मा अमूर्तिक है और आहार तो कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलमय मूर्तिक है; इससे परमार्थ से आत्मा के पुद्गलमय आहार नहीं है। पुनश्च, आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है कि वह परद्रव्य को तो ग्रहण ही नहीं करता। स्वभावरूप परिणमन अथवा विभावरूप परिणमन, अपने ही परिणामों का ग्रहण-त्याग है, परद्रव्य का ग्रहण—त्याग तो किंचित् भी नहीं है।

इसप्रकार आत्मा के आहार न होने से उसके देह ही नहीं है।"

ज्ञानस्वरूपी आत्मा अपने ज्ञान के द्वारा पर का ग्रहण नहीं कर सकता। पर के त्रिकाली द्रव्य को, उसके गुणों को अथवा उसकी प्रत्येक समय की पर्याय को छद्मस्थ जीव जान भी नहीं सकता तो वह पर का ग्रहण या त्याग कहाँ से करेगा? असंख्य समय के स्थूल ज्ञान से स्थूल पदार्थ ही ज्ञात होते हैं।

आत्मा या तो त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से परिणमित होकर पूर्ण निर्विकार दशारूप होता है और नहीं तो परवस्तु के ग्रहण-त्याग की मिथ्या मान्यता करके विकाररूप होता है; इसके अतिरिक्त आत्मा अन्य कुछ भी पर का ग्रहण-त्याग नहीं करता। ज्ञानी स्वभाव के आश्रय से परिणमित होकर निर्मल परिणाम का ग्रहण

करता है और अज्ञानी पराश्रय से परिणमित होकर विकार परिणाम का ग्रहण करता है।

(३५) ज्ञानी निर्मल परिणाम को ग्रहण करता है—इसका क्या अर्थ हुआ ? ज्ञानी भी अपने ज्ञान में एक-एकसमय के निर्मल परिणाम को तो पकड़ नहीं सकता, परिणाम के ग्रहण पर उसका लक्ष्य नहीं है, परन्तु अपने अभेद स्वभाव की रुचि से द्रव्य में परिणाम की अभेदता करने से निर्मल परिणाम ही होते जाते हैं, इससे ज्ञानी को निर्मल परिणाम का ग्रहण कहा है; परन्तु एक-एक परिणाम पर ज्ञानी का लक्ष्य नहीं है त्रिकाली द्रव्य पर ही लक्ष्य है। एक समय को पकड़ना चाहे तो भी त्रिकाली द्रव्य में ही अभेद होना आता है। त्रिकाली स्वभाव में अभेद हुए बिना ऐसा ज्ञानसामर्थ्य प्रगट नहीं होता जो एक समय को जान सके। एक परिणाम को पकड़ने जाते हुए उपयोग स्वभाव में अभेद होकर केवलज्ञान होता है। इसप्रकार अपने द्रव्यस्वभाव की ओर उन्मुख होने से निर्मल परिणति होती जाती है और राग का त्याग होजाता है। पूर्ण निर्मलता होने से ज्ञान में एक-एक समय में समस्त पदार्थ ज्ञेयरूप से ज्ञात होते हैं। स्वभाव के लक्ष्य से निर्मल परिणाम का ग्रहण और विकारी परिणाम का त्याग होजाता है, परन्तु परिणाम के ग्रहण-त्याग पर ज्ञानी का लक्ष्य नहीं है। परिणाम के ग्रहण-त्याग पर लक्ष्य जाने से तो राग का उत्थान होता है; परिणाम के लक्ष्य से एक-एक परिणाम ज्ञात नहीं होता। एक समय के सूक्ष्म परिणाम को पकड़ने जाते हुए त्रिकाली स्वभाव की रुचि के बल से उपयोग सूक्ष्म होकर, जिसमें से परिणाम प्रगट होता है—ऐसे परिणामी द्रव्य में अभेद होता है और केवलज्ञान होता है, वह ज्ञान त्रिकाली द्रव्य को और एक-एक समय की पर्याय को जानता है।

पर का कुछ करने की मान्यता रूप मिथ्यात्व भाव का सेवन करे तो स्वभाव की रुचि छूट जाती है और मलिन परिणाम की उत्पत्ति होती है; इससे अज्ञानी के तो मलिन परिणाम का ग्रहण है। ज्ञानी को स्वभाव की रुचि होने से स्व-द्रव्य में ही उपयोग की एकता होती है और प्रतिसमय निर्मल परिणाम उत्पन्न होता है, इससे ज्ञानी के

निर्मल परिणाम का ग्रहण होता है और मलिन परिणाम का त्याग होजाता है। इसप्रकार प्रति समय होता है परन्तु ज्ञानी का ज्ञान उस समय-समय के निर्मल परिणाम को नहीं पकड़ सकता, समय-समय के सूक्ष्म परिणाम को ग्रहण करने जाने से त्रिकाली द्रव्य में उपयोग की एकाग्रता होजाती है।

(३६) ज्ञान की पर्याय तो एक ही समय को है, वह पर्याय कहीं दो समय नहीं रहती; परन्तु उसका उपयोग असंख्य समय तक बढ़े-ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। केवली भगवान के तो पूर्ण ज्ञान होने से उनका ज्ञान प्रत्येक समय में ही सबकुछ जानता है। परन्तु छद्मस्थ को अल्पज्ञान होने से उसका उपयोग असंख्य समय तक बढ़कर कार्य करता है. वह असंख्य समय का उपयोग सूक्ष्म एक समय को नहीं पकड़ सकता। ज्ञान में एक समय कब पकड़ा जाता है? जब ज्ञान द्रव्यस्वभाव में लीन होकर पूर्ण परिणमित हो तब वह एक समय को जानता है।

(३७) प्रत्येक जीव के ग्रहण-त्याग तो अपने परिणाम का ही होता है, पर का ग्रहण-त्याग कोई जीव कर ही नहीं सकता। अज्ञानी को वस्तुस्वभाव की खबर नहीं है इससे वह पर का ग्रहण-त्याग करना मानता है. परन्तु उसके भी अपने परिणाम का ही ग्रहण-त्याग है, पर का किंचित् मात्र ग्रहण-त्याग उसके नहीं है; उसके अज्ञानभाव के कारण अपने शुद्धपरिणाम का त्याग और अशुद्ध परिणाम का ग्रहण है। ज्ञानी का अपने शुद्ध-स्वभाव की श्रद्धा के बल से प्रति-समय अपने शुद्ध परिणाम का ग्रहण और अशुद्ध परिणाम का त्याग है।

ज्ञानी को परिणाम के ग्रहण-त्याग करने का विकल्प नहीं है, उसके पर्यायदृष्टि ही नहीं है, त्रिकाल द्रव्य दृष्टि से उसके परिणाम का ग्रहण-त्याग हो जाता है। यदि एक समय को देखने जाये तो पर्याय-दृष्टि है और पर्याय दृष्टि मिथ्यात्व है; इससे 'पर्याय का ग्रहण' ऐसा कहते ही ज्ञानी को त्रिकाली द्रव्य स्वभाव की ओर उन्मुख होना बनता है। ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि रहने से प्रतिक्षण निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है और विकार नष्ट होता है, इससे ज्ञानी को उस उस परिणाम का ग्रहण और त्याग कहा है, परन्तु

पर्याय के ग्रहण-त्याग पर ज्ञानी की दृष्टि नहीं है।

(३८) द्रव्य में, गुण में और पर्याय में—तीनों में वस्तु की सत्ता है, वस्तु का वास्तु अर्थात् वस्तु का स्थान द्रव्य-गुण-पर्याय में है। अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के बाहर वस्तु की कोई सत्ता नहीं है इससे वस्तु पर में कुछ भी नहीं कर सकती। आत्मा के द्रव्य गुण पर्याय में आत्मा की प्रभुता है, पर वस्तु में आत्मा की प्रभुता नहीं है। आत्मा में अपनी प्रभुता सत्ता, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, ज्ञान, सुख, वीर्य इत्यादि अनन्तगुण हैं और उन गुणों का प्रतिसमय स्वतंत्र परिणमन है। आत्मा के अपने गुणों के परिणाम का ग्रहण—त्याग है, किन्तु आत्मा का कोई गुण या पर्याय बाह्य में नहीं है इससे बाह्य वस्तु में कुछ भी ग्रहण—त्याग आत्मा नहीं कर सकता। आत्मा अपने स्वभावरूप परिणमित हो अथवा विभावरूप परिणमित हो, स्वभाव की रुचि रूप परिणमित हो या पर की रुचि रूप परिणमित हो, परन्तु पर वस्तु का ग्रहण या त्याग तो उसके किसी भी प्रकार नहीं है। स्वभावरूप परिणमित हो तो निर्मल परिणाम का ग्रहण करता है और विभावरूप परिणमित हो तो मलिन परिणाम को ग्रहण करता है, परन्तु ज्ञान स्वरूपी आत्मा के पर का ग्रहण-त्याग नहीं है। ज्ञान स्वरूपी आत्मा को आहार का ग्रहण नहीं है, इसलिये ज्ञान के देह ही नहीं है। शरीर तो आहार से निर्मित होता है, कहीं आत्मा के ज्ञान में से शरीर का निर्माण नहीं होता। चैतन्य के आहार का ग्रहण नहीं है इसलिये आहार द्वारा निर्मित शरीर भी जीव के नहीं है।

(३९) यहाँ तो आत्मा को त्रिकाल आहार रहित ही कहा है। अज्ञानी लोग केवली भगवान के भी कवलाहार का होना मानते हैं; परन्तु केवली के व्यवहार से भी आहार नहीं कहा जाता। क्योंकि केवली भगवान के ज्ञान पूर्ण परिणमित हो गया है, उनके व्यवहारनय ही नहीं रहा इससे उनके आहार हो ही नहीं सकता। केवली को पर्याय की ओर उन्मुखता ही नहीं रही और शरीर की ओर का लक्ष्य भी नहीं है, इससे उनके आहार हो ही नहीं सकता। व्यवहारनय ही नहीं रहा, और शरीर पर से

लक्ष्य छूट गया, फिर उनके आहार कैसे होगा ? अन्य रागी जीवों के व्यवहार से आहार कहा जाता है, परन्तु केवली के तो व्यवहार भी नहीं है। परमार्थ से तो आहार किसी भी जीव के नहीं है।

पुनश्च, केवली भगवान को पूर्ण आत्मस्वभाव के आश्रय से परिणमित होने से प्रत्येक समय का सूक्ष्म उपयोग होगया है, उनके आहार हो ही नहीं सकता। प्रत्येक समय का ज्ञान का उपयोग होगया है और परमाणु के प्रत्येक समय के परिणमन को जानते हैं उनके आहार नहीं होता। केवली को तो पूर्ण प्रमाण ज्ञान होगया है उनके नय नहीं होते। साधक श्रुतज्ञानी के ही निश्चय व्यवहारनय होते हैं। साधक जीव के निश्चय की मुख्यता से ही साधकत्व बना हुआ है। यदि एक समय भी व्यवहार की मुख्यता हो जाये तो साधकत्व स्थिर न रहे। व्यवहार की मुख्यता हो तो पर्याय दृष्टि होजाये और मिथ्यात्व हो जाये। साधक का एक समय भी स्वभाव की एकता के बिना नहीं जाता; यदि एक समय भी स्वभाव की ओर की उन्मुखता हटकर पर्याय की ओर उन्मुखता होजाये तो मिथ्यात्व हो। साधक के स्वभाव की एकता से प्रति समय निर्मल परिणाम का ग्रहण होता है।

नव-तत्त्व

[पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

(१) भगवान ने प्रवचन में क्या कहा है ?

यह प्रवचनसार की १९२ वीं गाथा है; इसमें सर्व प्रथम, प्रवचन का अर्थ क्या ? ज्ञान, दर्शन सुखादि अनन्तगुणों के पिण्ड स्वरूप आत्मा में अनादिकाल से अज्ञान, राग और द्वेष के कारण विकारी अवस्था है। ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा की यथार्थ पहिचान और उसमें स्थिरता करके जिस आत्मा ने अज्ञान राग-द्वेष का नाश किया और मुक्तदशा (जीवनमुक्त दशा) प्रगट की अर्थात् केवलज्ञान प्रगट किया; उसके पश्चात् उसके जो वाणी खिरी उसमें जो तत्त्व का अर्थात् जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का निरूपण आया उसे 'प्रव-

चन' कहते हैं। उस प्रवचन में क्या उपादेय कहा है वह बात चल रही है। उस प्रवचन में नवतत्त्वों का स्वरूप कहा है; उसमें से, "ध्रुवत्व के कारण शुद्ध आत्मा ही उपलब्ध करने योग्य है"—ऐसा आचार्य भगवान उपदेश देते हैं। भगवान के श्रीमुख से दिव्यध्वनि में आत्मा का यथार्थ स्वरूप आया उसका यहाँ कथन है। आत्मा स्वभाव से तो शुद्ध, ध्रुव, अविचल और नित्य है। राग-द्वेष के विकारी परिणाम उसका मूल स्वभाव नहीं हैं, इसलिये राग-द्वेषादि विकार से रहित इस आत्मा का अनुभव करने योग्य है।

(२) जीव तत्त्व और अजीव तत्त्व

'इस आत्मा का' अर्थात् अपने का अनुभव करने योग्य हैं, ऐसा कहने से इस कथन में से नवतत्त्व प्रगट होते हैं। उसमें प्रथम आत्म पदार्थ का निर्णय होना चाहिये। आत्मा का अनुभव करने योग्य है इस कथन से ऐसा सिद्ध होता है कि आज से पूर्व आत्मा का अनुभव नहीं था, और वर्तमान अनुभव प्रगट करके वह आगामी अनन्तकाल तक रहेगा। अनुभव प्रगट करके अपना नाश नहीं करता परन्तु स्वभाव के अनुभवरूप अनंतकाल तक रहेगा। इस प्रकार आत्मा पूर्व में अज्ञानभाव में था और आगामीकाल में स्वानुभव प्रगट करके स्थित रहेगा; इससे आत्मा अनादि-अनन्त है, वह नवीन उत्पन्न नहीं हुआ है और न उसका कभी विनाश होना है। त्रिकाल अस्तित्व रखने वाला ऐसा आत्मा स्वभाव से तो पर के संबंध से रहित तथा राग-द्वेष विकार रहित, त्रिकाली शुद्ध, ध्रुव वस्तु है, परन्तु अवस्था में उसने अपने स्वभाव से विजातीय स्वभाववाले अजीव द्रव्यों पर अनादि से लक्ष्य किया है; इसलिये उसे अजीव शरीर, वाणी और मन इत्यादि पर द्रव्यों पर से लक्ष्य उठाकर ध्रुव चैतन्य वस्तु पर-त्रिकाली ध्रुव आत्मा पर लक्ष्य करना कहा है। इससे निश्चित हुआ कि चेतना लक्षणवाला जीव द्रव्य है और चेतना लक्षण रहित शरीर, वाणी आदिरूप पुद्गल द्रव्य है। इस प्रकार एक जीव द्रव्य और दूसरा अजीव द्रव्य—ऐसे जीव अजीव दो द्रव्य सिद्ध होते हैं पुद्गल के अतिरिक्त चार अरूपी अजीव द्रव्य हैं, उनकी बात यहाँ मुख्य नहीं है।

(३) जीव की भूल और उसका निमित्त

यदि जीव और अजीव—ऐसे

दो तत्त्व न हों तो जीव को मात्र अपने से अपने को जानने में भूल न हो-परन्तु अपने अस्तित्व से विरुद्ध स्वभाववाले अजीव द्रव्य के अस्तित्व में अपना अस्तित्व मानकर भूल रहा है। अपने स्वभाव का भान न होने से मैं शरीर हूँ, मैं वाणी हूँ, मैं उनका कर्ता हूँ, (जड़पदार्थों के संयोग में अनुकूलता प्रतिकूलता की मान्यता करके) मैं उनका भोक्ता–ऐसे अनेकप्रकार से अजीव में अपना अस्तित्व अज्ञान के कारण मानता आया है। इसप्रकार भूल में निमित्त (आत्मा से विरुद्धस्वभाव वाला अजीवद्रव्य) भी जगत में है, उसके लक्ष्य से जीव अपने यथार्थ अस्तित्व में न्युन होकर पर में अपने अस्तित्व की मान्यतारूप भूल करता है।

(४) जीव और अजीव की संख्या

जिस प्रकार अपना आत्मा है वैसे ही जगत में अन्य अनन्त आत्मा हैं; वे प्रत्येक पृथक्-पृथक् हैं; सब मिलकर एक आत्मा नहीं है और सर्व व्यापक एक आत्मा नहीं है; परन्तु स्वक्षेत्र व्यापक अथवा व्यवहार से वर्तमान शरीर प्रमाण प्रत्येक आत्मा पृथक्-पृथक् है। समस्त आत्मा जीवत्व की अपेक्षा से एक जाति है परन्तु समस्त आत्मा मिलकर एक आत्मा नहीं है; सभी व्यक्तिगत पृथक्-पृथक् हैं। चैतन्य स्वभाववाले आत्मा से विरुद्ध जड़ पदार्थ (पुद्गल) भी अनंत हैं। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से विपरीत स्वभाववाले जड़ पदार्थ न हों तो, (ज्ञाता दृष्टा स्वभाववाला वह आत्मा) ऐसे गुणों से आत्मा को पृथक् करना नहीं रहता। जगत में अन्य जड़ पदार्थ हैं जिनमें ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव नहीं है, उनसे जीव को अपने विशिष्ट गुणों से पृथक् किया जासकता है; इससे जिनमें ऐसे गुण नहीं हैं–वैसे जड़ पदार्थ भी जगत में हैं।

(५) नवतत्त्व

पुनश्च, अनादि से 'जीव' का लक्ष्य अपने स्वभाव से विरुद्ध ऐसे शरीरादि 'जड़' पदार्थों में होने से उसके भूल और विकार है। वह विकार आत्मा के विकृत स्वभाव की अपेक्षा से एक प्रकार का होने पर भी, मन्द और तीव्र ऐसे विकार के दो पक्ष होते हैं; उन्हें 'पुण्य' और 'पाप' कहते हैं; दोनों पक्षों को अभेद करके एक प्रकार कहना हो तो उसे 'आस्रव' कहा जाता

है। जीव उस विकार में रुकता है, विकार रहता है इससे उसे 'बंध' कहा जाता है, उस भूल और राग-द्वेष रूप विकार का रुकना अर्थात् आत्मा का यथार्थ भान करके स्वरूप स्थित होता सो 'संवर' है। विकार का एक देश कम होना अर्थात् स्वभाव शुद्धि का एक देश बढ़ना सो 'निर्जरा' है। विकार का अत्यन्त क्षय होना और स्वभाव का सर्वथा 'प्रगट' होना सो 'मोक्ष' है। आत्मा में मुक्तदशा प्रगट होने विकार से सर्वथा पृथक्त्व होता है। जिसे भूल और विकार दूर करना है उसे आत्मा की यथार्थ प्रतीति करके मुक्तदशा प्रगट करना चाहिये। जिसे मुक्तदशा अर्थात् आत्मा का सम्पूर्ण शुद्ध अनुभव करता है, उसे प्रथम जीव–अजीवादि नवतत्त्व बराबर समझकर आत्मा का यथार्थ निर्णय करना चाहिये। इस प्रकार जोव, अजीव के उपरान्त पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ऐसे कुल नवतत्त्व सिद्ध होते हैं। इस प्रकार नव पदार्थ सिद्ध न हो तो आत्मा को, विकार दूर होकर सुखी होने की–मुक्तदशा करने की ध्वनि उत्पन्न नहीं होती।

(६) धर्म, अधर्म और उसका फल

आत्मा का त्रिकाली स्वभाव तो शुद्ध है, उपाधि रहित, आकुलता-रहित है। परन्तु वर्तमान दशा में सुख, शान्ति या धर्मरूप होता है; यदि वह सुख शान्ति वर्तमान पर्याय में प्रगट हो तो उसे प्रगट करना नहीं रहता। धर्म का स्वरूप ऐसा है कि जो वर्तमान में ही सुख-शान्ति देता है; अधर्म भी वर्तमान में ही दुःख और अशान्ति देता है। धर्म इस समय करे और उसका फल भविष्य में आये–ऐसा धर्म का स्वरूप नहीं है; अधर्म वर्तमान में करे और उसके फल स्वरूप भविष्य में नरक में जाये–ऐसा नहीं है। धर्म-अधर्म का फल वर्तमान में ही अनाकुलता शांति अथवा आकुलता-अशान्ति-रूप है।

जब जीव ऐसा कहता है कि मुझे धर्म करना है–सुखी होना है" तब वह अपने को पर से पृथक् करता है कि मैं ज्ञाता-दृष्टा स्वभाववाला पदार्थ हूँ; इससे सिद्ध होता है कि उससे विरुद्ध स्वभाववाले जड़ पदार्थ भी जगत में विद्यमान हैं।

(अपूर्ण)

आत्मधर्म

२४७६ पौष

वर्ष पाँचवाँ, अङ्क नवमा

नव-तत्त्व

[गतांक से आगे]

[पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

अर्थात् चैतन्यगुण से विपरीत गुण वाले अचेतन पदार्थ जगत् में हैं। जिसप्रकार 'आत्मा ज्ञाता है'– ऐसा जानने योग्य है, उसीप्रकार न जाननेवाले शरीर, वाणी, कर्म इत्यादि अजीव तत्त्व हैं, वे भी जानने योग्य हैं। इसप्रकार जीव और अजीव ऐसे दो तत्त्वों को जो स्वीकार न करे उसे शरीरादि अजीव पदार्थों से भिन्न इस आत्मा का भेदज्ञान करना नहीं रहता–आत्मा को पर से पृथक् करने की बात नहीं रहती।

'मैं शुद्ध, ज्ञायकमात्र आत्मा हूँ। मुझे अपनी अवस्था में व्यक्त परमानन्द प्रगट करना है'–ऐसी ध्वनि उठते ही नव पदार्थ सिद्ध होजाते हैं, वह यहाँ बतलाना है।

(७) जीव-अजीव और उनके गुण-पर्याय

आत्मा का स्वभाव जानना, देखना, शांति, सुख इत्यादि है, वह ज्ञाता-दृष्टापना अपने स्वभाव में ही रुका हो तो उसे शांति-सुख या मुक्ति प्रगट करना नहीं रहे; परन्तु अज्ञान के कारण अनादि से अपने को न जानने के कारण जड़ में अपना अस्तित्व मानकर शरीरादि परपदार्थों के लक्ष्य में रुकता है। आत्मा का त्रिकाली द्रव्यस्वभाव, आत्मा के गुण और आत्मा की पर्यायों का वास्तविक स्वरूप न जानने से, अज्ञानी आत्मा जड़वस्तु, जड़ के गुण और जड़ की दशाएँ– इसप्रकार जड़ के तीनप्रकार हैं, उनमें अपना अस्तित्व मानता है। 'मैं ज्ञाता-दृष्टा आत्मा हूँ, ज्ञातारूप से ज्ञात होऊँ उतना ही मैं हूँ, शरीरादि जड़पदार्थ, उनके गुण और उनकी अवस्थाएँ मुझ से पर हैं, मै उनसे पृथक् हूँ, मैं नित्य-स्थायी पदार्थ हूँ। ज्ञान, दर्शन, सुखादि अनन्तगुणों का पिण्ड हूँ, मैं अपनी वर्तमानदशा में 'जड़ में सुख है–इन्द्रियों में सुख है'–ऐसा अज्ञान के कारण मानता था, वह अज्ञानदशा बदल सकती है कि मैं

शरीरादि जड़ पदार्थ नहीं हूँ, तथा राग-द्वेषादि विकारी भाव मेरा स्वरूप नहीं है, उनमें मेरा सुख नहीं है, मेरा सुख मुझमें है—इसप्रकार यदि आत्मा वस्तु, उसके गुण और उसकी अवस्था को शरीर के द्रव्य-गुण-अवस्था से भिन्न-स्वतंत्र स्वीकार करे तो आत्मा का धर्म समझ सकता है, नहीं तो आत्मा का धर्म नहीं समझ सकता। इसलिये धर्म समझने के जिज्ञासुओं को प्रथम जीव अजीवादि नव पदार्थों का स्वरूप यथार्थ समझना चाहिये। उनमें सबसे पहले के जीव-अजीव दो पदार्थ सिद्ध किये जाते हैं।

जिसप्रकार जाननेवाला जीव पदार्थ है, उसीप्रकार न जाननेवाला अजीव पदार्थ भी जगत में है, उसमें उसके गुण, शक्तियाँ भी हैं। स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इत्यादि जड़ के गुण हैं। यहाँ, जो चैतन्यस्वभाव है वह आत्मा है और स्पर्शादि स्वभाववाला जड़ है। जड़ में यहाँ पुद्गल की ही बात कहना है। धर्मास्ति अधर्मास्ति आदि चार द्रव्य हैं उनकी बात नहीं है।

पुनश्च, जिसप्रकार आत्मा में प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न भाव होते हैं—आत्मद्रव्य में अवस्थाएँ बदलती हैं, उसीप्रकार प्रतिक्षण जड़ पदार्थ भी बदलता है। यदि जड़पदार्थ शरीर, वाणी, धन, मकानादि बदलते न हों तो आत्मा में होनेवाले भिन्न-भिन्न भाव अच्छे-बुरे भावों का निमित्त नहीं रहता। अच्छे-बुरे विकारी भावों में, जड़ के द्रव्यगुण त्रिकाली होने से निमित्त नहीं होते। विकार वर्तमान होने से जड़ का वर्तमान अर्थात् जड़की वर्तमान बदलती हुई दशा अच्छे-बुरे का निमित्त होती है, इसलिये आत्मा की भाँति जड़ भी बदलता है—ऐसा स्वीकार करना चाहिये। जड़ का परिणमन स्वीकार न किया जाये तो ज्ञान का ज्ञेय और भूल का निमित्त भी सिद्ध नहीं होगा; ऐसा होने से भूल भी सिद्ध न होगी, और यदि भूल ही सिद्ध न हो तो फिर किसे दूर करेगा?

मैं शुद्ध हूँ—ऐसा निर्णय किया वहाँ, मुझमें अशुद्धदशा थी, उसके निमित्त थे, अच्छे-बुरे भाव थे और उनके निमित्त भी थे; जिसप्रकार मेरे अच्छे-बुरे भाव बदलते हैं उसीप्रकार सामनेवाले निमित्त भी बदलते हैं। यदि निमित्तों में परिवर्तन न होता हो तो यह अच्छा है, यह बुरा है, पहले निरोगता

के कारण यह भी ठीक थी और वर्तमान में रोग होने से ठीक नहीं है–ऐसी कल्पना न हो। इसलिये सामनेवाले जड़पदार्थ भी बदलते हैं। इसप्रकार जीव और अजीव-दो प्रकार के द्रव्य वस्तुरूप से अनादि-अनन्त हैं और उनमें प्रतिक्षण दशाएँ बदलती रहती हैं, इससे उन दोनों की नित्यता और परिणामीपना–दोनों सिद्ध होते हैं।

मैं ज्ञाता-दृष्टा पदार्थ हूँ, आनन्द मेरा स्वभाव है, मुझे उसका आनन्द लेना है। संसार में अज्ञानी जीव भी खा का या रोटी का स्वाद नहीं लेता, परन्तु मुझे इसमें सुख है–ऐसी मिथ्या मान्यतारूप आकुलता का स्वाद लेता है। अज्ञानी जीव भी लड्डू, पेड़े आदि नहीं खाता, मात्र आकुलता का उपभोग करता है। जिसे आत्मा के आनंद को भोगना हो–आत्मा के आनन्द का अनुभव करना हो उसके लिये प्रथम आत्मा को यथार्थ समझने की यह बात है।

दाल, भात इत्यादि अच्छे–बुरे पदार्थ पर हैं। यदि वे परिवर्तित न होते हों–जड पदार्थ में स्थायी रहकर बदलने की शक्ति उनमें न हो तो वे शुभ-अशुभ विकार में निमित्त नहीं हो सकते; किन्तु अच्छी-बुरी आदि अनेकप्रकार की विकारी प्रवृत्तिओं में अनेकप्रकार के भिन्न-भिन्न जड़पदार्थों की अवस्थारूप निमित्त तो देखने में आते हैं, इसलिए काली-सफेद, कड़वा-मीठी इत्यादि भिन्न-भिन्न अवस्थारूप से बदलने का जड़ का स्वभाव है, इसप्रकार अजीवतत्व को जानना चाहिये।

मुझे आत्मा की सुख-शांति चाहिये है, आकुलता नहीं चाहिये; उसमें जीव, अजीव तथा विकारी और अविकारी अवस्थाएँ–इन सबकी सिद्धि होती है और उसीमें नवतत्वों का समावेश होजाता है। उसमें से जीव और अजीव ऐसे दो पदार्थ सिद्ध हुए।

मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ, स्वभाव से शुद्ध हूँ, मेरा सुख अन्तर चैतन्यस्वभाव में है; उसे व्यक्त करके मैं सुखी होना चाहता हूँ; इसप्रकार आत्मा को और उसके त्रिकाली स्वभाव को न जाने तो वह सुख प्रगट नहीं कर सकता। और, त्रिकाली स्वभाव शुद्ध होने पर भी वर्तमान अवस्था में पर को अपना मानकर मलिनता करता है, पर में सुख मानता है। वहाँ,

पर–शरीरादि अजीव पदार्थ जिनकी ओर स्वतः लक्ष्य करके मलिनता–अज्ञान राग-द्वेष करता है वे भी सिद्ध होते हैं। वर्तमान अवस्था में अशुद्धता–दुःख और उसके निमित्त हैं, उन्हें यदि न जाने तो भी दुःख को दूर करके सुख प्रगट करने का प्रयत्न नहीं करेगा।

(८) भ्रम

कितने ही जीवों का अभिप्राय है कि "जगत में सर्वव्यापी एक ब्रह्म है, और जो यह सब दिखाई देता है सो सब भ्रम है; वास्तव में यह कोई पदार्थ नहीं है। जिसप्रकार डोरी में सर्प का भ्रम होजाता है, उसीप्रकार यह सब भ्रम है।" वास्तव में उनका यह अभिप्राय मिथ्या है, क्योंकि रस्सी में सर्प का भ्रम होता है तो सर्प का अस्तित्व अन्यत्र है या नहीं? यदि जगत में अन्यत्र कहीं सर्प का अस्तित्व ही न हो तो सर्वथा असत् पदार्थ की रस्सी में कल्पना कैसे हो? नहीं होती। रस्सी को ही सर्प मानना वह भ्रम है; क्योंकि रस्सी में सर्प का अभाव है, परन्तु सर्प में सर्प का अभाव नहीं है, जगत में तो सर्प का अस्तित्व है। इसीप्रकार आत्मा में शरीरादि अजीव पदार्थों का अभाव है, परन्तु जगत में उनका अभाव नहीं है। अजीव पदार्थ का अपना अपने में अस्तित्व तो है ही, वह सर्वथा भ्रम अर्थात् असत् नहीं है, परन्तु उस अजीव को अपना मानना सो भ्रम है। जिसप्रकार जगत में भिन्न-भिन्न अनेक आत्मा हैं वैसे ही भिन्न-भिन्न अजीव पदार्थ भी हैं।

जगत में रस्सी भी है, सर्प भी है और रस्सी में सर्प मानने-रूप भ्रान्ति भी है। इसीप्रकार इस विश्व में अनन्त जीवपदार्थ हैं, भ्रान्ति में निमित्त अजीव पदार्थ हैं और भ्रान्तिरूप जीव की विकारीदशा भी है; इसप्रकार जीव, अजीव और जीव की भूल–यह तीनों सिद्ध होते हैं।

(९) जीव-अजीव के अंक और अक्षर

जिसप्रकार अंक और अक्षरों के ज्ञान से रहित मनुष्य हिसाब का कार्य नहीं कर सकता, उसी-प्रकार आत्मा के अंक और अक्षर जाने बिना उसे पहिचाना नहीं जासकता। यहाँ "अङ्क" का अर्थ है आत्मा का चिन्ह-लक्षण अथवा

पहिचान। आत्मा का चिन्ह-लक्षण क्या है? इसका जबतक ज्ञान न करे तबतक उसे धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। ज्ञान-दर्शन आत्मा की पहिचान है, जानना-देखना आत्मा को बतलानेवाला लक्षण है।

'अक्षर' जिसका नाश न हो वह अक्षर है। जीव और जड़ दोनों अक्षर अविनाशी हैं। जीव और जड़ के चिन्ह तथा उनका अविनाशी स्वभाव जाने बिना आत्मा और पर को नहीं समझा जासकता। आत्मा और जड़ का लक्षण क्या है? उसे जाने बिना आत्मा को जड़ से पृथक् नहीं जाना जासकता, और यदि आत्मा को जड़ से पृथक् न जाने तो उसे सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म की प्रथम सीढ़ी भी नहीं मिलती।

जड़पदार्थ जोकि शरीरादि अनेकरूप है, उसका लक्षण स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इत्यादि है, उस चिन्ह के द्वारा वह जड़ है—अचेतन है—ऐसा जाना जासकता है। और चैतन्य लक्षण द्वारा जीव को पहिचाना जाता है।

भगवान आचार्यदेव जगत के जीवों को संबोधन करके कहते हैं कि हे जीवो! अनन्तकाल से अपना आत्मा वास्तव में क्या वस्तु है, और उसके अस्तित्व का क्या स्वरूप है—वह तुमने कभी नहीं जाना, यदि वह जाना हो तो विकार और दुःख नहीं रहे। विकार और दुःख तो वर्तमानदशा में है, और उसका निमित्त जड़ पदार्थ है। स्पर्श, रस इत्यादि उसका लक्षण है। स्पर्शादि द्वारा जड़ को और ज्ञानादि द्वारा आत्मा को—इसप्रकार दोनों को पृथक् करके न जाने तो धर्म नहीं होता, इसलिये धर्म करने के जिज्ञासु जीव को प्रथम ही आत्मा और जड़पदार्थ को यथार्थ रीति से भिन्न-भिन्न समझना चाहिये।

समझ, अर्थात् धर्म पर से नहीं होता, क्योंकि भूल करनेवाला भी स्वयं है और उसे दूर करके धर्म का करनेवाला भी स्वयं है।

(१०) जीव में विकार और उसका निमित्त

भूल होती तो आत्मा की दशा में है, परन्तु यदि पर पदार्थ निमित्त न हो तो किसके लक्ष्य से भूल होगी? परलक्ष्य के बिना मात्र स्वभाव के लक्ष्य से भूल नहीं होती। यदि मात्र स्वतः से ही भूल

हो तो भूल स्वभाव होजाये, परन्तु वैसा नहीं है।

जिसप्रकार आत्मा नित्यस्थायी पदार्थ है, वैसे ही भूल में निमित्त अजीवद्रव्य नित्यस्थायी है। जिसप्रकार जीव भूल को प्रतिक्षण बढ़ाता रहता है, उसीप्रकार उसका निमित्त भी प्रतिक्षण अपनी अवस्था को बदलकर स्थित रहनेवाला है। यदि सामनेवाला अजीव द्रव्य बदलता न हो तो आत्मा के सदैव भूल होती होजाये, इसलिये अजीव निमित्त भी एक अवस्थारूप न रहकर नित्य-स्थायी रहकर बदलता है। जीव वैसा लक्ष छोड़कर स्वभावोन्मुख हो तब उसे अजीव का निमित्त नहीं रहता, अर्थात् सामनेवाला निमित्त भी नित्यस्थायी रहकर अन्य दशारूप परिवर्तित होजाता है, और जीव भी नित्यस्थायी रहकर बदल जाता है। इसप्रकार सामनेवाला अजीवद्रव्य भी नित्यस्थायी पदार्थ सिद्ध होता है।

इसप्रकार जो न्याय से समझना चाहे उसे बराबर समझ में आता है कि आत्मा और जड़—ऐसे दो प्रकार के पदार्थ हैं, उनके भिन्न-भिन्न लक्षण हैं; दोनों में नित्यता है। जीव में मोह—राग-द्वेष विकार पलटता है और विकार का निमित्त जो कर्म—अजीव पदार्थ है वह भी परिवर्तित होता है। यदि अजीव पदार्थ स्थायी न हो तो उसका परिवर्तन भी न हो, और परिवर्तन न हो तो उसके विकार में निमित्तपना भी न हो; यदि विकार का निमित्त न हो तो विकार भी न हो, क्योंकि विकार केवल जीवस्वभाव से नहीं होता, परन्तु पर—अजीव के लक्ष्य से होता है; इसलिये सामनेवाला अजीव पदार्थ भी स्थायी है, और उसकी भिन्न-भिन्न अवस्था प्रतिसमय होती रहती है।

आत्मा त्रिकाल अस्तित्व रखने वाला पदार्थ है। उसका लक्षण ज्ञाता-दृष्टापना है। जड़ से भिन्नप्रकार का उसमें चिन्ह हो तो वह जड़ से पृथक् किया जासकता है; और वह अवस्था में बदलता हो तो बदलकर सुखी हो और दुःख को दूर करे। इसप्रकार आत्मद्रव्य, उसके ज्ञानादि गुण और उसकी प्रतिसमय बदलने वाली अवस्था—इन तीनों का पिण्ड आत्मा है। उसीप्रकार जड़द्रव्य, उसके स्पर्शादि गुण और उसकी बदलने वाली पर्याय—इन तीनों का पिण्ड सो अजीव-जड़ है।

इसप्रकार जीव और अजीव दो तत्व सिद्ध हुए।

(११) पूर्ण सुख की प्राप्ति का उपाय

पुनश्च, जीवद्रव्य में प्रतिसमय अवस्था बदलती है। वह अवस्था मलिन और निर्मल ऐसे दो प्रकार की होती है। अज्ञान और रागद्वेषादि के कारण मलिन होती है और अज्ञान रागद्वेषादि के दूर होने पर निर्मल होती है; इसप्रकार जीवद्रव्य में मलिन और निर्मल दशारूप दो प्रकार न माने जायें तो उसे अज्ञान-रागद्वेषादि अर्थात् दुःखों को दूर करना और ज्ञान-वीतरागता अर्थात् सुख प्राप्त करना—ऐसा कुछ रहता ही नहीं; इसलिये जीव में मलिन—दुःखरूप अवस्था है, और उस दुःखरूप अवस्था को दूर करके निर्मल—सुखरूप अवस्था उसे प्रगट करना है। जीव, उसकी पुण्य—पाप—आस्रव—बंधरूप विकारी अवस्था, विकार का निमित्त अजीव, विकाररहित साधक अवस्था—निर्मलदशा—संवर, निर्जरा और पूर्ण निर्मलदशा—मोक्ष, इन नवतत्त्वों का यथार्थस्वरूप जैसा है वैसा समझकर नवभेद के विकल्प से रहित अपने शुद्ध आत्मा को यथार्थ जानना वह सुख प्रगट करने का सच्चा उपाय है। और इसप्रकार आत्मा को पहिचानकर आत्मा में बारम्बार स्थिरता का अभ्यास करके सम्पूर्ण राग—द्वेष को दूर करना सो पूर्ण सुख प्राप्त करने का उपाय है।

जीव विकारदशा में, पर—अजीव के लक्ष्य से सुख—दुःख की कल्पना करता है, इससे उसे एकसमय की विकारी मलिन अवस्था है। यदि एकसमय की मलिन अवस्था जीव में न मानी जाये तो उस मलिन अवस्था का नाश करूँ और निर्मल अवस्था प्रगट करूँ अर्थात् शरीरादि अजीव पदार्थों का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होऊँ—ऐसे भाव का अस्तित्व नहीं रहता।

(१२) पापतत्व

जीव और अजीव दो पदार्थ सिद्ध हुए। जीव का लक्ष्य पर—अजीव की ओर था वहाँ हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रहादि के पापभाव क्षणिक होते थे। यदि वे पापभाव स्वीकार न किये जायें तो उन हिंसादि पापभावों को दूर करके मैं धर्म करूँ—ऐसा भाव ही उसके न हो; परन्तु जीव के हिंसादि पापभाव

छोड़ने का भाव होता है, इसलिये पापतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है।

हिंसा, झूठ इत्यादि भाव जीव में होते हैं वह कुछ है या नहीं? वे पापरूप भाव आत्मा की विकारी पर्याय है। पाप पर में नहीं होता, आत्मा की क्षणिक दशा में होता है। यदि आत्मा की क्षणिक दशा में पापतत्त्व के अस्तित्व की स्वीकृति करे तो 'मुझे पाप नहीं करना है'—ऐसी ध्वनि निकले, किन्तु यदि वर्तमान क्षणिक अवस्था में पापतत्व को स्वीकार न किया जाये तो 'मुझे पाप नहीं करना है'—ऐसी ध्वनि भी न हो। इसलिये पापतत्व है।

स्वभाव से च्युत होकर जीव का स्त्री-पुत्र-मकानादि पर लक्ष्य जाता है, उस सम्बन्धी राग-द्वेष होता है, उस भाव को अर्थात् पाप को स्वीकार न करे तो उसे धर्म करने का प्रसंग ही नहीं रहता।

(१३) मलिनतत्व और निर्मलतत्व

पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—यह साततत्व त्रिकाली पदार्थ नहीं हैं, परन्तु त्रिकाली जीव पदार्थ की क्षणिक अवस्थाएँ हैं। उनमें पुण्य-पाप, आस्रव और बंध मलिनभाव हैं, संवर, निर्जरा अपूर्ण निर्मल भाव हैं और मोक्ष पूर्ण निर्मलभाव है। मोक्ष होने के पश्चात् जीव अनंतकाल सदैव परिपूर्ण निर्मल ही रहता है, फिर कभी उसे किंचित् मलिनता नहीं होती। मलिन चार भाव कहे हैं उन्हें यदि न माना जाये तो विकाररहित होकर स्वभाव को—परिपूर्णनिर्मलदशा को प्रगट करना नहीं रहता, क्योंकि एकसमय की अवस्था में मलिनता माने तो स्वभाव को पहिचानकर मलिनता को दूर करने का उपाय करे, किन्तु यदि मलिनता को ही न माने तो उपाय किसका करेगा?

पुनश्च, उस पापभाव का अस्तित्व जीव की अपनी दशा में है। पाप शरीर, पुत्रादि में नहीं रहता; अपनी वर्तमानदशा में होता है। अपनी क्षणिकदशा में पाप का अस्तित्व स्वीकार न करे तो "यह विकार क्षणिक है, मेरा स्वभाव त्रिकाली ध्रुव है, उसमें यह क्षणिक विकार नहीं है"—ऐसी स्वीकृति न आये और उस स्वीकृति के बिना "मुझे त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुख होना है"—ऐसा उसे नहीं रहता। इसलिये जीव की क्षणिकदशा में पापभाव होते हैं, यह सिद्ध होता है।

जीव और अजीव यह दो मूल पदार्थ हैं। पुण्य—पाप इत्यादि पदार्थ अजीव के सद्भावरूप निमित्त से या अभावरूप निमित्त से होनेवाली जीव की अवस्थाएँ हैं। उसमें पापरूप अवस्था को सिद्ध किया। (अपूर्ण)

मुनिवरों का सहज वैराग्य

[नियमसार गाथा ३८ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के व्याख्यानों से]

अपने शुद्धात्मा को ही उपादेय जानकर उसी में लीन होने वाले मुनिवर कैसे होते हैं उसका वर्णन करते हैं। वे मुनि, सहज वैराग्यरूपी महल का जो शिखर है उसके शिखामणि हैं। स्वभाव की भावना होने से परभावों के प्रति स्वाभाविक वैराग्य होता है। स्वभाव के भान बिना बाह्य में त्याग कर दिया हो तो वह कहीं वैराग्य नहीं है। स्वभाव के भान बिना कषाय की मन्दता करके त्यागी होजाये, तथापि वह सहज वैराग्य नहीं है और उसका त्याग सच्चा त्याग नहीं है। जिसके शुद्धात्मा का ग्रहण नहीं है उसके परभावों का त्याग नहीं होता। परभावों को ही जो उपादेय मानता है उसके वैराग्य कैसा?

सहज ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, मेरा स्वरूप जड़ रजकणों में अथवा राग में नहीं है। पंचमहाव्रत का पालन करूँ—ऐसा विकल्प भी राग है—बंधन है, वह मेरा स्वरूप नहीं है;—ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव के भान में ज्ञानी को सहज वैराग्य होता है। चौथे गुणस्थान से ही सहज वैराग्य होता है। सम्यग्दर्शन सहज वैराग्यरूपी महल का पाया है और मुनि तो उस सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के मणि समान हैं! उनकी परिणति अपने सहज स्वभाव में अत्यन्त ढल गई है। स्वभाव से ही स्वभाव में आकर जिनकी परिणति पर से उदास होगई है ऐसे वैराग्य–शिरोमणि मुनिवरों को एक अन्तरतत्व ही उपादेय है।

किसीने एक बाबाजी से एकांत में पूछाः—बाबाजी! कैसी माला फेर रहे हो? बाबाजीने उत्तर दिया—जैसी आदमियों की भीड़ हो वैसी! तात्पर्य यह हुआ कि—यदि अधिक भीड़ हो तो बहुत एकाग्रता का दम्भ करता है और यदि थोड़े से आदमी हों तो माला को एक ओर रख देता है। यह लोगों को दिखाने के लिए दम्भ है, यह पापभाव है। जो लोगों को दिखाने के लिये दम्भ न करे किन्तु अपने परिणामों में ही कषाय की मन्दता करके त्यागी हुआ हो और उससे धर्म मानता हो—ऐसे जीव के भी सच्चा वैराग्य नहीं है। जिस जीव को अंतर में एक शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में भी उपादेय-

बुद्धि नहीं है उसी के सच्चा वैराग्य होता है। ऐसे सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के मणि समान मुनिवरों को शुद्धात्मा ही उपादेय है। शुद्धात्मा को उपादेयरूप से जानना ही धर्म है।

शुद्ध आत्मा ही जिन्हें उपादेय है—ऐसे योगीश्वर परद्रव्यों से पराङ्मुख होते हैं। इस जीव को अपने अन्तरस्वभाव के अतिरिक्त किसी अन्य की शरण नहीं है, किसी पर के साथ सम्बन्ध नहीं है, देवगुरु-शास्त्र भी इस जीव को शरणभूत नहीं हैं, स्वतः अन्तरतत्व है और समस्त परद्रव्योंसे उदासीन है। मुमुक्षु जीवों को सच्चे देव-गुरु के गुणों की अधिकता देखकर उनके प्रति प्रमोद और भक्तिभाव आता तो अवश्य है। निम्नदशा में यदि गुणों की अधिकता देखकर उनके प्रति प्रमोद भाव और भक्ति जागृत न हो तो वह जीव शुष्क है, उसे वास्तव में गुण की रुचि नहीं है। परन्तु देव-गुरु के प्रति जो प्रमोदभाव होता है वह भी राग है, उस राग को यदि शरणभूत माने तो वह अज्ञान है। यदि पर को शरणभूत मानेगा तो पर से उदासीन होकर अपने स्वरूप का आदर कहाँ से करेगा? और यदि देव-गुरु के प्रति जो शुभराग है उसे अपना कर्तव्य मानेगा या उससे कल्याण मानेगा तो वह राग का आदर छोड़कर अपने स्वरूप का आदर कब करेगा? इसलिए सभी निकटभव्य जीवों को एक शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। जो जीव अपने सहज स्वभाव के सन्मुख होने से समस्त परद्रव्यों से पराङ्मुख होगया, अर्थात् एक स्वभाव को ही उपादेय रखा और अन्य सबको बहिरतत्व जानकर उनकी श्रद्धा छोड़ दी है वह धर्मी है।

शुद्धात्मा को उपादेय जानने वाले मुनिवर उत्कृष्ट वैराग्यवंत होते हैं, परद्रव्यों से पराङ्मुख होते हैं—यह बात हुई। पुनश्च, वे मुनिवर कैसे हैं? पंचेन्द्रियों के विस्तार से रहित हैं और मात्र शरीर का ही परिग्रह है। मुनि के पांच इन्द्रियाँ तो होती हैं परन्तु उनका विस्तार नहीं है अर्थात् पाँच इन्द्रियों के रस, रूप आदि विषयों की ओर से उनकी परिणति रुक गई है, उनके मात्र शरीर का ही परिग्रह है। मोर पींछी और कमण्डल होते हैं, परन्तु वे अपने शरीर की रक्षा के हेतु नहीं हैं।

और उन मुनिवरों की बुद्धि स्वद्रव्य में लीन है। पहले अज्ञान-

दशा में पर को अपनेरूप मानकर और रागादि को आत्मा का स्वरूप मानकर ज्ञान वहाँ लीन होता था, अब भेदज्ञान द्वारा शुद्धात्मस्वभाव को ही उपादेय जानकर, ज्ञान को परद्रव्यों की लीनता में से हटाकर स्वद्रव्य में जोड़ा है और शुद्धात्मस्वरूप के विशेष अनुभव द्वारा ज्ञान को स्वद्रव्य में लीन किया है–इसप्रकार जिन्होंने अपने ज्ञान को अपने में ही युक्त कर लिया है–ऐसे वे वीतरागी संत सातवें–छट्ठे गुणस्थान में आत्मानंद में झूलते हैं; प्रतिक्षण विकल्प तोड़कर शुद्धात्मा का साक्षात् अनुभव करते हैं; उन मुनिवरों ने मिथ्यात्व और कषाय को जीत लिया है, इसलिए वे परम जिन हैं; और स्वद्रव्य में युक्त होने से वे योगी हैं; ऐसे परम जिन योगीश्वरों को एक शुद्धात्मा ही आदरणीय है, इसके अतिरिक्त अन्य सब परद्रव्य और परभाव हैं; वह बहिरतत्व है, वह आदरणीय नहीं है।

इस गाथा में उपादेयरूप शुद्धात्मा का वर्णन किया है, और साथ ही साथ मुनिदशा कैसी होती है और आसन्नभव्य जीव कैसा होता है–उसका भी वर्णन आजाता है। योगीश्वरों को एक शुद्धात्मा ही अंगीकार करने योग्य है–ऐसा मुनि का दृष्टान्त लेकर आचार्यदेव कहते हैं कि समस्त आसन्नभव्य जीवों को निजकारण परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अंगीकार करने योग्य नहीं है।

जिसप्रकार मुनिवरों को एक शुद्ध परमात्मा ही उपादेय है, उसीप्रकार समस्त आसन्नभव्य जीवों को अपना शुद्ध परमात्मस्वभाव ही उपादेय है। जो शुद्ध परमात्मस्वभाव को नहीं जानते और उसके अतिरिक्त अन्य को उपादेय मानते हैं, वे जीव आसन्नभव्य नहीं किन्तु दूरभव्य हैं। निम्न साधकदशा में शुभ या अशुभ भावों में भी युक्तता होती हो, किन्तु जो अत्यन्त निकट भव्य हैं ऐसे जीव अन्तरश्रद्धा में एक शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भाव को अपना स्वरूप नहीं मानते, उनको शुद्धात्मा का ही आदर है और अन्य सभी भावों का निषेध है। साधक की दृष्टि का बल शुद्धस्वभाव में ही है। संतमुनिदशा जैसी आत्मस्थिरता न हो सके तो हे जीव! श्रद्धा तो ऐसी ही रखना कि मुझे एक शुद्ध कारण परमात्मा के अतिरिक्त अन्य

कुछ भी आदरणीय नहीं है। यदि जीव अपने शुद्ध स्वभाव को आदरणीय मानकर उसकी श्रद्धा और ज्ञान करेगा तो उस ओर के विशेष पुरुषार्थ से उसमें स्थिरता करने से अशुद्धभाव दूर होजायेंगे और मुक्ति होजायेगी; परन्तु यदि शुद्धात्मा के अतिरिक्त दूसरे भावों को आदरणीय मानेगा तो कभी भी शुद्धभाव प्रगट नहीं होगा।

नासमझ बालक के पास हजार रुपयों के मूल्य का हार हो, परन्तु यदि कोई उसे दो पैसे का पेड़ा दे, तो वह हार उसे दे देगा, क्योंकि उसने हार का मूल्य नहीं जाना है; और पेड़ा मीठा लगता है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव ने अपने अखण्ड एक निरपेक्ष स्वभाव की महिमा नहीं जानी है इससे वह पर्याय जितना ही आत्मा को मानकर सम्पूर्ण स्वभाव को भूल जाता है, उसे राग की-पुण्य की मिठास है। एक क्षणिक विकल्प को संपूर्ण आत्मा दे देना, वह अज्ञान है-दुःख है-अधर्म है; और 'मैं विकल्प जितना नहीं हूँ, मैं तो विकल्प से पार सदा एकरूप रहने वाला हूं'-ऐसे श्रद्धा-ज्ञान द्वारा पूर्ण आत्मा को विकार से पृथक् स्थिर रखना सो सम्यग्दर्शन है-सुख है-धर्म है। जबतक इसकी पहिचान और महिमा न करे कि अपना पूर्णस्वभाव कैसा है; तबतक जीव को धर्म नहीं होता।

आत्मा का सदा पैसा इत्यादि परवस्तुओं के बिना ही चलता है!

[पूज्य श्री कानजी स्वामी का व्याख्यान]

शरीर में रोग हो, पुत्र मरे, इत्यादि चाहे जैसी प्रतिकूलता के समय भी उसमें राग-द्वेष न करके, स्वभाव के लक्ष्य से ज्ञाता-दृष्टा रहकर ज्ञानीजीव अन्तर में अनाकुल शांति का वेदन करते हैं। उस शांति का वेदन होने की शक्ति किसी संयोग में नहीं है, परन्तु स्वभाव में बसी शक्ति है। अनुकूलता या प्रतिकूलता में राग-द्वेष किये बिना, ज्ञाता-दृष्टारूप रहकर शांति का वेदन करने की शक्ति चैतन्य में ही है। इससे वह चाहे जिस वस्तु के अभाव में भी स्वतः अपनी शांति का वेदन करने के लिये समर्थ है।

इसलिये सभी वस्तुओं के बिना ही आत्मा का चलता है। पैसे के बिना नहीं चलता–ऐसा अज्ञानी मानते हैं; परन्तु वह बात बराबर नहीं है। जगत में आत्मा है और पैसा भी है; परन्तु आत्मा पैसारूप नहीं है और पैसा आत्मारूप नहीं है, इससे आत्मा त्रिकाल पैसे बिना ही स्थिर है; आत्मा अपने स्वभाव से ही है; पैसा है इसलिये आत्मा है–ऐसा नहीं है। आत्मा अपने स्वभाव से स्थिर है और पैसा पर से स्थिर है; एक का दूसरे में अभाव है; परन्तु मेरा परवस्तु के बिना नहीं चल सकता–ऐसी अज्ञानी की कल्पना है वही दुःख है। आत्मा अनादि से है और आत्मा में पर का अभाव अनादि से है। परवस्तु अनादि से है; परन्तु आत्मा में उसका अभाव है, इसलिये आत्मा का सदा परवस्तु के बिना ही चलता है।

वस्तु अनादि–अनन्त है; वस्तु ही उसका रूपान्तर होता है। आत्मा वस्तु अनादि से है, और उसका वर्तमान रूपान्तर भी अनादि से हो रहा है। अनादि से "मेरा परवस्तु के बिना नहीं चल सकता"–ऐसी कल्पनारूप से रूपान्तर हुआ है; उस कल्पना के बिना अज्ञानी का अनादि से नहीं चला है। मैं पर से स्थिर नहीं हूँ, परन्तु अपने से ही स्थिर हूं; मेरा स्वभाव मुझ से परिपूर्ण है और पर से शून्य है, इसलिये मेरा अपने स्वभाव के बिना नहीं चल सकता–ऐसा माने तो अपने स्वभाव को पहिचानकर उसका आश्रय करे और पराश्रय को दूर करके मुक्त हो।

जगत के जीवों को धर्म की कला का मूल्यांकन नहीं है। लौकिक कला का मूल्य जगत को लगता है, परन्तु धर्म की कला की महिमा नहीं है। कुम्हार के काम में वकील बुद्धिमानी नहीं करता और वकालत के काम में कुम्हार माथापच्ची नहीं करता; परन्तु धर्म में तो जो देखो वही बुद्धि लड़ाता है कि ऐसा करो तो धर्म होगा, यह करो तो धर्म होगा; परन्तु पर से भिन्न आत्मा के भान बिना धर्म नहीं होता। और जिसे अपने आत्मा की पहिचान न हुई हो वह धर्म का सच्चा स्वरूप नहीं कह सकता।

आत्मा में से अन्य सब वस्तु को निकाल देना चाहिए कि वह मेरा स्वरूप नहीं है; इसके बदले अज्ञानी जीव 'मैं परवस्तु से स्थिर रहता

हूँ'—ऐसा मानकर पर के साथ अपना गुणाकार करता है। मैं अपने में हूँ, और पर का वियोग मुझ में अनादि है, तो फिर पुत्र था और उसका वियोग हुआ—ऐसा त्रिकाल में नहीं है; क्योंकि मुझ में त्रिकाल पुत्र का वियोग ही है।

जिस स्थान पर जाना हो वहाँ का मार्ग छोड़कर दूसरे मार्ग पर चले तो वह निश्चित् स्थान पर नहीं पहुंचेगा; उसीप्रकार चैतन्य की पहिचान मुक्ति का मार्ग है, वह मार्ग छोड़कर अन्य मार्ग पर चले तो मुक्ति नहीं होगी।

आत्मा का त्रिकाल परवस्तु के बिना ही चल रहा है, क्योंकि आत्मा का अस्तित्व परवस्तु के कारण नहीं है; परन्तु जीव को ऐसी मिथ्या कल्पना है कि मेरा पर के बिना नहीं चल सकता—यही दुःख का मूल है। प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु के बिना ही सदा चलाती है; परन्तु एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के बिना नहीं चल सकता—ऐसी मान्यता कुमार्ग है। मैं पर से भिन्न त्रिकाल स्वाधीन परिपूर्ण हूँ—ऐसी प्रतीति वह सुमार्ग है, उस मार्ग में चैतन्य का प्रकाश है।

आत्मा एक पदार्थ है, ऐसा कहते ही सिद्ध हुआ कि वह पररूप नहीं है। पर कितने? कि एक आत्मा के अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थरूप से वह अभावरूप है—ऐसा भिन्नता का मार्ग लेना सो मोक्ष का सुमार्ग है। जिसे पर से भिन्न चैतन्यतत्व की प्रीति है वह उत्कृष्ट स्थान प्राप्त करने लिये पात्र है। परवस्तु के बिना ही मेरा चलता है—ऐसी प्रतीति हुई वहाँ "यह संयोग मुझे अनुकूल है और अमुक प्रतिकूल है" ऐसी कल्पना को स्थान नहीं रहा। मैं समस्त पदार्थों का ज्ञाता हूँ, ऐसा अभिप्राय हुआ। मेरा पर के बिना नहीं चल सकता—ऐसी विपरीत मान्यता के कारण जीव को स्वभावोन्मुख होने में अनादि से महान विघ्न होरहा है। परवस्तु के बिना मेरा नहीं चल सकता—ऐसी मान्यता स्व-पर की एकत्वबुद्धि है और वही मिथ्यात्व है।

दो मनुष्यों के पुत्र-मरण का संयोग हुआ; वहाँ एक मनुष्य समाधान कर लेता है और दूसरा खेद करके आकुलित होता है। पुत्रमरण का संयोग हो उससमय भी यदि आत्मा समाधान करना चाहे तो वह समाधान कर सकता है—ऐसी उसमें शक्ति है। चाहे जैसे

संयोग के समय समाधान करने की शक्ति आत्मा में है, परन्तु जिसे उसका विश्वास नहीं है, वह 'मेरा पर के बिना नहीं चल सकता' ऐसा मानता है, वहाँ मिथ्याभाव है। यदि एकबार स्वभाव के भान द्वारा उस मिथ्यात्व का नाश करे तो अल्पकाल में मुक्ति होजाये।

स्वयसिद्ध चैतन्यतत्व स्वाधीन है, वह अन्य पदार्थ के बिना ही स्थिर है—इसका जिसे विश्वास नहीं है वह चैतन्य का ध्यान करने के लिए पात्र नहीं है। आत्मा में परवस्तु का तो त्रिकाल अभाव ही है और 'मेरा परवस्तु के बिना नहीं चल सकता''—ऐसी कल्पना का भी त्रिकाली स्वभाव में अभाव है, परन्तु एकसमय की पर्याय में उसका सद्भाव है। विकार त्रिकाली स्वभाव में नहीं किन्तु पर्याय में है। इस विकारी पर्याय के बिना अनादि से एकसमय भी नहीं चलाया, वही संसार है; इसके अतिरिक्त बाह्य पदार्थों में संसार नहीं है। जब ऐसा प्रारम्भ करे कि मेरे त्रिकाली स्वभाव में परवस्तु का अभाव है और विकार का भी अभाव है—ऐसी श्रद्धा हुई तब विकार के बिना मेरा चल सकता है—ऐसा मेरा ज्ञानस्वभाव है—ऐसा भान हुआ; अर्थात् विकाररहित स्वभाव की प्रतीति हुई—सम्यग्दर्शन हुआ। अब जो विकार होता है उसे अपना स्वरूप नहीं मानता। अज्ञानी को क्षणिक विकार का प्रतिभास होता है, परन्तु विकाररहित ज्ञानमूर्ति आत्मा त्रिकाल ध्रुव है, उसकी महिमा भासित नहीं होती। जो विकार है वह त्रिकाल स्वभाव नहीं है परन्तु क्षणिक विभाव है। त्रिकालस्वभाव की अन्तरंगदृष्टि से परिणमित होना सो धर्म है। अज्ञानी तो मानता है कि मेरा विकार बिना नहीं चल सकता, इससे उसे विकार की रुचि और त्रिकालस्वभाव का अनादर है वह अधर्म है, उसके त्रिकालस्वभाव के अनादर का मिथ्यात्व है। धर्मी को त्रिकालस्वभाव का आदर है और क्षणिक विकार का अनादर है; उसके अल्प शुभाशुभभाव होते हैं उन्हें वह स्वभाव से बहिर्भाव जानता है, इससे विकार होते हुए भी उसे सच्ची श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म होता है। इसलिये आत्मार्थियों को त्रिकाल चैतन्यस्वभाव की रुचि और प्रतीति करना चाहिए। उसके विश्वास से स्वभाव का विकास और विकार का नाश होगा।

हेय-उपादेय तत्त्व का स्वरूप

[नियमसार गाथा ३८ पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों से]

नियमसार की इस ३८वीं गाथा में हेय-उपादेय तत्व का कथन है। अपना शुद्ध आत्मस्वभाव ही उपादेय है; जीव-अजीवादि सात-तत्व परद्रव्यरूप हैं, वे ग्रहण करने योग्य नहीं हैं।

प्रश्नः-सात तत्वों में 'जीवतत्व' भी आजाता है, तो क्या वह भी परद्रव्य है?

उत्तरः-सहज ज्ञानस्वरूपी जीव तो स्वतन्त्र है, वह कहीं परद्रव्य नहीं है। यहाँ जीव के शुद्धस्वभाव को परद्रव्य नहीं कहा है, परन्तु 'मैं जीव हूँ'-ऐसा जो मनसम्बन्धी रागमिश्रित विचार है उसे यहाँ जीव-तत्व के रूप में मानकर परद्रव्य कहा है। 'मैं जीव हूँ'-ऐसा विकल्प आत्मा का स्वरूप नहीं है, इससे वह परद्रव्य है और हेय है। आत्मतत्व ज्ञानस्वरूप है; 'मैं जीव हूँ-'ऐसा जीव सम्बन्धी विकल्प आत्मतत्व में नहीं है, और उस विकल्प द्वारा आत्म-तत्व अनुभव में नहीं आसकता, इसलिये वह विकल्प हेय है। जीव स्वतः परद्रव्य नहीं है, परन्तु जीव-तत्व सम्बन्धी जो विकल्प है वह परद्रव्य है। शुद्ध जीवतत्व तो उपा-देय है, परन्तु 'मैं जीवतत्व हूँ' ऐसा विकल्प उपादेय नहीं है। इस अपेक्षा से जीवतत्व को हेय कहा है-ऐसा समझना।

दूसरा अजीवतत्व है, वह उपादेय नहीं है। जीव के अति-रिक्त दूसरे पांच अचेतनद्रव्य हैं वे अजीव हैं। 'मैं अजीव नहीं हूँ'-ऐसा जो रागमिश्रित विकल्प है वह परद्रव्यरूप है, उस विकल्प के द्वारा अजीव से भिन्न जीवतत्व अनुभव में नहीं आता, इसलिये वह हेय है।

तीसरा आस्रवतत्व है। दयादि के शुभभाव अथवा हिंसादि के अशु-भभाव-दोनों आस्रव हैं, वह जीव का स्वरूप नहीं है। आस्रव मेरा स्वरूप नहीं है, मैं आस्रव से 'पृथक् हूँ'-ऐसा विकल्प तो राग है; पर-द्रव्यस्वरूप है; उस विकल्प में ही जिसकी बुद्धि रुकी हुई है वह मिथ्यादृष्टि है; उस विकल्प के द्वारा आत्मतत्व अनुभव में नहीं आसकता, इसलिये वह विकल्प हेय है। विकल्परहित होने से जिस सहज आत्मतत्व का अनुभव होता है वह सहज आत्मतत्व ही उपादेय है। यहाँ विकल्प मात्र को परद्रव्य में गिना है; अपने शुद्धस्वभाव

सम्बन्धी विकल्प करना भी स्वद्रव्य का स्वभाव नहीं है।

चौथा बंधतत्व है, वह उपादेय नहीं है। मैं कर्म से बंधा हुआ हूँ, ऐसा विकल्प तो हेय है, और मैं कर्म से बंधा हुआ नहीं हूँ–अबंध हूँ; ऐसा रागमिश्रित विकल्प भी हेय है। अबंधस्वभाव तो अपना स्वरूप है, परन्तु 'मैं अबंध हूँ'–ऐसा विकल्प अपना स्वरूप नहीं है, वह परद्रव्य है इसलिये हेय है।

पाँचवाँ संवरतत्व है, वह भी हेय है। आत्मस्वभाव के भानपूर्वक अंशतः शुद्धता प्रगट हुई और पुण्य-पाप रुक गये, वह संवर है। संवर स्वतः निर्मल पर्याय है।

प्रश्नः–संवर तो निर्मल पर्याय है, तथापि उसे हेय क्यों कहा ?

उत्तरः–संवरतत्व के लक्ष्य से विकल्प होता है। संवरतत्व और उसके लक्ष्य से होनेवाला विकल्प–इन दोनों को एक मानकर संवर तत्व को ही हेय कहा है। 'मैं संवर करूँ' ऐसा विकल्प करना सो रागमिश्रितभाव है, उससे संवरदशा प्रगट नहीं होती। यहाँ एकरूप आत्मस्वभाव का ही ग्रहण कराना है, उसमें किसीप्रकार के भेद का या विकल्प का स्वीकार नहीं है। संवर तो एक निर्मल पर्याय है। यहाँ पर्याय–दृष्टि ही छुड़ाना है, इसलिये संवर तत्व भी हेय है अर्थात् उसका लक्ष्य करने योग्य नहीं है। पुण्य–पाप को रोकूँ–ऐसे विकल्प से पुण्य–पाप नहीं रुकते, परन्तु एकरूप आत्मस्वभाव के लक्ष्य से ही पुण्य–पाप रुकते हैं, इसलिये एकरूप आत्मस्वभाव ही उपादेय है। आत्मस्वभाव के लक्ष्य से एकाग्र होने पर संवर, निर्जरा और मोक्ष होजाता है।

छठवाँ निर्जरातत्व है। आत्मस्वभाव की एकाग्रता से शुद्धता बढ़ती है और अशुद्धता दूर होती है, वह निर्जरा है। मलिनता को दूर करूँ और शुद्धता बढ़ाऊँ–ऐसा विकल्प भी होता है; वह विकल्प परद्रव्यरूप है; उसके लक्ष्य से धर्म नहीं होता।

सातवाँ मोक्षतत्व है, मोक्ष अर्थात् आत्मा की सम्पूर्ण शुद्ध दशा। यह मोक्षतत्व भी हेय है। पर्यायबुद्धि–अज्ञानी को ऐसा लगता है कि, अरे रे! क्या मोक्षतत्व भी छोड़ने योग्य है ? परन्तु भाई ! मोक्षदशा तो एक पर्याय है, मोक्ष पर्याय पर जिसका लक्ष्य है उसे कभी मोक्षदशा नहीं होती। पर्याय-

दृष्टि छोड़कर सम्पूर्ण द्रव्यस्वभाव को दृष्टि में स्वीकार न करे वहाँ-तक धर्म नहीं होता। मैं मोक्ष करूँ-ऐसा विकल्प परद्रव्यस्वरूप है। मैं आत्मा अपना मोक्ष करूँ-ऐसे विचार के द्वारा आत्मतत्व का ग्रहण नहीं होसकता। इस विचार में तो रागस्वरूप भेद का विकल्प आता है। अभेद शुद्ध आत्मस्वरूप को ही उपादेयरूप से अंगीकार करके वहाँ एकाग्र होने से सहज मोक्षदशा होती है।

'अपना मोक्ष करूँ'-ऐसा भाव होता है वह अंगीकार करने योग्य नहीं है; क्योंकि वर्तमान में मोक्ष-दशा तो नहीं है, इससे उसपर लक्ष्य करने से पर्यायबुद्धि दूर नहीं होगी और आत्मस्वभाव लक्ष्य में नहीं आयेगा। जो त्रिकाली आत्म-स्वभाव है उसपर लक्ष्य करने से ही पर्यायबुद्धि दूर होती है; इसलिये वह त्रिकाली द्रव्य ही उपादेय है, इसके अतिरिक्त सातों-तत्व हेय हैं। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! तुझे उपा-देय स्वरूप तो एक आत्मस्वभाव है, ऐसा समझकर तू उसकी पहिचान-कर!

यहां, आचार्यदेव आत्मस्वभाव को समझाते हुए कहते हैं कि, जीव-अजीवादि सात तत्वों के विकल्प सो परद्रव्य है, और इन सातों तत्वों के विकल्प से अगोचर जो शुद्ध आत्मस्वरूप है वही एक स्वद्रव्य है, वही जीव है और उसी को अंगीकार करना है; शुद्ध जीव को अंगीकार करने से शुद्धभाव प्रगट होता है। अंगीकार करना अर्थात् उसकी श्रद्धा करना, ज्ञान करना और उसमें लीन होना। जहाँ साततत्वों के भेद की श्रद्धा है वहाँ एक स्व-तत्व का अनुभव नहीं होता, और एक स्वतत्व की श्रद्धा में साततत्वों के विकल्प नहीं है। साततत्वों के विचार में क्रम पड़ता है और राग होता है; एक स्वतत्व की श्रद्धा में भेद नहीं है, राग नहीं है इसलिये अपना एक शुद्धस्वरूप जैसा है वैसा जानकर उसमें स्थिर होना चाहिए; वही धर्म और मोक्षमार्ग है।

भगवान महावीर ने किसप्रकार मोक्ष प्राप्त किया ?

[श्री वीरनिर्वाण कल्याणक के दिन पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

आज माङ्गलिक दिवस है। वीर भगवान के निर्वाण कल्याणक का दिन है। आज से २४७५ वर्ष पूर्व इस भरत क्षेत्र में महावीर भगवान विराजमान थे; उन महावीर स्वामी का जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। उन्हें ७२ वर्ष पूर्ण हुये और निर्वाण प्राप्त किया; उसी निर्वाण कल्याणक का आज दिन है।

महावीर परमात्मा भी, जैसे यह समस्त आत्मा हैं वैसे ही आत्मा थे, वे भी पहले चार गतियों में भ्रमण करते थे; उसमें से वे उन्नतिक्रम में चढ़ते-चढ़ते तीर्थंकर हुए। भगवान चार गति में थे वहाँ सत्समागम द्वारा अनुक्रम से आत्मा का भान हुआ। जिसप्रकार चौंसठपुटी पीपल को पीसते रहने से वह चरपरी होती जाती है, उसीप्रकार आत्मा में परमानन्द भरा हुआ है, वह प्रयास द्वारा बाहर आता है। भगवान महावीर के आत्मा में परमानंद भरा हुआ था उसे स्वतः अनुक्रम से प्रगट करते हैं; मन, वाणी, देह से भिन्नतत्त्व आनन्दमूर्ति हूँ, ऐसा भान करते हैं।

आत्मा का चेतना स्वभाव है। चेतना का अर्थ है जानना-देखना; उसमें जितने संयोगीभाव होते हैं वे पर अपेक्षा के हैं। चैतन्य के शुद्धस्वभाव की जबतक दृष्टि न हो तबतक अन्तर से विकास होकर स्वतंत्रता प्रगट नहीं होती अर्थात् मोक्षदशा प्रगट नहीं होती।

कांच के ढेर में यदि हीरा पड़ा हो तो वह हीरा संयोग में पड़ा है, उस हीरे का जो मूल्यांकन करे वह परीक्षा करके हीरे को कांच से पृथक् करके ले लेता है। इसीप्रकार कर्मसंयोग के बीच अनादि का चैतन्यमूर्ति ज्ञानज्योति निराला हीरा पड़ा है, ऐसे चैतन्य स्वरूप को जिसे प्राप्त करना है वह सत्समागम से चैतन्यमूर्ति आत्मा की बराबर पहिचान करके, श्रद्धा करके उस स्वरूप में स्थिर होकर मोक्षदशा प्रगट करता है। इसप्रकार चैतन्यमूर्ति हीरे को श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र द्वारा पृथक् कर लेता है।

महावीर भगवान इस भव से पहले दसवें स्वर्ग में थे; और उससे पूर्व नन्दराजा के भव में, आत्मा के भानसहित चारित्र का पालन किया था, नग्न दिगम्बर मुनि हुए थे, उस

मुनिपने में स्वरूप की रमणता में लीन थे, वहाँ उस भव में उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया था। पुण्य का एक रजकण या शुभभाव का एक अंश उठे वह मेरा स्वरूप नहीं है, वह मेरा कर्तव्य नहीं है—ऐसे भान में स्वरूप की रमणता में रम रहे थे। ऐसी दशा की भूमिका में शुभ विकल्प आता है कि अरे रे! जीवों को ऐसे स्वरूप का भान नहीं है। स्वरूप-रमणता से बाहर आने पर ऐसा विकल्प उठा कि अहा! ऐसा चैतन्यस्वभाव! उसे सब जीव किसप्रकार प्राप्त करें! 'सर्व जीव करूँ शासनरसी, ऐसी भाव दया, मन उलसी।' सभी जीव ऐसे स्वरूप को प्राप्त करलें—ऐसा विकल्प आया, परन्तु वास्तव में उसका अर्थ ऐसा है कि अहो! ऐसा मेरा चैतन्यस्वभाव कब पूर्ण हो! मैं कब पूर्ण होऊँ! वैसी भावना का बल है और बाह्य से ऐसा विकल्प आता है कि अहो! ऐसा स्वभाव समस्त जीव कैसे प्राप्त करें! वैसे उत्कृष्ट शुभभाव से तीर्थंकर नामकर्म का बंध हुआ।

जिस भाव से तीर्थंकरप्रकृति का बंध हुआ वह भाव भी आत्मा को लाभ नहीं करता; वह शुभभाव दूर होगा तब भविष्य में केवलज्ञान होगा। उस तीर्थंकर पद से जो वाणी खिरेगी उस वाणी के रजकण स्वरूप के भान की भूमिका में बंधते हैं। यह राग मेरा कर्तव्य नहीं है—ऐसा भान था और स्वरूप में रमते थे, ऐसी भूमिका में तीर्थंकर प्रकृति बंधी थी। राग को लाभरूप माने उस भूमिका में तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता; किंतु राग मुझे लाभरूप नहीं है, मैं राग का कर्ता नहीं हूँ,—ऐसे भान की भूमिका में तीर्थंकर प्रकृति बंधती है।

भगवान महावीर ने नन्द राजा के भव में ऐसी वाणी का बन्ध किया कि भविष्य में पात्र जीवों को लाभदायक हो, भवपार का निमित्त हो, दूसरे जीवों के तरने के लिये सर्वोत्कृष्ट निमित्त हो, ऐसी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया और जब तीर्थंकर देव के भव में ध्वनि खिरेगी तब वह अनेक जीवों को भव से पार होने में निमित्त होगी।

गर्भ—कल्याणक (अषाढ़ शुक्ला ६)

भगवान महावीर के जीव ने नन्दराजा के भव में चारित्र का

पालन किया और पश्चात् अनुक्रम से आयु पूर्ण करके वहाँ से दसवें स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। जब दसवें स्वर्ग में उन देवरूप भगवान की आयु छह महीना शेष रहती है, तब दूसरे देवों को खबर पड़ती है कि छह महीने के पश्चात् भरत-क्षेत्र में त्रिशलारानी के गर्भ से भगवान महावीर चौबीसवें तीर्थंकर का जन्म होगा। इसलिए वे देव छः महीने पूर्व माता के पास आकर उनकी सेवा करते हैं। वे माता से कहते हैं कि हे रत्नकूखधारिणी माता! आपको धन्य है, आप की कूख से छह महीने पश्चात् जगदोद्धारक, त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव का जन्म होने वाला है। देव छह महीने पूर्व माता-पिता के गृह में रत्नों की वर्षा करते हैं। वहाँ उन रत्नों का मूल्य नहीं है, रत्न तो धूल समान हैं; जहाँ अनाज पकता है वहाँ उसके साथ भूसा तो होता ही है। तीर्थंकर भगवान तो अनाज की फसल साथ लाते हैं और पुण्य तो भूसा है। जहाँ सौ मानी अनाज होता है वहाँ सौ मन भूसा तो साथ में होता ही है परन्तु उस भूसे की कीमत नहीं है, अनाज का मूल्य है। किसान भूसे के लिए नहीं बोता, किन्तु अनाज के लिए बोता है। इसप्रकार जहाँ मोक्षमार्ग का अनाज पकता है वहाँ उसके साथ शुभपरिणाम से तीर्थंकर पद, चक्रवर्ती पद आदि भूसा तो सहज होता ही है, भूसे की इच्छा से भूसा नहीं पकता परन्तु सहज ही पकता है।

जिसके पूर्ण परमानन्द प्रगट होगया है—ऐसे परमात्मा पुनः अवतार नहीं लेते; परन्तु जगत के जीवों में से एक जीव उन्नतिक्रम से चढ़ता-चढ़ता जगद्गुरु तीर्थंकर होता है। जगत के जीवों की ऐसी योग्यता तैयार होती है तब ऐसा उत्कृष्ट निमित्त भी तैयार होता है।

जन्म-कल्याणक (चैत्र शुक्ला १३)

महावीर भगवान के गर्भ में आने के पश्चात अनुक्रम से उनका सवा नौ महीने में जन्म होता है; सौधर्म इन्द्र आदि देव आकर भगवान का जन्मकल्याणक महोत्सव करते हैं। सौधर्म इन्द्र के साथ उनकी सची-इंद्राणी भी आती है और माता के पास जाकर कहती है—हे रत्नकूखधारिणी माता, तीनलोक के नाथ की जन्मदात्री! तुम्हें धन्य है! ऐसा कहकर भगवान को लेकर सौधर्म इन्द्र को देती है।

सौधर्म इन्द्र भगवान को हजार नेत्र करके देखता है; भगवान को मेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक कराता है; वहाँ अठाई महोत्सव करता है। इसप्रकार इन्द्र परम-भक्ति पूर्वक भगवान का जन्मकल्याणक महोत्सव करता है।

दीक्षा-कल्याणक
(कार्तिक कृष्णा १०)

जन्म होने के पश्चात् महावीर भगवान तीस वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहे, उसके पश्चात् दीक्षा ले लेते हैं। देव आकर दीक्षाकल्याणक महोत्सव करते हैं। प्रभु स्वतः दीक्षित होकर बारह वर्ष तक स्वरूप-रमणता करते हुए विचरते हैं, इच्छा निरोधरूप स्वरूप–रमणता में काल व्यतीत होता है।

केवलज्ञान-कल्याणक
(वैशाख शुक्ला १०)

पश्चात् वैसाख सुदी दसमी के दिन श्री महावीर भगवान को केवलज्ञान होता है। केवलज्ञान में तीन-काल तीनलोक को हस्तामलकवत् जानते हैं। स्व-पर पदार्थ के अनन्त भाव केवलज्ञान में ज्ञात होते हैं। तीर्थंकर देव को केवलज्ञान होने के पश्चात् तुरन्त दिव्यध्वनि खिरती ही है, दूसरे सामान्य केवलियों के लिये ऐसा नियम नहीं है परन्तु तीर्थंकर भगवान को तो नियमानुसार खिरती ही है। किन्तु महावीर भगवान को केवलज्ञान हुआ, समवशरण की रचना हुई, बारह सभाएँ लगीं, परन्तु दिव्यध्वनि नहीं खिरी! इन्द्र को विचार आया कि भगवान की दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती? इन्द्र ने अवधिज्ञान के उपयोग द्वारा देखा तो ज्ञात हुआ कि सभा में उत्कृष्ट पात्र जीव नहीं है; गौतम उसके पात्र हैं, वैसा ज्ञात होने पर इन्द्र ब्राह्मण का भेष रखकर गौतम के पास गया; गौतम चार वेदों में प्रवीण थे, उन्हें चर्चा की बहुत रुचि थी, इससे श्री गौतम स्वामी महावीर भगवान के पास जाने के लिये निकले। जब गौतम स्वामी मानस्थंभ के पास आये कि वहाँ उनका मान गल गया, वीरप्रभु के दर्शन करके धर्म प्राप्त किया और मुनिदशा धारण की। भगवान की वाणी को झेल सके ऐसे उत्कृष्ट पात्र गौतमस्वामी के आने से भगवान की दिव्यध्वनि खिरी, गौतमस्वामी चार ज्ञान को प्राप्त हुए और गणधर पदवी प्राप्त की। महावीर भगवान को केवलज्ञान होने के पश्चात् छियासठ दिन में दिव्यध्वनि

खिरी; इसलिये अषाढ़ वदी एकम के दिन भगवान की दिव्यध्वनि खिरी। अषाढ़ वदी एकम, शासन-जयंती का दिन है, शास्त्रप्ररूपणा का दिन है। केवलज्ञान में अनन्त-भाव ज्ञात होते हैं इसलिये उनकी दिव्यध्वनि में भी अनन्तरहस्य आते हैं; ज्ञान में भाव पूर्ण हैं इसलिये वाणीमें में भी पूर्ण आता है।

केवलज्ञान होने के पश्चात् किसी तीर्थंकर की आयु बड़ी होती है और किसी की अल्प। महावीर भगवान की आयु ७२ वष की थी। इस समय महा विदेह क्षेत्र में श्री सीमन्धर भगवान चैतन्यमूर्ति पर-मात्मा समवशरण में इन्द्र और गणधरादि की बारह सभाओं में विराजमान हैं, उनकी आयु चौरा-सीलाख पूर्व की है। जीवन्मुक्तरूप तेरहवीं भूमिका में श्री सीमन्धर स्वामी महाविदेह क्षेत्र में वर्तमान में विराज रहे हैं। उनकी आयु दीर्घ है।

निर्वाण-कल्याणक
(कुवांर वदी ३०)

श्री महावीर भगवान परमात्मा ने केवलज्ञान प्रगट किया, इससे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोह-नीय और अन्तराय–इन चार घाति-कर्मों का नाश हुआ। केवलज्ञानरूप जीवन्मुक्तदशा में तेरहवीं भूमिका में तीस वर्ष तक विचरण किया, पश्चात् चार अघातिकर्म–वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र यह चार कर्म पावापुरी के बाहर उद्यान में नाश किये, पावापुरी के बाहर उद्यान में भगवान आज दिन निर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान को केवलज्ञान तो तीस वर्ष पूर्व हुआ था और निर्वाण आज दीपावली के दिन प्राप्त किया। चौदहवीं भूमिका में, 'अ, इ, उ, ऋ, लृ' इतने शब्द बोले जायें उतने समय तक रहते हैं, चौदहवीं भूमिका में प्रदेश का कम्पन दूर होजाता है और अकम्प होते हैं। पश्चात् शरीर छूटता है और भग-वान का आत्मा मुक्त होता है, पारिणामिक भाव पूर्ण प्रगट होता है। जीवन्मुक्त भगवान देहमुक्त होते हैं। जिसप्रकार फली में से दाना अलग होता है वैसे ही आत्मा अलग होता है और ऊर्ध्वश्रेणी में ऊपर जाता है। ऊर्ध्वगमन चैतन्य का स्वभाव है इससे ऊपर सिद्ध-क्षेत्र में जाता है। आनंददशा, पूर्णानन्द मुक्तदशा तो यहीं प्रगट हुई थी, परन्तु प्रदेश का कम्पन दूर होजाने से अकम्प होकर देह

छूट जाने से वे पूर्णानन्द महावीर भगवान आज देहमुक्त होते हैं। जीवन्मुक्त भगवान आज देहमुक्त हुए। पावापुरी का जो क्षेत्र है वहाँ से समश्रेणी में ऊपर सिद्धक्षेत्र में महावीर परमात्मा विराजमान हैं। अकेला आत्मा देह से बिल्कुल पृथक् होजाना, उसका नाम मुक्ति है। अपना ज्ञान-आनन्दमूर्ति स्वभाव रह जाना और दूसरा सब छूट जाना उसका नाम मुक्ति है। भगवान कार्मण शरीर से मुक्त होकर मोक्ष पधारे, उसे आज २४७६ वाँ वर्ष प्रारम्भ होरहा है। भगवान महावीर का विरह होने से भक्तों की आंखों से चौधार आंसू गिरते जाते हैं और कहते हैं कि अरे! आज भरत का सूर्य अस्त हुआ। परन्तु भगवान महावीर का आत्मा मुक्त हुआ, इससे उनका निर्वाणकल्याणक महोत्सव भी मनाते हैं।

भगवान मोक्ष पधारे तब पावापुरी में इन्द्र और देवों ने आकर महोत्सव किया; दीपक आदि से महान मांगलिक उत्सव मनाया, इससे आज के दिन को दीपोत्सवी–दीपमालिका–दिवाली आदि कहते हैं।

आजकल तो लोग खाते–वही आदि की पूजा करके संसार के अर्थ से दिवाली मनाते हैं, परन्तु वास्तव में तो आज का दिन आत्मा के पूर्णानन्द स्वभाव को प्रगट करने की भावना का है। जैसा भगवान का आत्मा है वैसा ही मेरा आत्मा है– ऐसा विचार कर स्वभाव का भान करके विभाव परिणामों को स्वरूपस्थिरता द्वारा नष्ट कर दूँ–इसप्रकार वीर्य को उच्च बनाने का आज का दिन है।

जगत् के जीव मरते हैं तब दुःख मनाते हैं, और भगवान की मुक्ति का महोत्सव होता है; क्योंकि वह मरण नहीं किन्तु जीवन है, सहजानन्द स्वरूप में विराजमान रहने का आत्मा का जीवन है, इसलिये उसका महोत्सव होता है। पूर्णानन्द, सहजानन्दस्वभाव में रहना उसका नाम मुक्ति है।

महावीर भगवान के पश्चात् गौतमस्वामी, सुधर्मस्वामी और जम्बूस्वामी–इन तीन पीढ़ियों तक केवलज्ञान रहा, और पश्चात् एकावतारी हुए; इससमय भी एकावतारी हैं। और अभी पंचमकाल के अन्ततक एकावतारी जीव होना हैं। यह पंचमकाल इक्कीस हजार वर्ष का है, उसमें से अभी ढाई–

हजार वर्ष पूर्ण हुए हैं और साढ़े अठारह हजार वर्ष शेष हैं। वे इक्कीस हजार वर्ष पूर्ण होंगे तब, अर्थात् पंचमकाल के अन्त में चार एकावतारी होंगे। साधु, आर्जिका, श्रावक और श्राविका—यह चारों जीव एक देव का भव धारण करके फिर मनुष्य होकर वहाँ से मुक्त होंगे।

जम्बूस्वामी के पश्चात् भी संत-मुनिओं को चौदह पूर्व का ज्ञान था, तथापि वे एकावतारी हुए, और पंचमकाल के अन्त में चौदह पूर्व का ज्ञान नहीं होगा परन्तु अल्पज्ञान रहेगा, तथापि वे एकावतारी होंगे; दोनों के एकावतारीपने में कुछ अन्तर नहीं है।

श्री महावीर परमात्मा ने वाणी द्वारा जो स्वरूप कहा वह गणधरों ने झेला, और वह वाणी आचार्य-परम्परा से अभीतक चली आरही है। इस भरत क्षेत्र में कुन्दकुन्दाचार्य परम गुरुदेव ने शास्त्र की स्थापना की है, श्रुत की प्रतिष्ठा करके अपूर्व उपकार किया है। वह बात ऐसी है कि लोगों को यथावत् जम जाना कठिन होता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने यह समयसार शास्त्र सर्वोत्कृष्ट योग से समझाया है, इस शास्त्र में केवलज्ञान भरा हुआ है।

लोग कहेंगे कि यह तो 'छोटे मुँह बड़ी बात' है। परन्तु अग्नि को बालक छुए या जवान, किन्तु उसकी उष्णता का अनुभव दोनों को समान ही होगा। उसमें कोई अन्तर नहीं होसकता। अग्नि का स्वभाव जो छह महीने के बालक ने जाना है वही स्वभाव बड़े पंडित-वकील और विज्ञानी ने जाना है। दोनों यह जानते हैं कि अग्नि को छूने से गरम लगेगी; उस अग्नि के उष्णता संबंधी दोनों के ज्ञान में कुछ भी अन्तर नहीं है। बालक भी अग्नि उष्ण होने से उसे फिर कभी नहीं छूता और बड़ा भी अग्नि को छूने नहीं जाता। बड़ा आदमी ऐसा कथन करता है कि अग्नि प्रकाशमान है, उष्ण है—आदि, और बालक विशेष कथन नहीं कर सकता; इसप्रकार कथन में अन्तर होता है, परन्तु अनुभव में अन्तर नहीं पड़ता।

वैसे ही त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव तीनकाल और तीनलोक के विज्ञान के पण्डित हैं, उन्होंने जैसा वस्तु का स्वरूप जाना है वैसा ही अविरती बालक जानता है। वस्तु

का स्वरूप जैसा केवलज्ञानी ने जाना है वैसा ही अविरती बालक ने जाना है। केवली और चौथे गुणस्थान की प्रतीति में कोई अन्तर नहीं है। जैसी स्वभाव की प्रतीति केवलज्ञानी को है वैसी ही, चौथे गुणस्थानवाला अविरती सम्यक्त्वी गृहस्थाश्रम में राज्य करता हो–युद्ध में खड़ा हो उसे भी होती है; स्वभाव की प्रतीति में दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है। राग का एक भी अंश मेरा स्वरूप नहीं है वैसी प्रतीति चौथे गुणस्थान वाले सम्यक्त्वी को होने पर भी वह दया में, दान में, पूजा में, भक्ति में युक्त अवश्य होता है और शुभभाव में भी लगता है, तथापि उस अव्रती सम्यक्त्वी की, केवलज्ञानी की और सिद्ध की स्वभाव की प्रतीति एक ही समान है, उस प्रतीति में किंचित् अन्तर नहीं है, परन्तु ज्ञान और चारित्र में अन्तर है।

निम्न दशावाला वीतराग नहीं है इससे उसे राग आता है। राग तो निम्नभूमिका में ही होता है न? वीतराग को कहीं राग आता है? चौथी भूमिका वाले को पुण्य–पाप के भाव होते अवश्य हैं, परन्तु वह समझता है कि मेरे पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण यह भाव होते हैं, किन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है। अपना स्वभाव नहीं माना इसीसे उन शुभाशुभ भावों को अपना कर्तव्य नहीं माना; कर्तव्य तो उसने अपने स्वरूप में स्थिर हो जाना ही माना है। इससे उसका पुरुषार्थ भी उसीप्रकार का होता है। और जब–जब वह अव्रती सम्यग्दृष्टि स्वरूपस्थिर होजाता है तब अंशतः सिद्धसमान अनुभव करता है।

महावीर भगवान समवशरण में दिव्यध्वनि द्वारा कह गये हैं कि पंचमकाल के अन्त तक एकावतारी जीव होना हैं। केवलज्ञानी परमात्मा की जैसी स्वभाव की प्रतीति है वैसी ही प्रतीति चौथे गुणस्थानवाले के होती है। जैसा एकावतारीपना पंचमकाल के प्रारम्भ के चौदह पूर्वधारी मुनियों का था, वैसा ही पंचमकाल के अन्त के जीवों को भी होगा। वे जीव भी आत्मा का भान करके स्थिरता के बल की भावना से एक भव में मुक्ति प्राप्त करेंगे। इसप्रकार दोनों के मुक्ति के फल में कुछ भी अन्तर नहीं है; प्रारम्भ और अन्त दोनों समान होगये। ज्ञान की न्यूनाधिकता है तथापि मुक्ति के फल में कोई अन्तर

नहीं है। २१ हजार वर्षों तक लाखों-करोड़ों में कोई एक जीव आत्मभान करके इस शासन में एकावतारी होता रहेगा—ऐसा भगवान महावीर स्वामी कह गये हैं। सम्यक्त्वी जीव और केवलज्ञानी दोनों श्रद्धा में समान, और प्रभु के पश्चात् होनेवाले संतमुनि तथा अंततक के सम्यक्त्वी जीव एकावतारीपना प्राप्त करेंगे-बस मुक्ति के फल में दोनों समान; पहली श्रद्धा और दूसरा मुक्ति के फल का अन्त—दोनों समान होगये। प्रारम्भ और मुक्ति का फल दोनों समान होगये।

महावीर स्वामी आज मोक्ष पधारे; महावीर भगवान की वाणी परम्परा से अभीतक चली आरही है। यह जो वाणी कही जारही है यही वह वाणी है। जगत को बैठे या न बैठे, परन्तु ऐसी ही है।

साधु, अर्जिका, श्रावक और श्राविका पंचमकाल के अन्त में भी आत्मा का भान करके एकावतारीपना प्राप्त करेंगे, तब फिर इससमय क्यों नहीं होसकता? छोटी सी बालिका भी आत्मभान कर सकती है; सभी का आत्मा तीनलोक का नाथ है, इसमें कोई अन्तर नहीं है। शरीर में अन्तर है। वह बालिका भी, यह जैसा पर से निराला आत्मा का स्वरूप कहा जारहा है वैसी श्रद्धा कर सकती है। पंचमकाल के अन्त में आत्मभान कर सकते हैं, तब इससमय तो अवश्य हो किया जासकता है।

इस समय आत्मभान किया जासकता है. परन्तु पूर्ण वीतरागता नहीं की जासकती; क्योंकि पूर्व में स्वतः वीर्य को विमुख डाल रखा है, उस वीर्य को इससमय सन्मुख करने में महान पुरुषार्थ चाहिये; उतना पुरुषार्थ इससमय स्वतः नहीं कर सकता, इसलिये इससमय पूर्ण वीतरागता नहीं होसकती। उसमें अपने पुरुषार्थ की अशक्ति का कारण है। स्वतः ही पूर्व में विमुख वीर्य डाला है इससे सन्मुख करने में देर लगेगी इसलिये अपना ही कारण है।

आत्मा में अखण्डानन्द स्वभाव भरा है। जिसप्रकार दियासलाई को घिसने से तुरन्त अग्नि प्रगट होती है, वैसे ही चैतन्यमूर्ति आत्मा में अनन्त स्वभाव भरा हुआ है; वैसे आत्मा की श्रद्धा करे कि मैं अखण्ड पूर्णानन्द स्वरूप हूँ-ऐसी श्रद्धा की अग्नि सुलगाई कि उसमें से केवलज्ञानरूपी ज्वाला अवश्य

प्रगट होगी। अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का भान करके समझे कि मेरे पुरुषार्थ की अपूर्णता से एक–दो भव हैं। अपनी अपूर्णता को समझता है इससे पुरुषार्थ जागृत करके अवश्य केवलज्ञान प्रगट करेगा।

सच्चा श्रवण करके सच्ची प्रतीति करे, और उसमें जो शुभ-परिणाम हो, अर्थात् तत्व की सन्मुखता में जो शुभविकल्प हो, और उस विकल्प से जो पुण्य बंधे उसका समूह उल्लसित हो, वैसे पुण्य का समूह अन्य कहीं नहीं बंधता। वैसे पुण्य को भी तत्वश्रद्धा वाले को इच्छा नहीं है। उस श्रद्धा के बल से पुण्य को तोड़कर अवश्य केवलज्ञान प्राप्त करेगा।

यह बात समझ में नहीं आती ऐसा नहीं मानना, और ऐसा भी न मानना कि अमुक जीव ने गत्-काल में अनेक पाप किए थे इसलिए वह नहीं समझेगा। अरे! कल का पापी आज यदि आत्मा का भान करे तो होसकता है। सत्-समागम करके कोमल हो, कुलांट खाये और सीधा गिरे तो क्षणमात्र में केवलज्ञान प्राप्त करे। कल का लकड़हारा आज केवलज्ञान को प्राप्त हुआ और देवों ने आकर महोत्सव किया–ऐसे अनन्तकाल में अनन्त उदाहरण बने हैं। कल का चोर आज धर्मी होजावे, सन्मुख गिरे तो क्षण में केवलज्ञान प्राप्त करे। इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये कि कल का पापी आज धर्मात्मा नहीं होसकता।

लोग पापी को देखकर तिरस्कार करते हैं, परन्तु भाई! तिरस्कार मत कर! वह भी आत्मा है, प्रभु है। उसका अपराध जानकर तू क्षमा कर, समता रख, यदि वह सन्मुख पड़ेगा तो कल ही अपराध दूर करके आराधक हो जायेगा, उसका आराधकतत्व उसीके हाथ में है; वह जब करेगा तब उसीसे होगा। तू अपना आराधकत्व कर! तेरा आराधकत्व तुझसे ही है।

जो यह महावीर भगवान की बात कही जारही है, वैसे स्वरूप को जो प्रगट करेगा वह मुक्ति को पा जायेगा। जैसा स्वरूप महावीर भगवान के आत्मा का है वैसा ही समस्त आत्माओं का है। आज महावीर भगवान का गुणगान किया वह अपने स्वरूप को प्रगट करने के लिये है। वैसे स्वरूप को समझे तो इससमय भी एकावतारीपना प्रगट किया जासकता है।

आत्मधर्म

२४७६ माघ

वर्ष पाँचवाँ अङ्क दसवाँ

सुख की शोध में

[श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका सद्बोधचन्द्रोदय अधिकार गाथा ८५ पर—
पूज्य श्री कानजी स्वामी का व्याख्यान]

प्रत्येक आत्मा सुख को खोजता है। शरीर में, स्त्री में, लक्ष्मी में सुख ढूँढ़ता है; क्रोध करके या दूसरे को दुःख देकर भी आप सुखी होना चाहता है। चाहे जहाँ सुख हो वहाँ से वह लेना चाहता है। अज्ञानी जीव सुख के लिये अनादि से बाह्य में व्यर्थ को दौड़–धूप कर रहा है, जैसे अपने में सुख है ही नहीं! सुख ढूढ़ते–ढूँढ़ते अन्त में शरीर को छोड़ देता है; तो फिर ऐसा सुख कहाँ है कि–जो शरीर के बिना भी हो? सब छोड़कर आत्मा में ही सुख है–ऐसा उसे भ्रान्ति में भी अव्यक्तरूप से आजाता है। शरीर को छोड़कर भी यदि आपदा दूर करके सुखी हुआ जाता हो तो वह सुख लेना चाहता है। उसका अर्थ यह हुआ कि शरीर के बिना भी सुख होता है; शरीर में सुख नहीं है तो फिर स्त्री, लक्ष्मी इत्यादि में सुख कहाँ से होगा?

जीव, शरीरादि सबको छोड़कर भी सुख लेना चाहता है, इसलिये कहीं तो सुख है–ऐसी उसे श्रद्धा है। और शरीरादि सबको अलग करके भी सुख लेना चाहता है; शरीरादि सबको अलग कर देने से तो अकेला आत्मा रहता है, इसलिये अज्ञानरूप से भी 'आत्मा में ही सुख है'–ऐसी गंध अव्यक्तरूप से तो उसे रहती है।

कोई कहे कि लड्डू में सुख है; तो तीन लड्डुओं की अपेक्षा तीस लड्डुओं में दस गुना सुख हो। लेकिन तीन लड्डू खाने के पश्चात् कहता है कि बस! अब नहीं। यदि लड्डुओं में सुख हो तो उसमें 'अब नहीं'–ऐसा न हो। और यदि पैसे में सुख हो तो एक हजार की सम्पत्ति वाले से एकलाख की सम्पत्ति वाले को सौ गुना सुख होना चाहिये और करोड़ रुपयों की सम्पत्ति वाले को उससे भी सौ गुना। परन्तु ऐसा तो दिखाई नहीं देता; क्योंकि पैसे में सुख नहीं है।

चैतन्य की सत्ता में ही सुख है। जो पर में से सुख को खोजता है उसके अपने में ही सुख है। यदि उसके अपने में सुखस्वभाव न हो तो वह बाह्य में सुख नहीं ढूँढे। अपनी चैतन्यसत्ता में सुख है, और उसका साधन भी अपने में है। सुख का साधन बाह्य में नहीं है। चैतन्यसत्ता में आनन्दस्वभाव भरा है, उसे भूलकर अज्ञानी जीव पुण्य-पाप विकार को अपना स्वरूप मानता है, और बाह्य में सुख का साधन मानता है वह अधर्म है, दुःख है। शरीर-मन-वाणी या पर पदार्थ के साधन से मुझे धर्म हो वह मान्यता अधर्म है। पराधीनता में स्वप्न में भी सुख नहीं है। ज्ञानस्वभावी आत्मा में सुख है, तथापि जिसने सुख के लिये परावलम्बन की आवश्यक्ता मानी उसे स्व के अवलम्बन का अर्थात् स्वाधीनता का अभाव होता है और पराधीनता होती है। पराधीनता ही दुःख है। दुःख है वह सुख गुण की विपरीत अवस्था है। जीव की अवस्था में दुःख है वह सिद्ध करता है कि उसमें त्रिकाल सुखगुण है। लकड़ी में क्रोध नहीं है क्योंकि उसमें क्षमागुण नहीं है। जीव को राग-द्वेष की वृत्ति के कारण जो दुःख है वह त्रिकाल सुखगुण की विकृत अवस्था है, वह विकृति क्षणिक है, उतना ही आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव अविकृत है। उसका जिसे भान नहीं है वह जीव परावलम्बी भाव करके स्वावलम्बी चैतन्य को भूलता है, वह अधर्म है। आत्मा के स्वाधीन चैतन्यस्वभाव में सुख है, उसे जाने तो धर्म हो। धर्म कहो या सुख। धर्म इस समय करे और सुख पीछे हो—ऐसा नहीं है। परन्तु धर्म तो रोकड़िया है; जो धर्म करे उसे उसी समय सुख का अनुभव होता है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, ज्ञान का स्वभाव सबको जानने का है। परन्तु जो ज्ञान आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थ के अवलम्बन में रुक कर जानता है वह ज्ञान पूर्ण नहीं जानता। दूसरों के अवलम्बन से तो चैतन्य का ज्ञान विकसित नहीं होता, परन्तु यहाँ तो आचार्य भगवान कहते हैं कि मन के अवलम्बन से जो ज्ञान विकसित होता है वह ज्ञान भी चैतन्यस्वभाव में प्रविष्ट नहीं होता। ज्ञान अरूपी है, मन तो रूपी-जड़ है। चाहे जितना ज्ञान एकत्रित होजाये परन्तु उसमें किंचित् भार नहीं होता, क्योंकि वह अरूपी है।

और कई वर्ष पूर्व की बात याद करने में अधिक समय नहीं लगता। जिसप्रकार कल की बात याद करता है उसीप्रकार पचास वर्ष पूर्व की बात भी क्षण में याद करता है. क्योंकि ज्ञान का स्वभाव काल को खा जाता है। एक समय में तीन काल को जान लेने का स्वभाव है;- ऐसा अपना ज्ञानसामर्थ्य है। पूर्व में विकारभाव किए हों उनका वर्तमान में ज्ञान करे तथापि ज्ञान के साथ पूर्व का विकार नहीं होता, विकार तो नवीन करे तो होता है, और न करे तो नहीं होता; इसलिये ज्ञान का स्वभाव विकाररहित है। इस शरीर के वियोग से चैतन्यसत्ता का नाश नहीं होजाता, और विकारी भावों का नाश होने से भी चैतन्य-सत्ता का नाश नहीं होता; इसलिये आत्मा की चैतन्यसत्ता शरीर से और विकार से भिन्न है। आत्मा अरूपी, ज्ञानस्वभावी और निर्विकारी है, ऐसे आत्मा में ही स्वाधीन सुख है—इसकी जबतक पहिचान और प्रतीति न करे तबतक जीव सुख के सच्चे मार्ग पर नहीं है।

जिसप्रकार बालक लकड़ी को घोड़ा मानता है; परन्तु जब बिच्छू काटे उससमय वह बैठने के काम में नहीं आता; उसीप्रकार अज्ञानी पैसादि में सुख मानता है, परन्तु उसमें सुख नहीं है; किसी संयोग में से सुख नहीं भोगा जासकता। अज्ञानी का चित्त स्वभाव को भूल-कर बाह्य में ही लगा रहता है परन्तु अन्तरोन्मुख नहीं होता। अज्ञानी का मन अनादि से बाह्य में ही क्यों फिरता है? अन्तरोन्मुख क्यों नहीं होता? उसके उत्तररूप में आचार्यदेव अलङ्कार से कहते हैं कि—यदि मन अन्तर स्वभावोन्मुख हो, तो मन की मृत्यु होजाती है। इससे 'मन' को ऐसा होता है कि—'यदि मैं अन्तर स्वरूपोन्मुख होऊँगा तो मेरी मृत्यु होजायेगी।' इसलिये मृत्यु के भय से वह बाहर ही भटकता है। आशय यह है कि हे जीव! प्रथम तो अन्तरस्वभावो-न्मुख होकर श्रद्धा कर कि मन के अवलम्बन से मुझे लाभ नहीं होता। ऐसी श्रद्धा करके मन को थोथा (निर्माल्य) बनादे। पहले अन्तरो-न्मुख होकर 'परावलम्बन से लाभ होता है'-ऐसी मान्यता का नाश करने के पश्चात् ज्ञानी को अस्थि-रता से मन का अवलम्बन आता है उसे श्रद्धा के बल से थोथा बना देते हैं। जिससे भय लगता

हो उसके पास नहीं जाते; उसीप्रकार अन्तरस्वभावोन्मुख होने में 'मन' को मृत्यु का भय है इससे वह बाह्य में भटकता है; किन्तु अन्तरोन्मुख नहीं होता। इसलिये यहाँ अलंकार से आचार्यदेव ने ऐसा कहा है कि आत्मा का स्वभाव मन से पार है, मन का अवलम्बन भी आत्मा को नहीं है।

आत्मा के स्वभाव को भूलकर उसने परावलम्बन माना है, वह मान्यता ही संसार है। आत्मा का संसार बाह्य में शरीर-स्त्री-इत्यादि में नहीं है; यदि शरीरादि में आत्मा का संसार हो तो मरने पर उसे छोड़कर चला जाता है, इससे उसका संसार ही छूट जायेगा।

हे भाई! यह शरीर तेरी वस्तु नहीं है। यह तो जलकर राख होजायगा। शरीर में ऐसी शक्ति होती है कि–सींग पकड़कर बड़े भारी साँड को खड़ा रखे, और क्षय रोग होजाने पर श्वास लेने की भी शक्ति नहीं रहती। यह तो शरीर की अवस्था है; वह शरीर तेरी वस्तु नहीं है; अन्तर में तेरी चैतन्यसत्ता है उसे संभाल। एक क्षणमात्र भी चैतन्यसत्ता को पहिचानकर सम्यक्त्व न प्रगट करे तो क्रमशः संसार दूर होकर मुक्ति हुए बिना न रहे। भाई! इस बात को अस्वीकार करके तू कहाँ जायेगा? कहाँ जाकर विश्राम लेगा? 'मैं नहीं हूँ'–ऐसा इन्कार करने में भी 'हूँ' आ जाती है; क्योंकि 'मैं नहीं हूँ' ऐसा किसने जाना? 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अस्वीकार किसकी सत्ता में आया? इसलिये 'मैं नहीं हूँ' ऐसा कहने में ही 'मैं हूँ'–ऐसा सिद्ध होजाता है।

प्रभु! तेरी चैतन्यसत्ता को पर का अवलम्बन नहीं है। तेरे धर्म का आधार तेरी चैतन्यसत्ता है। तेरे धर्म का आधार शरीर नहीं है, मन नहीं है, पुण्य-पाप नहीं है; अन्तर में चैतन्यस्वभाव है उसकी प्रतीति से ही धर्म होता है। भाई! तूने अपनी स्वावलम्बी चैतन्यसत्ता की कभी प्रतीति नहीं की है। चैतन्यसत्ता ऐसी नहीं है कि उसकी श्रद्धा के लिये पर का अवलम्बन हो! निर्लेप चैतन्यसत्ता शुद्ध है उसकी प्रतीति मन के अवलम्बन से नहीं होती। ऐसी अपने चैतन्य भगवान की सत्ता को भूलकर अनादि से पर में सुख मान रहा है, वह मान्यता अब छोड़ दे तो तेरा संसार दूर हो जाये और सच्चा-सुख प्रगट हो।

यदि चैतन्य सत्ता में उन्मुख होकर वहाँ एकाग्र हो तो मन मर जाता है, अर्थात् मन का अवलम्बन छूट जाता है। मन को मृत्यु का भय है इससे वह चैतन्यस्वभाव में लीन नहीं होता। 'यदि मैं परमात्म-स्वरूप में लीन होऊंगा तो मेरी मृत्यु होजाएगी'-ऐसे मृत्यु के भय के कारण मन आत्मा में स्थिर नहीं होता और बाह्य में फिरता है। एकबार भी यदि मन का अव-लम्बन छोड़कर आत्मस्वभावोन्मुख हो तो जन्म-मरण का नाश होकर मुक्ति होती है और मन के बिना मुक्त होजाता है यदि मन से पार चैतन्यस्वरूप आत्मा की महिमा जानकर उसमें स्थिर हो तो मन के संकल्प विकल्प का नाश होजाये और आत्मा को परमात्मदशा प्रगट होजाये। पहले सत्समागम से ज्ञान-स्वभावी आत्मा की पहिचान करना चाहिये।

सुख का सागर चैतन्य प्रभु है, और जो दुःख है वह क्षणिक विकार है; मन के अवलम्बन से भी वह विकार दूर नहीं होता। अन्तरंग में चैतन्यसत्ता सुख से परिपूर्ण है, उसके अवलम्बन से धर्म का प्रारंभ होता है और विकार दूर होता है। अन्तर में शरीरातीत-मनोतीत-वच-नातीत और विकारातीत चैतन्यसत्ता है उसकी श्रद्धा को किसी का अव-लम्बन नहीं है,—पहले इसका विश्वास आना चाहिए; चैतन्य सत्ता के विश्वास से ही धर्म का प्रारम्भ होता है। जहाँतक चैतन्य की श्रद्धा को निरालम्बी न बनाए और ज्ञान को रागरहित न बनाए तबतक धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। इस-लिये हे जीव! स्वाभाविक चैतन्य की श्रद्धा कर, उसका ज्ञान कर! आनन्दकन्द आत्मा की श्रद्धा ज्ञान करके उसमें एकाग्रता करना ही धर्म की क्रिया है; इसके अतिरिक्त कोई धर्म की क्रिया नहीं है। ऐसी धर्म की क्रिया ही आत्मा के सच्चे सुख का उपाय है।

नव-तत्त्व

[गतांक से आगे]

[पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

(१४) पुण्यतत्व

जीव में दया, दान, पूजा, भक्ति अथवा अन्य किसी निमित्त से कषाय की मन्दता के भाव होते हैं, वे भाव पुण्य हैं—आत्मा की अवस्था में होनेवाला क्षणिक शुभ-विकार है। वह परपदार्थ के लक्ष्य से होने के कारण आत्मा का स्वरूप नहीं है; वह आत्मा का स्वरूप नहीं है, इसलिये जीव पाप की भांति पुण्य का भी अभाव करके मात्र आत्मस्वभाव में रहना चाहता है। यदि आत्मा की वर्तमानदशा में पुण्यरूप विकारी भावों को स्वीकार न करे तो वह पुण्य से रहित आत्मा के शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान नहीं कर सकता।

और जीव को जो पुण्य होता है वह पैसे से या दूसरे जीव के बचाने से नहीं होता; क्योंकि पैसा जड़ पदार्थ है; उसका आना-जाना जीवके अधीन नहीं है, इससे वास्तव में वह जड़ रुपये-पैसे को नहीं देसकता, और दूसरा जीव अपनी आयु के कारण बचता है, यह जीव उसे बचा नहीं सकता। इसलिये पैसे से और दूसरे जीव के बचने से इसे पुण्य नहीं होता; किन्तु पैसे के प्रति जो राग है उसे कम करने से और अपने अनुकम्पा के भाव से पुण्य होता है। कितने ही लोग दया-दान के भाव को पाप कहते हैं वह बात यथार्थ नहीं है। जीव का जो लोभ घटाने का भाव और प्राणी के प्रति अनुकम्पा का भाव होता है वह पुण्यभाव है। वह भाव पाप नहीं है और धर्म भी नहीं है। धर्म तो पुण्य और पाप से रहित बिलकुल भिन्न ही वस्तु है। वह तो आत्मा का अज्ञान, राग द्वेष रहित स्वभाव है। जो पुण्य को पाप मानते हैं उन्हें धर्म या धर्म का भान नहीं होसकता। जिसप्रकार हिंसा-झूठ इत्यादि जीव की अवस्था में होने वाले भाव पाप हैं वैसे ही उसकी अवस्था में होने वाले दया-दान-तृष्णा घटाने के भाव पुण्य हैं। दया-दान में पाप मानने वाले कहते हैं कि 'हम दूसरे जीव को बचाते हैं, तो वह जीव

जितने पाप करेगा उसके पाप अपने को लगेंगे; गरीब को पैसा देंगे और उसने वह बुरे कार्यों में लगाया तो उसका पाप अपने को लगेगा।' उनकी यह बात बिलकुल मिथ्या है। पाप–पुण्य पर से लगता है या अपने परिणामों से होता है? पुण्य तो अपनी तृष्णा घटाने से होता है। दूसरा जीव क्या करेगा, बाद में अधिक पाप करेगा या क्या करेगा उससे इसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

लक्ष्मी पर से राग कम करने की वृत्ति होती है वह आत्मा की अवस्था में होने वाला पुण्यभाव है। पुण्य को स्वीकार न करे तो नवतत्व सिद्ध नहीं होते; अरे! किसी भी एकतत्व को स्वीकार न करे तो कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

जिसप्रकार पापतत्व को न माने तो 'मैं इस पापभाव को दूर करके धर्म करूँ, अपना हित करूँ'–यह रहता ही नहीं; वैसे ही आत्मा में होनेवाली शुभवृत्ति, दयादि के शुभभाव जोकि पुण्यतत्व है उसे यथावत् स्वीकार न करे और इसीको पाप कहे तो उसने नवतत्वों को नहीं जाना है। पुण्य–पाप दोनों भाव मलिन हैं, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह धर्म या धर्म का साधन नहीं है–ऐसा स्वीकार न करे तो, मैं इन पुण्य–पापरूप भावों को दूर करके स्वभाव की श्रद्धा–ज्ञान करके शुद्धता प्रगट करूँ वह भी नहीं रहता।

पिंजरापोल में जीवों को बचाने के भाव को कितने ही लोग पाप कहते हैं; वे पापतत्व और पुण्यतत्व के भिन्न स्वरूप को नहीं समझते। पुण्य को पाप माने या पाप को पुण्य माने अथवा दोनों मलिन है उन्हें मलिन न माने, पुण्य को धर्म अथवा धर्म का कारण माने तो वह बात भी सच्ची नहीं है; उसने पुण्य, पाप और धर्म के स्वरूप को पृथक् नहीं जाना है।

जिसप्रकार आत्मा त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से शुभाशुभ विकाररहित शुद्ध है वैसे ही पर्याय से भी आत्मा वर्तमान संसार-अवस्था में शुद्ध है–ऐसा माने तो उसे मलिनता को दूर करके शुद्ध होने का अवसर नहीं रहता। आत्मा वर्तमान पर्याय में मलिन है; उसकी पर्याय में पुण्य–पापरूप मलिनता होती है, उसे न माने तो 'उस मलिनता से रहित ज्ञाता–दृष्टा मेरा

स्वभाव है, उसका आश्रय लेकर मैं धर्म करूँ'–ऐसा उसे रहता ही नहीं। पुण्य और पाप दोनों को मलिन कहा है। दोनों को मलिनतारूप से स्वीकार न करे तो उन दोनो क्षणिकभावों का अभाव करके त्रिकाली शुद्धस्वभाव की ओर उन्मुख होना नहीं रहता। पुण्य और पाप को–दोनों को भिन्न न जाने तो नवतत्त्व नहीं रहते; इसलिये पुण्य और पाप-दोनों पृथक् तत्व हैं। इसप्रकार पाप की भांति पुण्य भी तत्व है–ऐसा सिद्ध हुआ।

(१५) आस्रव

पुण्य, पाप, आस्रव और बंध इन चार मलिन तत्वों में पुण्य और पाप दो तत्वों की बात हुई। अब, पुण्य–पाप दोनों को मलिनता की अपेक्षा से एक करके उन्हें आस्रव कहते हैं। पुण्य–पाप दोनों विकाररूप से एकरूप हैं, वह आस्रव-तत्व है। पुण्य-पाप दोनों मूल चैतन्यस्वभाव में नहीं हैं, जीव ने अवस्था में नवीन कृत्रिम तैयार किये हैं; इसलिये दोनों को एक-रूप देकर उसे आस्रवतत्व कहा है। इसप्रकार पुण्य पाप आत्मा का स्व-भाव न होने से, और क्षणिक परलक्ष्य से नवीन होते होने से–आते होने से अर्थात् कृत्रिम तैयार होने से दोनों को एक नाम देकर आस्रव कहा है। इसप्रकार आस्रव तत्त्व सिद्ध हुआ।

(१६) बन्धतत्व

ज्ञाता–द्रष्टा स्वभावी आत्मा की वर्तमान अवस्था में शुभ–अशुभ भाव अथवा मोह–राग-द्वेषरूप भावों का होना, क्षणिक कृत्रिम विकारों का परलक्ष्य से तैयार होना सो आस्रव तत्व है; और उन मोह–राग-द्वेषादि भावों में जीव का रुकना सो बन्ध है। मलिनता का होना वह आस्रव और मलिनता का रुकना सो बन्ध। मलिनता में रुककर विकार की वृद्धि करना सो बन्ध है। इसप्रकार आत्मा की पर्याय में पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध, इन मलिन भावों का स्वीकार न हो, उनसे छूटनेरूप धर्म करने का अवकाश नहीं रहता। भगवान त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव ने जिसप्रकार जीवादि नवतत्वों का स्वरूप कहा है वैसा न समझे तो उसे अज्ञान दूर करके धर्म करने का अवसर नहीं रहता।

'मुझे धर्म करना है'–ऐसी जिज्ञासा इस जीव को उत्पन्न होती है। इस जिज्ञासा में नवों तत्व सिद्ध

होते हैं। 'मुझे धर्म करना है' इस ध्वनि में 'मुझे' कहने से मैं एक जीवतत्व हूँ, इसप्रकार प्रथम जीव सिद्ध होता है। मैं अपनी वर्तमान अवस्था में रुकता हूँ, उस रुकने में मुझसे अन्य-विजातीय तत्व निमित्त है, क्योंकि मात्र आत्मस्वभाव रुकने का कारण नहीं होता, किन्तु आत्मस्वभाव से विपरीत स्वभाव वाले परद्रव्य के लक्ष्य से जीव रुकता है; इसलिये एक दूसरा निमित्त है वह अजीवतत्व है। जीव स्वयं अपनी भूल से पर लक्ष से विकाररूप परिणमित होता है; वह विकार पुण्य और पाप-ऐसे दो प्रकार का है। पुण्य-पाप दोनों विकार होने से मलिनता की अपेक्षा से दोनों मिलकर आस्रव हैं; उस मलिनदशा में रुकना सो बन्धदशा है। इसप्रकार चार मलिनतत्व जीव की क्षणिक अवस्था में हैं। इन चार मलिन दशाओं को यथावत् स्वीकार न करे तो 'मुझे मलिनता दूर करके धर्म करना है'-ऐसी जिज्ञासा जागृत नहीं होसकेगी, और 'पुण्य-पाप इत्यादि से छूटकर स्वभाव में जाना, (बन्ध में न रुककर स्वभाव में जाना) नहीं रहता। इसलिये जीव की अवस्था में चार मलिनतत्व सिद्ध होते हैं।

(१७) संवरतत्व

और, इसप्रकार जहाँ चार मलिन भावों का स्वीकार हुआ, वहाँ, 'वे मलिनभाव मैं नहीं हूँ, मैं तो चैतन्य-निर्मल ज्ञानतत्व हूँ' ऐसे श्रद्धा-ज्ञान प्रगट हुए वह संवर तत्व है-वह निर्मलदशा है। मैं पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध नहीं हूँ, मैं तो निर्मल ज्ञानस्वभावी ध्रुवतत्व हूँ-ऐसी श्रद्धा होने से अवस्था में विकार को रोका सो संवर है। विकार का अंशतः रुकना और स्वभाव के आश्रय से अंशतः निर्मल होना सो संवर है।

चैतन्य सो जीव, और जीव को विकार का निमित्त सो अजीव। जड़ के लक्ष से होने वाली क्षणिक विकारी दशाएँ, स्वभाव के लक्ष्य से वह क्षणिक विकार अंशतः दूर होने से प्रगट होने वाली अंशतः निर्मल पर्याय और सम्पूर्ण विकार का नाश होने से प्रगट होने वाली सम्पूर्ण निर्मल पर्याय-इन सबकी यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान त्रिकाली चैतन्यस्वभाव के आश्रय से होता है-वह संवर है। जो उसे स्वीकार न करे उस जीव के सम्यग्दर्शनरूपी धर्म नहीं

होता। मैं त्रिकाली शुद्ध चैतन्य हूँ, क्षणिक अवस्था में विकार होने पर भी वह विकार मेरे त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। पुण्यादि चार मलिन-तत्व हैं वह दुःख है, उससे रहित मेरा त्रिकालीस्वभाव सुखस्वरूप है, सुख मेरे स्वभाव में से आता है–ऐसा जानने से जो निर्मलदशा प्रगट होती है वह संवर है। शुद्ध चैतन्य-स्वभाव की ओर उन्मुख होने की दशा, शुद्धता का अंश और विकार को दूर करने का उपाय–ऐसे संवर को न माने तो उसे 'धर्म करना है' ऐसा नहीं रहता। धर्मदशा प्रारम्भ होने के पश्चात् अंशतः विकार और अंशतः शुद्धता दोनों अपूर्णदशा में साथ होते हैं। जिसे धर्म करना है उसका इन नवतत्वों की यथार्थ प्रतीति के बिना नहीं चल सकता अर्थात् धर्म नहीं हो सकता।

और नवतत्वों का बराबर ज्ञान करके अपने त्रिकाली ध्रुव शुद्ध आत्मा की दृष्टि करे तो सम्यग्दर्शन धर्म हो। केवल नवतत्वों के भेद के राग में रुका रहे तो धर्म नहीं होगा। नवतत्वों के भेद का राग भी विकार है। क्या विकार के लक्ष्य से निर्मलता आती है? नहीं आती।

(१८) निर्जरातत्व

पुण्य-पाप की रुचि, विकार की रुचि और उसमें रुकने की अर्थात् बन्ध की रुचि न छोड़े तो प्रथम सम्यग्दर्शन धर्म नहीं होता। विकार होने की और विकार में रुकने की रुचि छोड़ना तथा विकाररहित ध्रुवस्वभाव की रुचि करना सो सम्यग्दर्शन धर्म है। पश्चात् जो भी कुछ अशुद्धता रही उसका अंशतः नाश करना और शुद्धता की अंशतः वृद्धि करना उसे निर्जरा कहते हैं।

(१९) मोक्षतत्व

त्रिकाली स्वभाव शुद्ध है, उसमें से पर्याय में शुद्धता हुई है। यदि स्वभाव शुद्ध न हो तो उसे शुद्ध करना रहता ही नहीं; इसलिये त्रिकाली स्वभाव शुद्ध है; शुद्धि का बाह्य में कोई साधन नहीं है। कोई निमित्त या बाह्य संयोग शुद्धि के साधन नहीं हैं, परन्तु अपना त्रिकाली शुद्धस्वभाव ही शुद्धि अर्थात् धर्म का निश्चय साधन है।

लोग बातें करते हैं कि शत्रु को रोकना चाहिए, जिससे वह अपने को हानि न पहुँचा सके; परन्तु वास्तव में तो आत्मा का शत्रु बाह्य में कोई नहीं है; अपनी

विकारीदशा ही अपना शत्रु है; इसलिये उसे रोकना चाहिये। स्वभाव के आश्रय से शुद्धता में वृद्धि होते-होते सम्पूर्ण विकार दूर होगया और पूर्ण निर्मलदशा प्रगट होगई वह मोक्ष है।

इसप्रकार विकारी और अविकारी—ऐसे पर्याय के भेद, तथा पर्याय में होने वाले निर्मलता के भेद स्वीकार न करे उसे शुद्धि की वृद्धि के प्रकार सिद्ध नहीं होते।

(२०) नवतत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा का फल

यदि यह नवतत्व मानने में न आयें तो कोई बात सिद्ध नहीं होती। (१) जीव न हो तो दुःख दूर किसे करना है? (२) अजीव न हो तो दुःख किसके लक्ष्य से हुआ? (३–४) पुण्य–पापरूप भूल, (५) भूल का होना, और (६) भूल का रुक-जाना—इसप्रकार भूल अर्थात् दुःख न हो तो करना क्या रहा? भूल को दूर करके निर्मलता को न माने तो मोक्ष के कारणरूप (७) विकार का रुकना—निर्विकार का प्रगट होना; (८) विकार का अंशतः दूर होना और शुद्धि में विशेष स्थिरता तथा (९) विकार को सर्वथा दूर करके सम्पूर्ण शुद्धता–मोक्ष प्रगट करना, यह कुछ नहीं रहता।

जब से इस जीव ने नवतत्त्वों को यथार्थतया जाना, तब से उसे त्रिकाली चैतन्य का यथार्थ स्वीकार हुआ। पहले जो अकेले विकार में रुकता था, वर्तमानदशा जितना ही आत्मा को मानता था, केवल पुण्य-पाप आदि विकार को ही अपनेरूप से स्वीकार करता था, वह अब, त्रिकाली स्वभाव का भान होने से बदल गया कि 'मैं इन पुण्य–पाप जितना क्षणिक नहीं हूँ, इन क्षणिक विकारी शुभाशुभभावों से रहित त्रिकाली शुद्ध जीव पदार्थ हूँ'—ऐसे स्वभाव का जिस भाव से स्वीकार किया उस भाव को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा के यथार्थ भान बिना धर्म में एक पग भी आगे नहीं चला जासकता; ऐसी आत्मा की सच्ची श्रद्धा के बिना पुण्य–पाप आदि विकार को दूर करने तथा शुद्धता प्रगट करने के लिये कुछ भी नहीं किया जासकता।

मोह–रागद्वेषादि से रहित निर्मल आत्मस्वभाव है, उसका जिस श्रद्धा से स्वीकार किया उस श्रद्धा के बल से विकार घटने लगा।

स्वभाव की दृष्टि द्वारा शुभाशुभ विकार दूर होते-होते आत्मा की अवस्था में जो सर्वथा निर्मलता हुई, उसे मोक्षदशा कहते हैं।

जीव और अजीव दो पदार्थ, उनके संयोग से होने वाली पुण्य-पाप, आस्रव, बंध-यह चार विकारी दशाएँ, और उन दो के वियोग से होने वाली संवर-निर्जरा-मोक्ष यह तीन निर्मल दशाएँ; इसप्रकार नवतत्वों की स्वीकृति बिना धर्म नहीं किया जासकता। पुण्य-पापादि मलिनता यदि बिल्कुल ही न हो तो धर्म क्यों करना? और यदि पुण्य पापादि विकारी भाव जीव का स्थायी स्वभाव हो तो उसे किसप्रकार दूर कर सकते हैं? परन्तु जीव को पुण्य-पापादि विकारभाव दूर करके निर्मलदशा प्रगट करना है; जीव को निर्मल पर्याय नवीन प्रगट करना है, दूसरा कुछ नवीन नहीं करना है। जीव तो त्रिकाली ध्रुव शुद्धस्वभावी पदार्थ है, परन्तु वर्तमानदशा में वैसी शुद्धता प्रगट करना है। जिसे ध्रुवस्वभाव का अनुभव करना हो उसे प्रथम इन नवतत्वों को यथावत् जानना चाहिये।

किसका आदर करने से सम्यग्दर्शन होता है?

[श्री नियमसार गाथा ५० पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों से]

यह शुद्धभाव अधिकार चल रहा है। आत्मा का स्वभाव ही शुद्धभाव है, और वही आदरणीय है। इस शुद्धस्वभाव को मानना सो सम्यग्दर्शन है। आत्मा का शुद्धस्वभाव पर से पृथक् और विकार से रहित किसप्रकार है? वह जानकर, उसकी रुचि करना सो सम्यग्दर्शन है। स्वभाव क्या है और परभाव क्या है-यह जाने बिना स्वभाव की रुचि नहीं होती और पर की महिमा नहीं टलती, और वहाँतक जीव को धर्म भी नहीं होता।

जीव अपने स्वभाव को भूलकर पर की चाहे जैसी रुचि करे और कर्तापने का अभिमान करे किन्तु उससे कहीं परवस्तु अपनी नहीं होजाती और आप परवस्तु का कुछ कर नहीं सकता। अपने स्वभाव की पूर्णता की महिमा नहीं जानी है इसलिए विकार से और पर से अपनी महिमा मान रहा है। शुभभाव करे वहाँ

मैंने बहुत किया-ऐसा मान लेता है और इच्छानुसार बाह्य में अनुकूलता देखे, वहाँ तो जानता है कि मैं इससे भरपूर हूँ। परन्तु उस अज्ञानी को खबर नहीं है कि ज्ञान-सुख से परिपूर्ण तो अपना स्वभाव ही है और वही अपने को शरणभूत है, बाहर की कोई वस्तु किंचित शरणभूत नहीं नहीं है और विकार भी शरणभूत नहीं है। जिसे अपने स्वभाव की विकार से और पर से भिन्नता भासित नहीं होती और विकार में तथा पर में ही एकाकारपना मान रहा है, वह अपने शुद्धभाव को उपादेय नहीं जानता; वह मिथ्यादृष्टि है। और जो जीव अपने शुद्धभाव को विकार से तथा पर से पृथक् जानकर उपादेय मानता है वह धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि है।

इस जीव को परवस्तुएँ किंचित् भी शरणभूत नहीं हैं। परन्तु 'मुझे परवस्तुएँ शरणभूत नहीं हैं, और न उनमें मेरा सुख है'-ऐसा अज्ञानी को मूढ़बुद्धि के कारण भासित नहीं होता। स्वयं सदैव परिपूर्ण भगवान स्वरूप से अन्तर में स्थित है, उसे तो भूल ही जाता है; और वर्तमान में अशुभ छोड़कर शुभपरिणाम करे वहाँ आप परिपूर्ण हो-ऐसा अज्ञानी को लगता है; परन्तु श्रीगुरु कहते हैं कि भाई! पुण्य तेरा स्वरूप नहीं है, पुण्य किया इससे तेरे आत्मा का बड़प्पन नहीं है; तेरा आत्मा तो पुण्य-पाप रहित इसीसमय एकरूप ज्ञानभाव से भरपूर है, इसीमें तेरा सुख है, यही तुझे उपादेय है। तू इसे भूलकर पुण्य-पाप में अपना एकत्व मान रहा है और उसमें सुख मानता है, परन्तु भाई! इस विपरीत मान्यता से तो करोड़ों बिच्छुओं के डंक की वेदना की अपेक्षात् अधिक वेदना भोग रहा है; इसलिये शुद्धस्वभाव के अभ्यासद्वारा यह मान्यता छोड़।

जो शुभ या अशुभ परिणाम होते हैं वे आत्मा के मूल स्वरूप में नहीं है, परन्तु पर्याय में ऊपर से होने वाले विकारभाव हैं। उन ऊपर से होनेवाले विकारभावों जितना आत्मा को न मानकर, अन्तर के मूल स्वरूप को देख! जिसप्रकार समुद्र के जल में कहीं मैली लहरें दिखाई देती हैं, परन्तु कहीं पूरा समुद्र मैला नहीं है, क्षणिक मैली लहरें सारे समुद्र को मैला करने में समर्थ नहीं हैं। मैली लहरों के

समय भी समुद्र तो निर्मल है। उसीप्रकार यह आत्मा चैतन्यसमुद्र है, उसकी वर्तमानदशा में जो मलिनता दिखाई देती है वह क्षणिक है, सम्पूर्ण आत्मस्वरूप मैला नहीं है; आत्मस्वरूप तो शुद्ध एकरूप है। जो क्षणिक विकार होता है वह भाव सम्पूर्ण शुद्धस्वरूप को मलिन करने में समर्थ नहीं है। विकार जितना ही आत्मा को मानना सो अज्ञान है और शुद्ध आत्मस्वरूप को मानना वह सम्यग्ज्ञान है।

मीठे जल से भरे हुए समुद्र की लहरों में जो मलिनता दिखाई देती है उतना ही कहीं सम्पूर्ण समुद्र नहीं है; यदि समुद्र को मूल स्वरूप से देखें तो वह समुद्र और पानी एकरूप स्वच्छ है, लहरों की मलिनता तो बाहर की उपाधि है। उसीप्रकार यह आत्मा सहज चैतन्यरूप है उसमें वर्तमान में जो विकार भाव दिखाई देता है वह उसके मूल स्वरूप में नहीं है। यदि अकेले आत्मा को मूल स्वरूप से देखें तो उसके द्रव्य में, गुण में या वर्तमान भाव में भी विकार नहीं है। आत्मा का मूलस्वरूप शुद्ध है वह उपादेय है। जिसप्रकार समुद्र का ऐसा स्वभाव है कि वह मैल को अपने में नहीं रहने देता किन्तु उछालकर बाहर फेंक देता है; उसीप्रकार इस आत्मस्वरूप में विकारभावों का प्रवेश नहीं होसकता। आत्मा अन्तरतत्त्व है और विकार बहिरतत्व है; अन्तरतत्व में बहिरतत्व का प्रवेश नहीं है। आत्मा का स्वभाव विकार का नाश करना है; ऐसा आत्मस्वभाव ही अमृतरूप है, उसकी पहिचान के अतिरिक्त अन्य जितने भाव करता है वे सब विषरूप-संसारस्वरूप हैं।

पुण्य-पाप परिणामों में या उनके फल को भोगने में आनन्द मानना वह मूढ़ता है। पुण्यपरिणाम करके यह मानना कि 'मैंने बहुत अच्छे भाव किये' वह अग्नि के लावे का उपभोग करने जैसा है। जिसप्रकार कोई पागल मनुष्य जलते हुए अंगारे को हाथ पर रखकर ऐसा माने कि मैं अग्नि का उपभोग कर रहा हूँ, मुझे बहुत आनन्द आता है; परन्तु अग्नि से हाथ जला जारहा है इसका उसे भान नहीं है। वैसे ही पुण्य परिणामों के वेदन से तो आकुलतारूपी अग्नि में आत्मा जल रहा है, परन्तु अज्ञानी उसमें शांति मानता है।

आत्मा अपने स्वभाव से भर-

पूर है; परन्तु अज्ञानी जीव स्वभाव की महिमा नहीं समझता इससे स्वभाव की शरण नहीं करता; उसकी दृष्टि निमित्तों पर है इससे निमित्तों की उपस्थिति में उसे अपनी शरण मालूम होती है। बाह्य पदार्थों से तो आप रहित है और अन्तर में शुद्ध आनन्दघन स्वभाव से परिपूर्ण है—वही उपादेय और शरणभूत है। परन्तु उसके भान बिना अपने को बाह्य—क्षणिक वस्तुओं से परिपूर्ण मानता है, अपने को निर्माल्य मानता है; परन्तु बाह्य पदार्थों में से जीव की शांति कभी नहीं आसकती। और यदि किंचित् पुण्यपरिणाम करे तो उससे अपने को परिपूर्ण मानता है, क्षणिक परिणाम में ही अर्पित होकर उसीमें आत्मा का सर्वस्व मान बैठा है; परन्तु क्षणिक पुण्य—परिणामरहित पूर्ण वस्तु आनंदकंद है उसे नहीं जानता।

जीव का श्रद्धा गुण ऐसा है कि जहाँ उसकी दृष्टि पड़े वहाँ वह अपने को पूर्ण मानता है। अपना मूल स्वभाव पूर्ण है उसकी श्रद्धा छोड़कर अज्ञानियों ने विकार में और पर में अपनत्व माना है, इससे विकार से और पर से ही अपने को परिपूर्ण मानते हैं, परन्तु उससे भिन्न स्वरूप है उसे नहीं जानते। अज्ञानी जहाँ-जहाँ दृष्टि डालते हैं वहाँ वे परिपूर्ण ही मानते हैं—अपूर्णता नहीं मानते। अन्तर में अपना स्वभाव पूर्ण है उससे विपरीत होकर बाह्य में भी अपनी पूर्णता मानते हैं। स्वयं पूर्ण है परन्तु दृष्टि में विपरीत होगया है इसलिये बाह्य में पूर्णता मान बैठा है। बाह्य में पूर्णता माननेवाला स्वयं ही पूर्ण है, परन्तु जहाँ पूर्णता है वहाँ न मानकर, जहां नहीं है वहाँ अपनत्व माना है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि तेरा शुद्धस्वभाव ही तुझे उपादेय है, उसी की तू मान्यता कर, इसके अतिरिक दूसरा कुछ तुझे ग्रहण करने योग्य नहीं है। पर्याय में रागादि होने पर भी वे ग्रहण करने योग्य नहीं हैं—ऐसी श्रद्धा करना वह धर्म है। रागादि में आत्मा नहीं है; तथापि वहाँ मिथ्या कल्पना करके अपनत्व मान रहा है, वह असत् मान्यता ही अधर्म है। और जो अपना सत्स्वभाव है उसी को मान्यता में स्वीकार करना सो सत् की मान्यता है, और वह धर्म है।

अज्ञानी जीव पैसा, मकान, स्त्री इत्यादि को शरणभूत मानता

है, लेकिन जिससमय बिच्छू जमाकर डंक मारता है तो रोता-चिल्लाता है। उससमय पैसा, बंगला और स्त्री इत्यादि वस्तुएँ जैसी थीं वैसी ही होने पर भी क्यों शरणभूत नहीं होतीं ? पहले तो उनमें सुख मानता था न ? कहाँ गई तेरी सुख की कल्पना ? इसलिये हे अज्ञानी ! तू समझ कि यह कोई भी बाह्य पदार्थ तुझे शरणभूत नहीं हैं; उनमें सुख की जो कल्पना की थी वह कल्पना भी शरणभूत नहीं है और जिसके फल में वे संयोग प्राप्त हुए हैं वह पुण्य भी तुझे शरणभूत नहीं है। यह सब तुझसे बाह्य तत्व हैं और तेरा जो एकरूप चैतन्यस्वभाव है वह अंतरतत्व है और वही शरणभूत है। उस स्वभाव की पहिचान आचार्यदेव इस गाथा में कराते हैं।

यह आत्मा अपने गुणों से और पर्यायों से पूर्ण है। वर्तमान पर्याय में जो अपूर्णता दिखाई देती है उतना ही वह नहीं है। पर्याय का लक्ष छोड़कर द्रव्यस्वभाव के लक्ष से जो एकरूप स्वभाव ज्ञात होता है वही आत्मतत्व है और वही उपादेय है। जहाँतक उसका अनुभव नहीं होता वहाँतक उसके लक्ष से बारम्बार उसका श्रवण-मनन करना चाहिये, और उसकी महिमा का बारम्बार चिंतवन करना चाहिए। अनादि से पर्याय जितना मानकर स्वयं उसकी महिमा में अटका हुआ है और विकार का ही अनुभव किया है, उसके बदले स्वभाव की महिमा करे तो विकाररहित शुद्धभाव का अनुभव होता है और विकार की महिमा छूट जाती है। सुखी होने का मार्ग यही है।

आत्मा एकरूप द्रव्य है; उसकी पर्याय में साततत्वों के विकल्परूपी लहरें उठती हैं वह आत्मा नहीं है। और नवपदार्थ के रागमिश्रित विचार आते हैं वह भी आत्मा नहीं है। 'मैं जीव हूँ'-ऐसे विकल्प में रुकना वह अज्ञानबुद्धि है, क्योंकि 'मैं जीव हूँ-अजीव नहीं हूँ'-ऐसे विकल्प आत्मा नहीं हैं; विकल्प तो मलिन तरंग है, शुभराग है, उसे आत्मा मानना तो एक मैली लहर को ही पूरा समुद्र मान लेने जैसा है; उस विकल्प को निकाल देने से जो अकेला चैतन्यदल रह जाता है वह आत्मस्वभाव है। बुद्धिमान पुरुष एक मैली लहर को देखकर सारे समुद्र को मलिन नहीं मान

लेता, परन्तु वह जानता है कि सारा समुद्र स्वच्छ है, यह मलिन लहर उसका स्वरूप नहीं है। समुद्र उस मलिनता को उछालकर बाहर फेंक देगा। उसीप्रकार जीव-अजीवादि के जो विकल्प उठते हैं वे मलिन लहर जैसा क्षणिक विकार है, सम्पूर्ण आत्मा विकार युक्त नहीं है। आत्मा का स्वभाव उस विकाररूप नहीं होगया है-ऐसा ज्ञानी जानते हैं। 'मैं जीव हूँ और प्रयत्न द्वारा अपनी मोक्षदशा प्रगट करूँ'-ऐसा विकल्प उठे वह विकार है, ज्ञानी उसे स्वभाव में प्रविष्ट नहीं होने देते, परन्तु भेदज्ञान के बल से उसे पृथक् का पृथक् ही रखते हैं; इससे चैतन्यस्वभाव के बल से वे विकार को उछालकर बाहर फेंक देते हैं। परन्तु अज्ञानी तो विकार और आत्मा को एकमेक ही जानता है, इससे वह कभी विकार से मुक्त नहीं होता।

पर्याय में चाहे जैसे मलिन भाव हों, वे एक समय पर्यंत के ही हैं, और वे स्वभाव के बाहर ही रहते हैं, स्वभाव में प्रविष्ट नहीं होते। जैसे कोई मनुष्य लकड़ी द्वारा मैली लहर को समुद्र में मिलाने का प्रयत्न करे, परन्तु वह मलिनता समुद्र में प्रविष्ट नहीं होसकती, क्योंकि समुद्र का स्वभाव ऐसा है कि वह मैल को अपने में प्रविष्ट नहीं होने देता। वैसे ही यह आत्मा परमपारिणामिकभावरूप चैतन्यसमुद्र है, और विकारी अवस्था मैली लहर के समान है। मैली अवस्था एक ही समय पर्यंत की है वह अवस्था आत्मा के स्वभाव में एकमेक नहीं होती। आत्मा का स्वभाव कभी विकारी नहीं हो-जाता। आत्मा का स्वभाव विकार से पृथक् रहने का ही है। ज्ञानी जानते हैं कि शुभराग के समस्त विकल्प मेरे स्वभाव की वस्तु नहीं है, परन्तु अन्तर में जो सदा एक-रूप ज्ञायकस्वभाव है वही मैं हूँ और वही मुझे आदरणीय है; उसकी श्रद्धा करके उसीमें एकाग्र होना उचित है; इसप्रकार अपने अन्तर-स्वभाव की प्रतीति द्वारा उसीमें आदरबुद्धि हो उसका नाम शुद्ध-भाव का ग्रहण है और वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वही 'नियमसार' है। जिसने ऐसा शुद्धात्मा का ग्रहण किया है वह सम्यग्दृष्टि है और उसे बन्धन नहीं होता; क्योंकि वह जीव बन्ध को और आत्मा के स्वरूप को पृथक्-पृथक्

जानकर बन्ध को छोड़ता है और आत्मस्वभाव को ही ग्रहण करता है, इससे उसे बन्धन नहीं होता। यह बात समयसार के बन्ध अधिकार में है। इससमय ऐसा सम्यग्दर्शन किसप्रकार होता है उसकी बात चल रही है।

आत्मा किसी पर का कर्ता या हर्ता नहीं है और न कोई आत्मा का कर्ता हर्ता है। आत्मा स्वयं पर के अवलम्बन से रहित है। पर की अपेक्षा से रहित अपने सहज ज्ञातास्वभाव की दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है। विकल्प के द्वारा आत्मा का ग्रहण नहीं होता। विकल्प आत्मा की जाति नहीं है। विकल्परहित आत्मस्वभाव है वही ग्रहण करने योग्य है। आत्मा का जो स्वभाव है उसे श्रद्धा में मानना, ज्ञान में जानना और उसमें एकाग्र होना—उसका नाम शुद्धात्मा का ग्रहण है।

भव-भ्रमण का भय

[पूज्य श्री कानजी स्वामी का व्याख्यान]

सच्चा तत्व क्या है? उसकी यह बात चल रही है। आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर अनन्तकाल से चौरासी लाख की योनियों में जन्म धारण करके भ्रमण कर रहा है। यह शरीर तो नवीन है और उसे श्मशान में राख होना है। आत्मा के भान बिना ऐसे अनन्त शरीर होचुके हैं, और जो आत्मा का भान नहीं करेगा उसे अभी अनन्त शरीर धारण करना पड़ेंगे।

'अरेरे! कहाँतक मुझे यह जन्म-मरण करना है? इस भव-भ्रमण का कहीं अन्त है या नहीं?' इसप्रकार जबतक चौरासी के अवतार का भय न हो तबतक आत्मा की प्रीति नहीं होती। 'भय बिना प्रीति नहीं' अर्थात् भवभ्रमण का भय हुए बिना आत्मा की प्रीति नहीं होती। सच्ची समझ ही विश्राम है; अनन्तकाल से संसार में रुलते हुए कहीं भी विश्राम नहीं मिला; सच्ची समझ से ही आत्मा को विश्राम मिलता है।

एक सर्प को देखने से कितना भारी भय होता है? क्योंकि शरीर पर ममत्व और प्रीति है। अरे प्राणी! एक शरीर को सर्प के

इसने का इतना भय है तो अनन्त जन्म-मरण का भय क्यों नहीं है? आत्मा की प्रतीति के बिना अनन्त अवतार के दुःख खड़े हैं उनका भय क्यों नहीं होता ? यह भव पूर्ण हुआ कि वहीं दूसरा भव तैयार है-इसप्रकार एक के पश्चात् दूसरा भव अनन्तकाल से कर रहा है। यदि आत्मा स्वतः सच्ची समझ न करे तो जन्म-मरण नहीं रुकता। अरेरे! जिसे चौरासी के अवतार का भय नहीं है वह जीव आत्मा को समझने की प्रीति नहीं करता। अरे! मेरा यह चौरासी के अवतार में परिभ्रमण कैसे रुकेगा-इसप्रकार अन्तरंग में भवभ्रमण का भय लगे तो आत्मा की दरकार रखकर यथार्थ समझने का प्रयत्न करे। यह जीव अनन्तबार ऐसा सेठ हुआ कि करोड़ों रुपये कमाये, और घर-घर में भीख मांगकर पेट भरने वाला भिखारी भी अनन्तबार हुआ। आत्मा के भान बिना पुण्य करके महान देव भी अनन्तबार हुआ, परन्तु अभी भव-भ्रमण की थकान मालूम नहीं पड़ती। आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! 'अब मुझे भव नहीं चाहिये' -इसप्रकार यदि तुझे भवभ्रमण से थकान मालूम हुई हो तो सत्समागम से आत्मा की प्रीति करके उसे समझ। इसके अतिरिक्त कोई शरण नहीं है।

सच्ची समझ मुख्यतया मनुष्य-भव में ही मिलती है। ऐसा मनुष्य-भव बहुत दुर्लभ है। मनुष्यपना तो आत्मा को समझ करने से ही सार्थक है। लोग कहते हैं कि 'चलो भाई, मेला देखने; यह मनुष्य-भव फिर नहीं मिलेगा, इसलिये चलो देख लें।' अरे भाई! क्या यह मनुष्यभव मेला देखने के लिये मिला है? अहो! अज्ञानी जीव यह मनुष्यभव पाकर विषय-भोगों में सुख मानकर रुक जाता है। जिसप्रकार बालक पेड़े के लिये हजारों रुपये का हार दे देता है, उसीप्रकार अज्ञानी जीव पुण्य-पाप और विषय-भोग के स्वाद के पास चैतन्यरूपी अमूल्य हार को बेच देता है! अमूल्य मनुष्यभव में आत्मा को समझने के बदले विषयभोगों में जीवन गवाँ देता है।

आत्मा की रुचि और मिठास छोड़कर जो जीव पैसा-शरीर तथा भोग की रुचि और मिठास करता है वह जीव आत्मस्वभाव की हत्या और भावमरण करता है।

ऐसे भावमरण को दूर करने के लिये करुणा करके श्री आचार्यदेव ने यह रचना की है। क्षणिक विकार को अपना मानकर आत्मस्वभाव का अनादर करना वह भावमरण है–मृत्यु है। आत्मस्वभाव अमर है उसे पहिचाने तो भावमरण दूर हो। इसलिये हे भाई! यदि तुझे भव के दुःखों का डर है तो आत्मा को समझने की प्रीति कर। जन्म–मरण के अन्त की बात अपूर्व है, मँहगी है। जिसके समझने की तीव्र आकांक्षा जागृत हुई हो उसकी समझ में आती है।

जिसप्रकार कुवांरी लड़की पिता के घर को अपना मानती है और उसकी सम्पत्ति को अपना कहती है, परन्तु जब कहीं सगाई–सम्बंध निश्चित किया वहाँ तुरन्त ही मान्यता बदल जाती है कि–यह घर और यह सम्पत्ति मेरी नहीं है। देखो, मान्यता बदलने में कितनी देर लगी? उसीप्रकार अनादि से संसार में परिभ्रमण करता हुआ जीव शरीर को ही अपना घर मान बैठा है, परन्तु जहाँ ज्ञानी ने समझाया कि–'सर्व जीव छे सिद्धसम, जे समजे ते थाय'–समस्त आत्मा अपने स्वभाव से सिद्ध जैसे हैं–ऐसी रुचि और ज्ञान हुआ वहाँ तुरन्त रुचि बदल गई कि यह पुण्य–पाप या शरीर मेरे नहीं हैं, मैं तो सिद्ध जैसा हूँ। सिद्धत्व मेरा स्वरूप है।

जिसप्रकार सगाई होने के पश्चात् लड़की एक–दो वर्ष पिता के घर रहे तो भी लक्ष्य तो ससुराल पर ही रहता है। उसीप्रकार जहाँ आत्म-स्वभाव का भान हुआ वहाँ सिद्ध के साथ सगाई हुई; अब यदि कुछ समय, तीन–चार भव संसार में रहे तथापि धर्मात्मा का लक्ष्य बदल गया है। सिद्धसमान जो स्वभाव है वह मैं हूँ और यह मैं नहीं हूँ–इसप्रकार अन्तर में दृष्टि बदल गई है। यह अन्तर की अपूर्व बात है। बिलकुल सरल रीति से कही जारही है। दूसरी बातें तो सारे जीवनभर सुनी होती हैं, परन्तु यह आत्मा की अपूर्व बात है, यह क्वचित् ही सुनने को मिलती है। प्रभो! तूने अपने आत्मा की बात को कभी नहीं सुना है।

अन्तर में विचार करो कि आत्मा का प्रेम कितना है, और स्त्री-बच्चों पर कितना प्रेम है? अन्तर में जो पुण्य–पाप की वृत्ति होती है वही मैं हूँ–ऐसा मानकर

उसकी प्रीति करता है परन्तु आत्मा कौन है उसे नहीं समझता। बाह्य में 'यह अच्छा और यह बुरा' ऐसा मानकर रुकता है, परन्तु आत्मा को नहीं जानता। अच्छा-बुरा कर-करके अज्ञानी तो संसार में परिभ्रमण करता है और ज्ञानी पर से भिन्न आत्मा को जानकर निर्मलपर्याय प्रगट करके सिद्ध होजाते हैं।

इस जगत में प्रत्येक वस्तु में अपना चतुष्टय होता है। भगवान ने इस जगत में छहद्रव्य देखे हैं, उन प्रत्येक के अपने-अपने चतुष्टय होते हैं। चतुष्टय अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव। लोटे में पानी भरो तो जैसा लोटे का आकार हो वैसा ही आकार पानी का होजाता है, परन्तु वहाँ लोटे का और पानी का आकार भिन्न है; लोटे का आकार लोटे में है और पानी का पानी में है। दोनों का द्रव्य भी पृथक् है और क्षेत्र भी पृथक् है। दोनों की वर्तमान दशा, वह उनका काल है और उनकी जाति को भाव कहा जाता है। ऐसे द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव प्रत्येक वस्तु में होते हैं।

इसे समझे बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता, सम्यग्ज्ञान के बिना आत्मा के साथ सम्बन्ध-सगाई नहीं होती; और सगाई हुए बिना आत्मा की लौ नहीं लगती; लौ लगे बिना मुक्ति नहीं होती।

जिसप्रकार यह अंगुलियाँ पृथक्-पृथक् हैं; एक अंगुली है वह दूसरी अंगुली नहीं है। उसीप्रकार समस्त वस्तुएँ पृथक्-पृथक् हैं। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से सत् और पर के स्वरूप से असत् है।

जैसे घड़ी का स्वभाव समय देने का है, परन्तु उसमें मिठास देने का स्वभाव नहीं है; उसीप्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान करने का है, पुण्य-पाप करने का उसका स्वभाव नहीं है। ज्ञान करने के लिये अन्तर में एकाग्र होना पड़ता है, परन्तु बाह्य क्षेत्र में बढ़कर एकाग्र नहीं होना पड़ता, क्योंकि आत्मा के ज्ञान का क्षेत्र अन्तर में है; अन्तरोन्मुख होकर आत्मा को पहिचाने तो सर्व परपदार्थों से ममत्व दूर होजाय, अपना सच्चा सुख प्राप्त करे और पर में जो सुख का आरोप किया वह दूर होजाये।

जैसे आम का एक झाड़ हो, उसपर तोता ऊपर से आकर

आम खाता है और चिवंटी तने को पकड़कर धीरे-धीरे ऊपर चढ़कर आम खाती है; परन्तु दोनों को स्वाद तो समान ही है। उसीप्रकार कोई ज्ञानी जल्दी पुरुषार्थ करके मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और किन्हीं को आत्मा की रुचि होती है तथा धीरे-धीरे समझते हैं; वे भी अन्त में मोक्ष प्राप्त करते हैं। दोनों के आत्मा का सुख समान है।

मरण समय कहते हैं कि अब 'भगवान का नाम लो, आत्मा का चिंतवन करो!' लेकिन भाई! एकबार जीवित ही आत्मा की ओर देख ले! व्यर्थ का जो अभिमान करता है उसे छोड़कर आत्मा में ज्ञाता-द्रष्टा रहे तो आकुलता मिट कर शान्ति हो।

आत्मा अपने स्वभाव से पूर्ण है, और पर से शून्य है, भगवान आत्मा ज्ञान से भरा हुआ है और राग-द्वेष से शून्य है; ऐसे आत्मा का भान करना वह सुई में डोरा पिरोने जैसा है। जिसप्रकार डोरा पिरोयी हुई सुई यदि एकबार कूड़े में भी चली जाये तो भी वह खोती नहीं है, उसीप्रकार जिसने अपने आत्मा में सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा पिरोया है, उसके कदाचित् एकाध भव हो तथापि उसका आत्मभान दूर नहीं होता और दीर्घ संसार में परिभ्रमण नहीं करता। इसलिये जिसे भवभ्रमण का भय हो उसे इस मनुष्यभव में सत्समागम करके आत्मा में सच्चीसमझरूपी डोरा पिरो लेना चाहिए। ❀

सत्य-स्वरूप

अपना शुद्धात्मा किसप्रकार ज्ञात होता है? बाह्य क्रिया के शुभराग से आत्मा समझ में नहीं आता, परन्तु अन्तर में ज्ञान की क्रिया से समझ में आता है। सच्चे ज्ञान के द्वारा आत्मा पहिचाना जाता है; इसके अतिरिक्त दूसरे किसी उपाय से वह नहीं जाना जाता। जैसा सत्यस्वरूप है वैसा ही अपने ज्ञान में स्वीकार करने से सत् प्रगट होता है परन्तु स्वरूप को अन्य प्रकार से माने तो सत् प्रगट नहीं होता। अज्ञानी जीव असत्य को सत्य मानकर उसका सेवन करे तो उससे कहीं उन्हें सत्यधर्म प्रगट नहीं होता और जो सत्यस्वरूप है वह विपरीत नहीं होजाता। (नियमसार-प्रवचन)

आत्मा को समझ लेने की महिमा

[श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

यह सद्‌बोधचन्द्रोदय अधिकार है। यह आत्मा अनादि का है, परन्तु वह किस स्वभाव से है यह बात आत्मा ने एक क्षणमात्र भी नहीं जानी। सद्‌बोध-चन्द्रोदय अर्थात् सच्चे ज्ञानरूपी चन्द्र का उदय। आत्मा के स्वरूप को पहिचाने तो सच्चा ज्ञान प्रगट हो; वह सत्समागम के बिना कभी ज्ञात नहीं होसकता। यह शरीर तो आत्मा का नहीं है, परन्तु अन्तरंग में जो राग-द्वेष, पुण्य-पाप, क्रोध-भक्ति इत्यादि भाव होते हैं वह भी विकार है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; आत्मा का स्वरूप तो उसे कहा जाता है जो नित्यस्थायी रहे। आत्मा जिस स्वरूप से है उस स्वरूप से एक सेकंड मात्र यदि जीव समझे तो उसे जन्म-मरण न रहे। जिन्होंने राग-द्वेष दूर करके पूर्ण परमात्मदशा प्रगट की है—ऐसे भगवान अरिहन्त सर्वज्ञदेव के श्री मुख से दिव्यध्वनि छूटती है, उसमें आत्मस्वभाव की बात आती है, उसे समझकर जो आत्मा का अनुभव करता है उसके जन्म-मरण का नाश होता है।

यहाँ उस आत्मस्वरूप की बात चलती है। वह आत्मस्वरूप ऐसा है कि बृहस्पति भी उसका वर्णन वाणी से नहीं कर सकते। जिसप्रकार घी का स्वाद जाना जाता है परन्तु वाणी द्वारा कहा नहीं जासकता। उसीप्रकार आत्मस्वभाव की महिमा अनुभव में आती है परन्तु वाणी द्वारा उसका वर्णन नहीं होसकता। जिस स्वरूप से आत्मा है उसी स्वरूप उसे ज्ञान से जानना-मानना और अनुभवन करना ही धर्म है; इसके अतिरिक्त बाह्य में कहीं धर्म नहीं है। अरे भाई! धर्म तो अन्तर की वस्तु है, कहीं बाहर की वस्तु नहीं है। पुण्य करे तो उससे बाह्य राजपद या देवपद मिलते हैं परन्तु जिससे जन्म-मरण का अन्त हो ऐसा धर्म उससे भिन्न है। धर्म तो ऐसा है कि यदि जीव एक सेकंड भी उसका सेवन करे तो मुक्ति होजाये।

जिसप्रकार दियासलाई के सिरे में अग्नि भरी हुई है, उसमें से वह प्रगट होती है, उसीप्रकार आत्मा की शक्ति में केवलज्ञानज्योति

होने की शक्ति है, उस शक्ति को पहिचानकर उसमें एकाग्रता करने से केवलज्ञान प्रगट होकर आत्मा स्वयं परमात्मा होजाता है। क्षणिक पुण्य-पाप के विश्वास से आत्मा का कल्याण नहीं होता; और यह शरीर जड़ है, उसके विश्वास से भी आत्मा का हित नहीं होता; परन्तु अपने में परमात्मा होने की शक्ति है, उसे पहिचानकर उसके विश्वास से अन्तर की शक्ति प्रगट होकर स्वयं परमात्मा होता है। इसलिये हे जीव! अन्तर में परमात्मस्वभाव है उसका विश्वास कर! शरीर, पैसा या पुण्य-पाप क्षणिक हैं, उनके विश्वास से तेरा कल्याण नहीं होगा, इसलिए अपना स्वरूप क्या है उसकी पहिचान तो कर!

लैंडीपीपल में से चरपराहट प्रगट होती है, क्योंकि उसमें भरी है, परन्तु चूहे की लैंडी में से चरपराहट प्रगट नहीं होती; उसीप्रकार आत्मा में ज्ञानशक्ति भरी हुई है उसमें से ज्ञान प्रगट होता है। ज्ञानी का उपदेश आत्मा की पहिचान करने का है; सत्समागम से उसकी पहिचान करना चाहिये। अनन्तानन्तकाल से यह आत्मा है, तो वह कैसा है? उसे जानने की दरकार रखना चाहिये। मनुष्य देह अनन्तकाल में मिलती है, उसमें आत्मा को समझने की दरकार रखनी चाहिये। सत्समागम से बारम्बार उसका परिचय करके समझना चाहिये। उसकी पहिचान करना ही मनुष्यभव धारण करने का यथार्थ फल है। पुण्य करके स्वर्ग में जाये या पाप करके नरक में जाये-वह कोई नवीन नहीं है।

अहो, ऐसी मनुष्य देह मिली है, और यदि आत्मा को न जाने तो अवतार व्यर्थ है। जिसप्रकार सर्वव्यापी आकाश को हृदय में समा देना कठिन है, वैसे ही आत्मस्वभाव का वर्णन वाणी द्वारा करना कठिन है। तथापि जो जीव दरकार रखकर उसे समझना चाहे उस जीव को सत्समागम से समझ में आता है। अनन्त जीव उसे समझकर मुक्त हुए हैं, इससमय भी आत्मा को समझने वाले हैं और भविष्य में अनन्त होंगे। पुण्य और पाप तो सारी दुनिया करती है, परन्तु आत्मा को समझने वाले जीव विरले ही होते हैं। पर में सुख माने और सुख के लिये पराश्रय माने, वह तो भिखारी

है; कोई लाख रुपये मांगता है, कोई हजार चाहता है और कोई सौ मांगता है; अधिक मांगे वह बड़ा भिखारी और कम मांगे वह छोटा भिखारी। और ऐसा समझे कि अहो! मैं आत्मा हूँ, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मेरा सुख मुझमें है, मुझे तो अब आत्मा समझना है–ऐसी जो भावना करता है वह महान सम्राट है। भले ही गृहस्थदशा में हो, तथापि अन्तर में आत्मा का भान करे वह धर्मात्मा है, और उसके जन्म–मरण का अन्त होजायेगा। जिसप्रकार पर्वत पर बिजली गिरे और उसके दो टुकड़े होजायें तो वह फिर से नहीं जुड सकता, उसीप्रकार जो जीव एक सेकंड भी आत्मा को समझता है उसका संसार टूट जाता है। जिसप्रकार किसी के घर लक्ष्मी का ढेर देखकर लोग ऐसा नहीं मानते कि 'यह लक्ष्मी हमारी है' उसीप्रकार धर्मी जीव इन शरीर को या पुण्य-पाप के भावों को अपना स्वरूप नहीं मानते। वे धर्मी जीव आत्म-स्वभाव को जानते हैं, परन्तु उसे वाणी द्वारा कहना कठिन है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

'जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहि पण ते श्रीभगवान जो।
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे?
अनुभवगोचर मात्र रह्य ते ज्ञान जो।'

ऐसे आत्मा को जाने बिना किसीप्रकार कल्याण नहीं है। जिसने आत्मा को नहीं जाना है और पैसे के आश्रित होरहा है वह बड़ा भिखारी है।

जैनदर्शन में सात तत्त्व हैं–जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

जो जानता है वह जीव है।

शरीरादि अजीव हैं, उनमें ज्ञान नहीं है।

पुण्य–पाप आस्रव हैं।

उन पुण्य–पाप में रुकना सो बंध है।

उन पुण्य–पाप से रहित चैतन्य-मूर्ति आत्मा प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप है, उसकी पहिचान करके स्थिर होना वह संवर–निर्जरारूप धर्म है। और पूर्ण शुद्धदशा प्रगट होजाये वह मोक्ष है। पहले तो परिपूर्ण आत्मा का विश्वास आना चाहिये।

अत्यन्त विवेक से, अत्यन्त सत्समागम से, अत्यन्त रुचि और पात्रता से आत्मा समझ में आता

है; आत्मा ऐसा नहीं है कि समझ में न आये। यदि आत्मा न समझा जासके, तो धर्म ही कहाँ से हो? इस जगत में लाखों रुपया मिलें या स्वर्ग मिले-वह दुर्लभ नहीं है, किन्तु आत्मा को समझना ही दुर्लभ है। इस मानव जीवन में ऐसे आत्मा को समझ लेना योग्य है।

आत्मा के अन्तरआनन्द में झूलते-झूलते, वन में श्री पद्मनन्दि मुनिवर ने इस शास्त्र की रचना की है; वे जैसा माता ने जन्म दिया वैसे ही नग्नदिगम्बर संत थे; उन्होंने वन में यह बात लिखी है। वे कहते हैं कि इस आत्मस्वभाव की महिमा जगत में जयवंत प्रवर्तमान है।

अहो! अज्ञानी एक बीड़ी पीने में सुख मानते हैं, मकान में सुख मानते हैं, शरीर-पैसे में सुख मानते हैं, स्त्री में सुख मानते हैं, परन्तु आत्मा में सुख है उसे नहीं जानते। आत्मतत्व ही मोक्षसुख को देनेवाला है। आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! ऐसे हमारे आत्मतत्व की जय हो, और विकार की पराजय हो। जगत के जीव अपनी चैतन्यजाति की महिमा भूलकर पर में सुख के लिये उछल-कूद कर रहे हैं, परन्तु पर में कहीं भी सुख नहीं है, परपदार्थ के ओर की इच्छा दुःख है; सुख तो आत्मा में है, उसे जाने तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का सुख प्रगट होता है। सुख का देनेवाला आत्मा है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करना वह धर्म है। लोग क्रिया-क्रिया करते हैं, किन्तु आत्मा को यथार्थ पहिचान और बहुमान ही निर्विकारी क्रिया है। शरीर की क्रिया में कहीं भी धर्म नहीं है।

जिसप्रकार दोज का चन्द्र उगने के पश्चात् वह क्रमशः पूर्ण होता है; उसीप्रकार आत्मा का यथार्थ समझ एक सेकंड भी प्रगट करे उसे केवलज्ञान प्रगट हुए बिना नहीं रहता। जीवन में आत्मा को समझने के लिये थोड़ी-थोड़ी निवृत्ति लेकर राग को कम करना चाहिए।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो, आत्मतत्व की महिमा जयवन्त हो! अर्थात् आत्मस्वभाव के आश्रय से हमें जो साधकदशा प्रगट हुई है वह जयवन्त रहे! वह दशा क्रमशः आगे बढ़कर पूर्ण सिद्ध दशा होगी और विकार दूर होजायेगा।

'णमो अरिहंताणं' और 'णमो

सिद्धाणं'–इसमें अरिहंत और सिद्ध को नमस्कार करते हैं; वे अरिहंत और सिद्ध-दोनों आत्मा की ही पवित्र दशाएँ हैं, उस नाम का कोई पुरुष नहीं है। अरिहंत और सिद्ध तो पुण्य–पाप को दूर करके वीतराग होगये हैं। जो पुण्यरहित है उसे नमस्कार करे और फिर स्वयं पुण्य की भावना करे, उसने वास्तव में अरिहंत या सिद्ध को नमस्कार नहीं किया है। पुण्यरहित वीतराग पुरुष को नमस्कार करने वाला पुण्य नहीं माँगता। धर्मी के पुण्य–पापभाव होते हैं, परन्तु दृष्टि में ऐसा है कि मुझे यह पुण्य नहीं चाहिये, मेरा स्वरूप पुण्यरहित है वह मुझे चाहिए है। अहो! मैं अनादि-अनन्त हूँ, मेरा कभी नाश नहीं होता और यह पुण्य-पाप तो नाशवान हैं, यह मेरी वस्तु नहीं है–ऐसा धर्मी जानता है।

अरिहंतों के पुण्य की बलिहारी है! इन्द्र उनके चरणकमल की पूजा करते हैं तथापि धर्मी-भक्त कहते हैं कि हे नाथ! आप पुण्य-पापरहित वीतराग हुए हो, यह बाह्य सामग्री मुझे नहीं चाहिये परन्तु अन्तर में जो वीतरागदशा प्रगट हुई है वह चाहिए है। इस-प्रकार अरिहंत को नमस्कार करने वाले जीव को पुण्य की भावना नहीं होती। और मुनि को तो बाह्य में गहने, कपड़े घरबार आदि कुछ नहीं हैं, तथापि उनको नमस्कार करते हैं; वास्तव में वहाँ नमस्कार करने वाले की ऐसी भावना है कि हे प्रभो! आप के पास घरबार, वस्त्र, गहने आदि कुछ न होने पर भी अन्तर में कोई अपूर्व वस्तु है वह मुझे चाहिये है। मेरे पास पैसा, घरबार आदि सब है, किन्तु उनमें सुख नहीं है, यह सब तो पुण्य के फल हैं। आप के आत्मा में राग-द्वेष दूर होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए हैं उनमें वास्तविक सुख है–ऐसा समझने वाला ही वास्तव में धर्मात्मा को नमस्कार कर सकता है। इसलिये आत्मा का स्वरूप पुण्य–पापरहित है, उसको सर्वप्रथम समझना चाहिये।

मान-अपमान

शुद्ध जीव में मान-अपमान के भावों के स्थान नहीं हैं। यहाँ त्रिकाली-स्वभाव की बात है। अहो! जो मान-अपमान के भावों से रहित अपने आत्मस्वरूप को उपादेय समझे उस जीव के पर्याय में भी मान-अपमान भावों के प्रति कितनी उदासीनता प्रवर्तमान रहती है! जिसे अपने आत्महित की आकांक्षा हो वह जीव जगत के लोगों से होने वाले अपने मान-अपमान को नहीं देखता; जगत के लोग मुझसे क्या कहेंगे, इस बात की चिन्ता उसे नहीं होती। अहो! किसका मान और किसका अपमान? अपने त्रिकाल-स्वभाव का ही बहुमान करके केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रगट हो—इससे बढ़कर मान कौन सा होगा? और स्वभाव का विरोध करके नीच गति में जाये इससे बढ़कर अपमान और क्या होगा? जिस जीव के संबंध में श्री तीर्थंकर देव के मुख से या संतों के मुख से ऐसा निकला कि—'यह जीव भव्य है, यह जीव पात्र है, यह जीव मोक्षगामी है'—तो इससे बढ़कर मान जगत में और कोई नहीं है। और जिस जीव के सम्बन्ध में ऐसा आया कि 'यह जीव अपात्र है, यह जीव अभव्य है, तो इसके जैसा अपमान तीनलोक में कोई नहीं है। भगवान की दिव्यवाणी में जिस जीव का स्वीकार हुआ उसे जगत के लोगों के मान की आवश्यकता नहीं है, और भगवान की वाणी में जिसकी अस्वीकृति हुई उस जीव को जगत के अपमान की क्या आवश्यक्ता है? अर्थात् जगत के लोग भले ही उसे मान देते हों परन्तु परमार्थ में तो वह अपमानित ही है। वास्तव में कोई दूसरा अपना मान-अपमान नहीं कर सकता। जिस जीव ने अपने पवित्र स्वभाव का आदर करके सम्यग्दर्शनादि पवित्र गुण प्रगट किये हैं उस जीव ने अपना सच्चा बहुमान किया है, और भगवान की वाणी में भी उसका स्वीकार है। और जिस जीव ने अपने पवित्रस्वभाव का अनादर करके, क्षणिक मान-अपमान के विकारी भावों को अपना स्वरूप माना है उस जीव ने स्वयं ही अपना अपमान किया है; मिथ्यात्व के कारण वह जीव अनन्त-संसार में भटकता है।

(नियमसार-प्रवचन, गाथा-३९)

आत्मधर्म

२४७६ फाल्गुन

वर्ष पाँचवाँ, अङ्क ग्यारहवाँ

मोक्ष का उपाय

[मोक्ष अधिकार गा० २९८–२९९ पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

यह मोक्ष अधिकार है; मोक्ष अर्थात् आत्मा की परमपवित्र दशा। यहाँ आचार्यदेव आत्मा की परम शुद्ध मोक्षदशा के उपाय का अत्यन्त निकटता से वर्णन करते हैं। शरीर–मन–वाणी–धन या देव–गुरु–शास्त्र से आत्मा का हित होता है–यह मान्यता तो दूर कर दी है, अन्तर में दया–भक्ति इत्यादि पुण्य-भावों से मुक्ति होती है-ऐसी मान्यता को भी मोक्षमार्ग में से दूर ही कर दिया है। और अब तो, 'मैं चेतना द्वारा आत्मा को चेतता हूँ'-ऐसे भेद के विकल्प को भी दूर करके चेतना के अभेद अनुभव की बात आई है;–यही मोक्ष का उपाय है। पहले अज्ञानदशा में परलक्ष करके विकार का ही अनुभवन करता था; अब चेतना लक्षण द्वारा आत्मा को जानकर शुद्ध चेतना की ओर उन्मुख होता है, भेद के विकल्प को तोड़कर चेतना अभेद स्वभाव में ढलती है अर्थात् स्वभाव में अभेद होने से भेद का विकल्प टूट जाता है।

(२) चेतना ही आत्मा का लक्षण है। चेतना दर्शन ज्ञानमय है, पुण्य-पाप आत्मा के चेतन स्वभाव से भिन्न हैं। आत्मा ज्ञाता–द्रष्टा है। पर की ओर देखते रहने का नाम ज्ञाता–द्रष्टापना नहीं है, परन्तु अपने ज्ञायक–दर्शक स्वभाव को पहिचान कर उसमें स्थिर रहना ही ज्ञाता–द्रष्टापना है। हमें ज्ञाता–द्रष्टा रहकर पर के कार्य करना चाहिये—ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की है; क्योंकि आत्मा पर का कर ही नहीं सकता। ज्ञान–दर्शन लक्षण द्वारा अपने स्वभाव को जानकर उसमें स्थिर होना वह मोक्ष का निकट उपाय है। निकट उपाय क्यों कहा? क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान भी मोक्ष का उपाय है; परन्तु सम्यग्दर्शन–ज्ञानपूर्वक स्थिरता वह मोक्ष का साक्षात् उपाय है; इससे उसे निकट उपाय कहा है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान के पश्चात् भी स्वरूपस्थिरता के बिना मोक्ष नहीं होता।

(३) भगवान शुद्ध आत्मा को

किसप्रकार ग्रहण करना? अर्थात् आत्मस्वभावोन्मुख होकर उसका अनुभव किसप्रकार करना? उसकी रीति आचार्यदेव बतलाते हैं। ज्ञान-दर्शनरूप चेतना ही मैं हूँ—इसप्रकार आत्मा का अनुभवन करना चाहिये। यद्यपि 'मैं ऐसा हूँ'—ऐसे भेद के विकल्प द्वारा आत्मा का अनुभव नहीं होता परन्तु कथन में भेद आये बिना नहीं रहता।

(४) चेतना किसे कहना? भगवान की भक्ति में जो मधुर झनकार उठे उसमें चेतना नहीं है और जो भक्ति का शुभविकल्प उठा वह भी चेतना का स्वरूप नहीं है। स्वरूप तो जानने—देखनेरूप ही है। देखने में सामान्य 'है' इतना ही आता है, किन्तु उसमें भेद नहीं पड़ता, ज्ञान में सबकुछ भेदकर ज्ञात होता है, ऐसे ज्ञान-दर्शनमय चेतना ही आत्मा है-ऐसा जानकर आत्मा में अभेद होना वह मोक्ष का उपाय है। भाई! तू चेतक है, जानना-देखना ही तेरा स्वरूप है, और यही स्वरूप चारित्ररूप परमानन्द मुक्तदशा का उपाय है।

(५) सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि मैं द्रष्टा आत्मा में लीन होता हूँ; बाह्योन्मुख होनेवाले पुण्य-पाप के बंध भावों से भिन्न अपने स्वरूप को जानकर अबंध भावों को छेदकर अपने द्रष्टा स्वरूप में मैं अभेद होता हूँ। बंध भावों को छेदना और स्वरूपोन्मुख होना-यह दोनों कहीं पृथक्-पृथक् नहीं हैं; स्वरूपोन्मुख हुआ अर्थात् बंधभाव नष्ट होगया। यहाँ आचार्यभगवान कहते हैं कि भेद के विकल्प को तोड़कर अभेद अनुभव द्वारा ही आत्मा का ग्रहण होता है। 'मैं द्रष्टा हूं, ज्ञाता हूँ' ऐसे अन्तरंग भेद के विकल्प द्वारा भी आत्मा का ग्रहण नहीं होता; तब फिर पुण्य-पाप की वृत्ति से या बाह्य क्रिया से आत्मा का ग्रहण (आत्मा का अनुभव) कैसे हो? और धर्मी जीव उसका कर्तृत्व कैसे माने? नहीं ही मानता। पहले ऐसा भान करना चाहिए। ऐसे भान के बिना सच्चा चारित्र नहीं होता और सच्चे चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता। आत्मा को पहिचानकर उसका ग्रहण करना ही मोक्ष का उपाय है।

बाह्य क्रिया से या पुण्यभाव की प्रवृत्ति करते रहने से आत्मा की बंधभाव से निवृत्ति नहीं होती, परन्तु अपने द्रष्टास्वभाव में मैं अपनी प्रवृत्ति करके, उसमें लीन

होकर, बंधभाव से निवृत्ति करता हूँ। इसप्रकार दृष्टा आत्मा में लीन होना ही ज्ञान का चारित्र है और वही धर्म है।

(६) प्रश्नः—इसमें धर्म किसप्रकार आया? इसमें कहीं पर की सेवा अथवा पर को सुखी करना तो नहीं आया; तब फिर धर्म किसप्रकार हुआ?

उत्तरः—भाई! कोई भी जीव पर की सेवा या पर को सुखी-दुःखी कर ही नहीं सकता। प्रत्येक जीव अपने भावों के अतिरिक्त बाह्य में कुछ भी नहीं कर सकता। पहले अज्ञानभाव से पर का और विकार का अभिमान करके आत्मा के स्वभाव का असेवन करता था और अज्ञानभाव से स्वयं दुःखी होता था—वह अधर्म था। अब चैतन्य लक्षण के द्वारा अपने आत्मा को पर से और पुण्य-पाप से पृथक् जानकर अपने स्वभाव का सेवन करता है और अज्ञानभाव का अनन्त दुःख टालकर स्वतः अपने आत्मा को सुखी करता है वही धर्म है।

(७) प्रश्नः—लाठी मारकर तो दूसरे को दुःखी किया जासकता है न?

उत्तरः—नहीं; प्रतिकूल संयोग कहीं दुःख का स्वरूप नहीं है। और लकड़ी मारने या न मारने की क्रिया भी सामनेवाला जीव नहीं कर सकता, वह जीव मात्र दुःख देने के पापभाव करता है; परन्तु उसके पापभावों का फल उसके पास रहता है, उसके भावों के कारण इस जीव को दुःख नहीं होता; और शरीर पर लाठी पड़ने के कारण भी इसे दुःख नहीं हुआ है। उसे दुःख हो तो उसकी अपनी शरीर की ममता के कारण ही होता है। इसलिए कोई किसीको सुखी या दुःखी नहीं कर सकता।

(८) प्रश्नः—एक जीव दूसरे को दुःखी न कर सके; परन्तु असाताकर्म का उदय तो दुःख का कारण है न?

उत्तरः—ऐसा भी नहीं है; क्योंकि असाताकर्म का उदय तो बाह्य संयोग मिलाता है, परन्तु उस संयोग के समय दुःख की कल्पना तो जीव स्वतः मोहभाव से करे तभी उसे दुःख होता है; इसलिए असाताकर्म के उदय से दुःख नहीं होता परन्तु मोहभाव से ही दुःख होता है। असाता के संयोग के समय भी यदि स्वतः मोहद्वारा दुःख की कल्पना न करे और आत्मा को

पहिचान कर उसके अनुभव में रहे तो दुःख नहीं होता । बाह्य संयोग को नहीं बदला जासकता; किन्तु संयोग की ओर के वेदन को बदला जासकता है ।

(९) अज्ञानी सुख–दुःख के तथा बंध–मोक्ष के मूल कारण को नहीं समझते और परजीवों का या कर्म आदि का दोष बताते हैं । जिस-प्रकार कुत्ते को कोई लकड़ी मारे तो कुत्ता उस लकड़ी से ही चिपटता है और उसे मुँह में भर लेता है; लेकिन यदि सिंह को गोली लगे तो वह गोली की ओर नहीं देखता, परन्तु गोली मारने वाले पर ही हमला करता है । उसीप्रकार शरीर में क्षुधा–रोग इत्यादि तो संयोग हैं, बाह्य निमित्त हैं । अज्ञानी उन संयोगो को ही दुःख का कारण मानकर उनका दोष निकालता है; किन्तु अंतरंगममत्व ही दुःख का कारण है, उस ममत्व को नहीं जानता, उसे दूर नहीं करता और कुत्ते के दृष्टान्त की भाँति शरीर के संयोग को ही दुःख का कारण मानकर उसे बदलना चाहता है । और जो ज्ञानी हैं वे तो पुरुषार्थ में सिंह-वृत्ति रखते हैं; वे किसी भी संयोग को दुःख का कारण नहीं मानते इससे उन्हें संयोग बदलने की बुद्धि नहीं होती । अपने दोष से जो रागादि भावबंध है वही दुःख का कारण है–ऐसा जानकर, और उन रागादि से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव को पहिचानकर स्वभाव के पुरुषार्थ की उग्रता के बल से उन रागादि को नष्ट कर देना चाहते हैं । कोई परवस्तु आत्मा को दुःख का कारण है ही नहीं । और इसी-प्रकार देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि कोई भी परवस्तु आत्मा को सुख का या धर्म का कारण भी नहीं है । अपने चैतन्यस्वभाव को जानकर उसका ग्रहण करना, उसमें लीन होना ही एकमात्र मोक्ष का सुख का या धर्म का उपाय है ।

(१०) अहो ! सत्य तो ऐसा ही है; वस्तु का अपना स्वरूप तो ऐसा ही है; तथापि कोई विपरीत माने तो वह उसके घर का है; जैसा वह मानता है वैसा तो वस्तु-स्वरूप नहीं है, इससे उसे कभी धर्म नहीं होता और अनन्त दुःख नहीं मिटता ।

कोई किसीको सुख या दुःख नहीं देसकता, तथापि मैंने पर का किया और पर मेरा करता है–ऐसा जिसने माना है वह जीव मिथ्यात्व

के पाप का सेवन करके अनंत-संसार में भटकता है। ज्ञानी तो ऐसा जानता है कि मैं द्रष्टा हूँ, मैं अपने स्वभाव को ही देखता हूँ। किसी पर का कर्ता नहीं हूँ, पुण्य का कर्ता नहीं हूँ, मैं तो द्रष्टा-स्वरूप अपने आत्मा को देखता ही हूँ। यहाँ साधक जीव को स्वभावोन्मुख होना है इससे पर का द्रष्टा हूँ–यह बात नहीं ली है, परन्तु मैं द्रष्टा आत्मा को ही देखता हूं–ऐसा कहा है। इस देखने में ही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप मोक्षमार्ग का समावेश होजाता है। वही आत्मधर्म के प्रारम्भ का उपाय है।

(११) धर्मी जीव कहता है कि मैं देखता ही हूँ, अर्थात् मैं द्रष्टारूप ही होता हूँ, रागादि विकाररूप नहीं होता। और मुझे देखने में किसी पुण्य का साधन नहीं है, किसी राग के साधन द्वारा मैं देखता नहीं हूँ, परन्तु द्रष्टा द्वारा ही देखता हूँ। पुण्य परिणामों को धर्म का साधन न मानकर द्रष्टास्वभाव द्वारा ही द्रष्टाशक्ति प्रगट होती है–ऐसा मानना ही धर्म है। बाह्य में किसी भी परवस्तु को लेने-देने की क्रिया आत्मा कर ही नहीं सकता। अज्ञानी लोग इस बात के कान में पड़ते ही भड़क उठते हैं और कहते हैं कि: 'ऐसा कहने वाले पागलों के अस्पताल में भेजे जाने योग्य हैं।' क्या किया जाये? यह तो वे अपने भावों की घोषणा कर रहे हैं–इनके मिथ्यात्व का बल ही ऐसा पुकार रहा है। अरे भाई! इस बात के समझने वालों को तेरे माने हुए अस्पताल में नहीं जाना है, उन्हें तो सिद्ध के अस्पताल में जाना है। और जो सत्य को न समझकर उसका विरोध करेंगे, वे अपनी ज्ञान-शक्ति को हारकर पागल होकर निगोद में जायेंगे।

(१२) प्रश्नः–यदि कुछ दूसरों की सेवा आदि परमार्थ के कार्य करें तो कुछ किया हुआ कहलाता है। अकेला अपना करे और दूसरों का कुछ न करे-इसमें क्या है? अपना पेट तो कुत्ते भी भरते ही हैं?

उत्तरः–पर का कुछ करना परमार्थ है–वह बात ही बिलकुल मिथ्या है। लोगों को महान भ्रम हो गया है कि पर के कार्य करना वह परमार्थ है; परन्तु परमार्थ की ऐसी व्याख्या नहीं है। परमार्थ–परमपदार्थ अर्थात् (परम+अर्थ)

परमपदार्थ–उत्कृष्ट पदार्थ जो आत्मा है उसे पहिचानना ही सच्चा परमार्थ है। अथवा परमपदार्थ अर्थात् मोक्ष; उसका उपाय करना अर्थात् आत्मप्रतीति करना ही परमार्थ है। परन्तु मैं पर को सेवादि कार्य कर सकता हूँ-ऐसा मानना वह परमार्थ नहीं है; उलटी इस मान्यता में तो आत्मा के परमार्थ की हत्या होती है! कोई आत्मा पर के कार्य कर ही नहीं सकता। धर्मसभा में जैन-परमात्मा सर्वज्ञदेव ने जो कहा है वही यह धर्म है! जैसा वस्तुस्वरूप है वैसा ही जैन तीर्थंकरों ने जानकर घोषित किया है वह यही है। ऐसा वस्तुस्वरूप समझना धर्म है।

(१३) प्रश्नः–इस धर्म से समाज को तो कुछ लाभ नहीं हुआ?

उत्तरः–वस्तु का सत्य स्वरूप तो इसीप्रकार है। समाज के जीवों को सत्य से लाभ होता है या असत्य से? सबको सत्य से ही लाभ होता है। जिस सत्य से एक को लाभ हो उसी से अनन्त को लाभ होता है। संसार के जीव सत्य वस्तुस्वरूप को नहीं समझे हैं इसीसे वे दुःखी हैं, यदि सत्य वस्तुस्वरूप को समझे तो दुःख दूर हो और सुख का लाभ हो। सत्य समझे बिना किसी को लाभ नहीं होता और सत्य से कभी किसी को हानि नहीं होती। जीवों को जो हानि होती है वह उनको अपने असत्य भावों की (मिथ्या प्रतीति से) ही होती है। इस सत्य में तो लाभ का ही धंधा है उसमें किसी को हानि है ही नहीं।

(१४) वास्तव में आत्मा के शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा से राग भी असत् है, उस राग से स्व को या पर को लाभ नहीं होता। देखो, जिस राग के निमित्त से तीर्थंकर नामकर्म बंधता है उस राग में भी वास्तव में किसी को लाभ नहीं होता क्योंकि वर्तमान में उस जीव के उस राग के कारण अपनी वीतराग दशा रुकी हुई है; जब स्वभाव के बल से उस राग को दूर करेगा तब वीतरागता और मुक्ति होगी। इसलिये उस राग से अपने को लाभ नहीं है। अब, यह बात समझाई जाती है कि उस राग से पर को भी लाभ नहीं है। प्रथम तो उस राग के निमित्त से जो तीर्थंकर नामकर्म का बंध हुआ उसका फल तो उस राग का अभाव होने के पश्चात् ही आता है, अर्थात् जब उस राग को छेद-

कर केवलज्ञान प्रगट करता है तभी तीर्थंकर नामकर्म उदय में आता है और दिव्यध्वनि खिरती है। जबतक दिव्यध्वनि सुननेवाले का लक्ष्य वाणी पर है तबतक उस जीव को विकल्प और राग की उत्पत्ति होती है; जब वाणी का लक्ष छोड़कर स्वयं अपने स्वलक्ष से स्थिर हो तभी सम्यग्दर्शनादि का लाभ होता है। इसलिए निश्चित हुआ कि राग से पर को भी लाभ नहीं होता। अपने को स्वलक्ष से लाभ हुआ वहाँ उपचार से ऐसा कहा जाता है कि भगवान की वाणी से अपूर्व लाभ हुआ। अथवा तो 'उदय श्री जिनराजनो, भविजीवने हितकार।' परन्तु यह मात्र उपचार का कथन है; वास्तव में पर से लाभ नहीं हुआ है, अपने राग से भी लाभ नहीं हुआ, परन्तु स्वभाव के आश्रय से ही लाभ हुआ है।

(१५) यह तो अपने आत्मा की बात है, सत्य का स्वरूप है। बुद्धिमान जिज्ञासु कुम्हार भी स्वीकार करे ऐसी है; तब फिर जैन कुल में आकर 'मेरी समझ में नहीं आता'—ऐसा कैसे कहा जासकता है? रुचिपूर्वक ध्यान रखे तो आत्मा की समझ में न आये—ऐसा कुछ है ही नहीं। इस समय तो सत्य की प्रतीति करके हां कहने वाले बढ़ते जा रहे हैं—इस अपेक्षा से काल अच्छा है। सत्य का स्वीकार करने वाले विनय से निमित्त का बहुमान करते हैं, परन्तु परमार्थ से तो अपने को जो स्वभाव समझ में आया उसीका बहुमान करते हैं, वास्तव में कोई जीव पर का बहुमान करते ही नहीं।

(१६) प्रश्नः—कोई किसीका बहुमान नहीं कर सकता-ऐसा यदि मानें तो तीर्थंकरों की अविनय नहीं होजायेगी?

उत्तरः—तीर्थंकरों की विनय किसे कहा जाये? तीर्थंकर भगवान वीतराग हैं, वास्तव में राग द्वारा उनकी विनय नहीं होती। जिसप्रकार तीर्थंकर भगवान ने स्वयं किया और कहा उसीप्रकार समझना और भगवान चैतन्यज्योति का बहुमान करके उसमें स्थिर होना ही तीर्थंकरों की सच्ची विनय है। सत् समझने से विनय जाती नहीं है, परन्तु सत् को समझने से ही सत् की यथार्थ भक्ति और विनय होती है। पहले अज्ञानता के कारण कुदेवादि के सामने मस्तक झुकाता था; अब सच्चा समझने से जबतक

वह वीतराग नहीं होगा तबतक बीच में सत् निमित्त की विनय, भक्ति और बहुमान आये बिना नहीं रहेंगे; किन्तु परमार्थ से वहाँ पर का बहुमान नहीं है, परन्तु अपने भावों का ही बहुमान है। ज्ञानी अपने स्वभाव को ही सर्वोत्कृष्ट जानकर उसका आदर करते हैं। स्वभाव के आदर में तीर्थंकरों की विनय का समावेश हो जाता है।

श्री आनन्दघनजी कहते हैं:—

अहो अहो मुजने कहुं,
नमो मुज नमो मुज रे...
अमित फल दान दातारनी,
जेथी भेट थई तुज रे...

जहाँ अपने परिपूर्ण स्वभाव का भान हुआ वहाँ बाह्य में किसकी महिमा करेगा? इससे स्वयं अपने को ही नमस्कार करता है। वास्तव में जब स्वयं अपना स्वरूप समझकर बहुमान करता है तब शुभराग के कारण 'तीर्थंकरादि का बहुमान किया'—ऐसा उपचार से कहा जाता है। परन्तु जो विकार को ही अपना स्वरूप मानता है वह अपने पवित्र निर्विकार स्वरूप का अनादर करता है, वह अनन्त तीर्थंकरों का अनादर करता है; क्योंकि भगवान ने जो कहा और जो किया उससे वह विरुद्ध करता है।

(१७) कोई भी संयोगी वस्तु रागद्वेष का कारण नहीं है; क्योंकि यदि मैं स्वयं पुरुषार्थ की निर्बलता से परलक्ष न करूँ और स्वभाव में स्थिर होऊँ तो राग-द्वेष नहीं होते। ऐसा जाना वहाँ अनन्त निमित्तों का पक्ष श्रद्धा में से दूर होगया, अर्थात् निमित्त के ऊपर की दृष्टि टल गई और स्वभावोन्मुख हुआ। अब ज्यों-ज्यों ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव में एकाग्र होने लगा त्यों-त्यों रागद्वेष कम होने लगे। स्वभाव में आने से राग टूटने लगा और पर्याय की निर्मलता बढ़ने लगी; उसका कारण कोई राग या पर का अवलम्बन नहीं है, परन्तु अन्तर की त्रिकाल चैतन्यशक्ति ही है। बस, जितना द्रष्टास्वभाव में एकाग्र हुआ उतना तो राग दूर हुआ और निर्बलता से जो अल्प राग रहा उसका ज्ञाता रह गया। इसमें निमित्त, पुरुषार्थ की अशक्ति, पर्याय और त्रिकाली स्वभाव—यह चारों सिद्ध होजाते हैं, परन्तु उनमें आश्रय तो एक त्रिकाली स्वभाव का ही करना आता है।

(१८) निमित्तों को देखने से

राग-द्वेष नहीं होता; क्योंकि केवली-भगवान भी निमित्तों को देखते हैं, तथापि उन्हें राग-द्वेष नहीं होता। कोमल शय्या राग का कारण नहीं है और काँटे चुभें वह द्वेष का कारण नहीं है इसप्रकार सभी निमित्तों में लाभ-हानि की तथा राग-द्वेष की मान्यता छूट जाने से वीतराग अभिप्राय हुआ, और अनन्त निमित्तों की दृष्टि से विमुख होकर स्व की ओर देखने लगा।

(१९) अपनी पर्याय में पुरुषार्थ की अशक्ति से जो राग द्वेष होता है वह किसके आधार से दूर होगा? प्रथम तो किसी निमित्त से वह राग-द्वेष नहीं होता, इसलिये निमित्त के आधार से वह दूर नहीं होगा, और राग के आधार से भी राग दूर नहीं होता। राग स्वभाव को सहायक नहीं है क्योंकि ज्यों-ज्यों विशेष स्वभावोन्मुखता होती जाती है त्यों-त्यों राग दूर होता जाता है और निर्मलदशा प्रगट होती जाती है। उस निर्मलदशा के आधार से (उस पर्याय के लक्ष से) भी रागादि दूर नहीं होते। परन्तु वह पर्याय सामान्य स्वभाव के आधार से आती है, उस स्वभाव के आधार से ही रागादि दूर होजाते हैं। इसप्रकार सामान्य के आधार से विशेष है और राग-द्वेष के अभाव से विशेष है; विशेष की निर्मलता में सामान्य स्वभाव के आश्रय की अस्ति है और राग-द्वेष की नास्ति है। एक का आधार है और दूसरे का अभाव है। इसप्रकार पर्याय की निर्मलता बढ़ने का अर्थात् मोक्षमार्ग का और मोक्ष का कारण कोई निमित्त नहीं है, राग नहीं है, पूर्व अवस्था नहीं है परन्तु त्रिकाल सामान्य-स्वभाव ही उसका कारण है। इससे मोक्षार्थियों को सामान्य के ही साथ विशेष को एकमेक करना रहा,—यही मोक्ष का उपाय है। इसमें स्व में अभेद करने की ही बात है। पहले भेद का विकल्प उठता है परन्तु वह उपाय नहीं है; भेद तोड़कर अभेद होजाना ही उपाय है। अभेद में आने से ही भेद टूट जाते हैं।

(२०) श्री कुंदकुंदाचार्यदेव ने दो हजार वर्ष पूर्व यह रचना की है और एक हजार वर्ष पहले श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने उसकी टीका रची है; उसका यह विस्तार होरहा है, जो जीव समझ सकें इस लिये यह विस्तार किया गया है। तथापि जो जीव कहते हैं कि हम नहीं समझ सकेंगे, वे जीव दोनों

का (समझानेवाले और समझनेवाले का) अपराध-अविनय करते हैं, इससे वास्तव में वे अपने ज्ञान का ही अपराध करते हैं।

आचार्य प्रभु को जो विकल्प आया है वह विकल्प स्वभाव के आश्रय से प्रतिक्षण दूर होता जाता है; बाह्य में शब्दों की (ग्रंथ-रचना की) क्रिया स्वयं होती जाती है और आचार्य प्रभु की वृत्ति प्रतिक्षण विशेष निर्मलतारूप से अन्तर्गोन्मुख होती जाती है। आचार्यदेव को विकल्प उठा और जिनशास्त्रों की रचना हुई। ऐसे महान पवित्र योग से इस काल में रचे गये इन शास्त्रों को समझने योग्य जीव न हों—ऐसा कैसे हो सकता है? हजारों पात्र जीव समझने की तत्परतावाले हैं और एकावतारी भी इस काल में होते हैं। यदि इस काल में आत्मस्वभाव न समझा जा सकता हो तो संतों की वाणी, टीका, शास्त्ररचना का और कथन करनेवाले का विकल्प—यह सब व्यर्थ ही जाते हैं। इसमें कुछ समझ में आता है?

श्रोताः— जी हाँ, महाराज! समझ में तो अवश्य आता है; लेकिन इसमें ध्यान बहुत रखना पड़ता है!

(२१) कहाँ ध्यान रखे बिना समझ में आता है? पैसा कमाने की, या सगाई—व्याह की जो बात अपने को अनुकूल लगती है उसमें कैसा ध्यान रखता है? तब फिर स्वभाव को समझने के लिए तो अपूर्व एकाग्रता होना ही चाहिए। व्यापारादि का ज्ञान उनमें ध्यान रखे बिना नहीं होता, रसोई बनाने का ज्ञान भी ध्यान रखे बिना नहीं होता; उसीप्रकार आत्मा की प्रतीति भी ध्यान के बिना नहीं होती। ध्यान रखने का अर्थ है ज्ञान को उस ओर एकाग्र करना। यदि स्वभाव की ओर ज्ञान को एकाग्र करे तो अवश्य समझ में आये।

(२२) जितनी देखने को निर्मल अवस्था हो उसकी एकता आत्मा से है, परन्तु जो पुण्य की वृत्ति उठे, गुण-गुणी भेद की शुभवृत्ति उठे उसकी एकता आत्मा में नहीं है। पुण्य-पाप रहित जितनी स्वभावदशा है वही मुक्ति में जाकर मिलती है, पुण्य-पाप के भाव तो दूसरे ही क्षण छूट जाते हैं। इसप्रकार पर से तो पृथक् किया और अपने में भी भंग-भेद का आश्रय छुड़ाकर अभेद अनुभव में लाते हैं। इसप्रकार मुक्ति के बिल्कुल

निकट लाये हैं। अभेद का अनुभव ही मोक्ष का उपाय है। हे जीव! समस्त पराश्रयभाव और भेद-भंग को छोड़कर अभेद स्वभाव की ओर बढ़! अज्ञानी जीव भी पर का कार्य तो नहीं कर सकता; तब फिर ज्ञानी तो वह विकल्प भी कैसे करेगा? परलक्ष से होनेवाले विकल्प से भी हटकर निर्विकल्प स्वभावोन्मुख होना ही मुक्ति का उपाय है। 'मैं दृष्टा हूँ इसीलिये देखता हूँ' अर्थात् दृष्टा की पर्याय देखनेरूप स्वभाव में ही स्थिर रहे; इस के लिए मैं दृष्टारूप से देखता ही हूँ। चेतना की अखण्डता है वह स्वभाव की एकता में जाती है।

(२३) देखो, यह अंतर की सूक्ष्म बात है। आत्मा का मोक्ष कैसे हो उसकी यह बात है। आत्मा को पर से तथा पुण्य-पाप से पृथक् जानकर स्वभाव का अनुभव कैसे करना–उस की यह बात है। स्वरूपोन्मुख होकर एकदम मोक्ष प्राप्त करने की यह बात है। मैं दृष्टारूप से देखता ही हूँ, दृष्टा को ही देखता हूँ, दृष्टा में दृष्टा द्वारा, दृष्टा के लिए ही देखता हूँ–इत्यादि छहकारक सम्बन्धी विकल्प बीच में आ जाते हैं, परन्तु उन विकल्पों में रुके बिना, चेतना को स्वभाव की ओर बढ़ाकर–एकाग्र करके–चेतनमात्र भाव में स्थिर होकर मैं अपने को देखता हूँ-ऐसा अभेद अनुभव करने की यह घोषणा है। आचार्य भगवान अभेद स्वरूप का अनुभव करने के लिये मोक्षार्थी जीवों को आमंत्रण देते हैं।

(२४) मैं देखता हूँ–अपने को देखता हूँ–इत्यादि छह कारक भेद के विकल्प होने पर भी उन छहों कारकों में दृष्टा तो एक ही स्थायी अखण्ड है। दृष्टा छह भेदरूप नहीं होजाता। यहाँ निमित्त से देखता हूँ या राग से देखता हूँ अथवा इन्द्रियों से देखता हूँ–ऐसी तो बात ही नहीं है; क्योंकि इन सब का लक्ष छोड़कर अब स्वभावोन्मुख होता है, और स्वभावोन्मुख होते होते विकल्प उठता है उसका निषेध करता है।

अब, छह कारक भेद के जो विकल्प उठते हैं उनका निषेध करते हैं–'मैं नहीं देखता हूँ, न देखता हुआ देखता हूँ, न देखने वाले के द्वारा देखता हूँ, न देखने वाले के लिए देखता हूँ, न देखने वाले में से देखता हूँ, न देखने वाले में देखता हूँ और न देखने वाले को

देखता हूँ; परन्तु सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ।' इसप्रकार धर्मी जीव आत्मा का अनुभव करता है और वही मोक्ष का उपाय है।

(२५) यहाँ 'मैं नहीं देखता हूँ' इत्यादि प्रकार कहे हैं, उनमें कहीं दृष्टापने का अस्वीकार नहीं किया है परन्तु 'मैं' और 'दृष्टा'—ऐसे जो गुणगुणी के भेद पड़ते हैं उनका अस्वीकार किया है। अनुभव के समय आत्मा में से दृष्टा-शक्ति नहीं चली जाती, परन्तु 'मैं दृष्टा हूँ'-ऐसा विकल्प नहीं होता। दृष्टाशक्ति संबंधी विकल्प तोड़कर अभेद में स्थिर होने के लिए यह बात ली है। भेद का अस्वीकार करने में भी विकल्प है। 'मुझमें भेद नहीं है'—इसप्रकार भेद का अस्वीकार करने में भी निषेध का विकल्प है, इसलिए वास्तव में 'भेद का निषेध करूँ' या 'विकल्प दूर करूँ'-ऐसे लक्ष से भेद का विकल्प दूर नहीं होता; परन्तु अभेद के अनुभव में स्थिर होते ही भेद का विकल्प छूट जाता है। परन्तु समझाना किसप्रकार? कथन में तो भेद पड़े बिना रहते नहीं। अनुभव के समय विकल्प नहीं होता परन्तु जब अनुभव का वर्णन करने बैठे तब तो (छद्मस्थ को) विकल्प होता है और कथन में भेद आता है। यदि समझने वाला स्वयं आशय को समझकर अभेद को लक्ष में ले ले तभी वस्तु का अनुभव कर सकता है।

(२६) धर्मात्मा जीव अथवा धर्मात्मा होने की तत्परता वाला जीव भावना करता है कि—मैं एक अखण्ड चेतक स्वभाव हूँ। 'मैं' और 'दृष्टा'—ऐसे दो भेद मुझ में कैसे? इसमें चेतना को विशेष बढ़ाकर स्वभाव के साथ एकता करके विकल्प तोड़ने के पुरुषार्थ की उग्रता है यही धर्म का उपाय है। हे जीव! 'मुझ से यह नहीं होगा'—इसप्रकार इन्कार मत करना। स्वीकार ही करना। स्वभाव की स्वकृति से बढ़ेगा तो यह समझ में आयेगा, अस्ति के बल से ही ऐसी दशा प्रगट होजायेगी। परन्तु यदि इन्कार करेगा तो नास्ति में से कभी यह दशा नहीं आयेगी। इसलिए पहले से ही बलात् स्वीकार करना चाहिये। 'बलात् स्वीकार करना' अर्थात् अंतर में स्वीकार करके समझने का पुरुषार्थ करना। यदि पहले से ही इन्कार करेगा तो उसका पुरुषार्थ आगे नहीं बढ़ेगा।

(२७) विकल्प होने पर भी धर्मात्माजीव विचार करता है कि इस विकल्प में रुकने वाला भाव मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो अखण्ड दृष्टा–ज्ञातास्वरूप ही हूँ। दृष्टा–ज्ञातापने के अतिरिक्त दूसरा कुछ मेरा कार्य नहीं है। मैं कर्ता और दृष्टा–ज्ञातापने की क्रिया मेरा कर्म–ऐसे दो भेद के विकल्प भी मेरे स्वरूप में नहीं है। मेरे एक स्वभाव में दो प्रकार नहीं हैं।

प्रथम 'मैं देखता ही हूँ'–इसप्रकार स्वीकृति से बात ली है और फिर 'मैं नहीं देखता'–इसप्रकार भेद की अस्वीकृति से बात ली है,–इन दोनों में राग का विकल्प है। स्वरूप में एकाग्रता के समय विकल्प नहीं होता। यहाँ भेद की अस्वीकृति का विकल्प प्रवर्तमान होने पर भी उस अस्वीकृति के विकल्प के पीछे जो अस्ति स्वभाव है वह ज्ञान में अभेदरूप से आता है और उस अभेद की ओर उन्मुखता के बल से ही भेद का विकल्प टूट जाता है।

(२८) यहाँ, कोई जड़ कर्म आत्मा को अनुभव करने से रोकता है–ऐसा नहीं कहा, परन्तु भेद का विकल्प बीच में आता है–ऐसा कहा है। अज्ञानी मानते हैं कि व्यवहार सहायक है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं भेद के विकल्परूप व्यवहार बीच में आता है वह अभेद स्वभाव के अनुभव को रोकता है। अपने स्वरूप की अनुभूति में बीच में जो विकल्प आड़े आजाता है उसे अभेद के लक्ष से छोड़ देने की बात करके अभेद में स्थिरता करना बताते हैं।

(२९) अनुभव में कारकभेद के विकल्प नहीं हैं। ऐसा अस्वीकृति से कहा है; परन्तु वहाँ है क्या? अनुभव करने वाला कैसा अनुभव करता है? वह कहते हैं। 'सर्व विशुद्धि दर्शनमात्र एक निर्मलभाव हूँ'–ऐसा निर्विकल्प अनुभव होता है। इस अनुभव के समय 'मैं सर्व विशुद्ध दर्शनमात्र हूँ'–ऐसा विकल्प भी छूट गया है। पहले अव्यक्तरूप से जो बात प्रतीति में ली है उसे भावना में व्यक्त करता है–प्रगट अनुभव करता है। यह भावना वह निर्मलपर्यायरूप है। मोक्षमार्ग द्रव्य या गुण नहीं है, परन्तु निर्मलपर्याय ही है। विकल्प पर्याय बदलकर अभेद में ढलती है। जिस जीव ने बात का श्रवण करके अभेद स्वभाव

को लक्ष में लिया तथा एकदम स्वभाव के विकल्प तक आया वह अब स्वभाव का अनुभव किये बिना लौट जाये-ऐसा हो नहीं सकता। विकल्प करते-करते आगे नहीं बढ़ता, परन्तु पहले से ही जो अभेद के लक्ष से चला है वह विकल्प तोड़कर अभेद को प्राप्त कर लेता है।

(३०) प्रश्नः—यह सब किसे सुनाते हो?

उत्तरः—यह जिससे होसकता है उससे कहा जाता है। यह जीव की बात है। यह प्रत्येक जीव से होसकती है; इसलिये कही जाती है; जड़ के सामने यह बात नहीं समझाई जाती। चेतन में सबकुछ समझने की शक्ति है, फिर समझ में न आये, यह कैसे होसकता है? हे जीव! भगवान ने जो कहा है वह सब तुझ से होसकता है इसीलिए कहा है। तुझ में जितनी शक्ति देखी है, उतना ही भगवान ने कहा है; जो तुझ से न होसके ऐसा कुछ भी भगवान ने नहीं कहा है। इसलिये 'मेरी समझ में नहीं आता'–ऐसा इन्कार करना ही नहीं। तू चेतन समझने की शक्तिवाला है और तुझे समझना ही कहा है, परन्तु कहीं चेतन में से जड़ होजाने के लिए तुझ से नहीं कहा है, क्योंकि वह तुझ से नहीं होसकता। परन्तु ज्ञान तो तेरा स्वरूप है और वह तुझ से होसकता है।

लोगों में भी-जिससे मन का वजन उठ सकता है उसीसे कहते हैं कि घर से मनभर गेहूँ ले आओ, लेकिन दो वर्ष के बालक से वैसा नहीं कहते। और जिसे रसोई बनाना आता है उसी स्त्री से रसोई बनाने को कहते हैं, परन्तु छह महीने की बच्ची से रसोई बनाने के लिए नहीं कहते; क्योंकि वहाँ सामने वाले की शक्ति देखकर ही कार्य बताया जाता है। अरे भाई! वहाँ तो देखने वाले अज्ञानी भी होते हैं, परन्तु यहाँ तो तीनलोक के नाथ, परमपिता चैतन्यमूर्ति सर्वज्ञ भगवान तेरी योग्यता देखकर तुझ से कहते हैं कि–'तू आत्मा है, ज्ञान-दर्शनमय है, तुझ में परिपूर्ण ज्ञान-दर्शन की शक्ति है, इसलिये ज्ञान-दर्शन के अतिरिक्त समस्त भावों को छोड़ दे, और अकेले ज्ञायक-दर्शक आत्मा की ही प्रतीति करके उसी का अनुभव कर! यही मुक्ति का उपाय है।' भगवान ने ऐसा उपदेश किया है, और यदि तू ऐसा कहे कि यह मुझ से कैसे होगा?

तो तूने सर्वज्ञ को ही नहीं माना है और अपने आत्मा को भी नहीं माना है। तुझ से होसकता है—ऐसा जानकर सर्वज्ञ भगवान ने कहा है और तू कहता है कि मुझ से नहीं होगा, तो तूने सर्वज्ञदेव का विरोध किया, इससे अपनी शक्ति का भी तूने अनादर किया है। परन्तु भाई! जिससे अपना स्वतंत्र स्वरूप समझ में आता है वही कहा है, इसलिए तू अपनी शक्ति का विश्वास कर! यहाँतक आया है और अब इन्कार करके फिर लौट जाये—ऐसा नहीं होसकता। तुझ में सर्व सामर्थ्य है उसका स्वीकार करके हाँ कह। अपने स्वभाव की हाँ तो कह! स्वभाव की स्वीकृति में से सिद्धदशा आयेगी, परन्तु अस्वीकृति में से नहीं; इसलिये अस्वीकार मत कर!

श्री आनन्दघनजी कहते हैं कि हे नाथ! जगत् में सत् स्वरूप की अस्वीकृति करने वाला अधिक भाग है, सत् में कोई साथ नहीं देता; तथापि मैं तो ढिठाई करके अर्थात् जगत से प्रयोजन छोड़कर आपके निकट चला आरहा हूँ—इसप्रकार अपने स्वभाव की दृढ़ता और बहुमान करते हैं। उनके समय में तो लोगों की अधिक तैयारी नहीं थी, और सत् को स्वीकार करने वाले भी बहुत नहीं मिलते थे, इससे वे जङ्गल में चले गये थे। उसकी अपेक्षा तो यह काल बहुत उत्तम है कि सत्य को निडरतापूर्वक स्वीकार करने वाले हजारों जीव हैं। अभी तो दिन–प्रतिदिन परम सत्य को स्वीकार करने वालों की संख्या में वृद्धि होरही है। जिन-शासन तो अभी हजारों वर्ष तक स्थित रहना है, इससे पात्र जीव भी होंगे न?

(३१) आत्मा चेतनामय है। चेतना के दो प्रकार हैं: दर्शन और ज्ञान। जो दृष्टा–ज्ञाता शक्ति है वह तो त्रिकाली गुण है, वह सामान्य है। देखने–जानने का कार्य तो उसकी विशेष पर्याय द्वारा होता है। दर्शनगुण है वह सामान्य है और दर्शन उपयोगरूप पर्याय विशेष है; परन्तु उसका विषय सामान्य है। सामान्य का अर्थ विशेषरहित सामान्य नहीं, परन्तु सभी वस्तुओं में भेद किए बिना सत्तामात्र का ग्रहण करता है उसका नाम सामान्य है। ज्ञान उपयोग प्रत्येक पदार्थ को विशेष भेद करके जानता है इससे उसे विशेष कहा जाता है। अत: विषय की अपेक्षा से दर्शन सामान्य

है और ज्ञान विशेष है। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान द्वारा जीव को परद्रव्यों से भिन्न जानकर स्वरूपोन्मुख होने की यह भावना है।

भावना का अर्थ क्या है? भावना स्वरूपोन्मुख होनेवाली पर्याय है, उसमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों का समावेश हो जाता है। भावना मोक्षमार्गरूप है, भावना त्रिकाल नहीं है परन्तु वर्तमान पर्यायरूप है; यह भावना ही धर्म की क्रिया है। क्रिया का अर्थ है परिवर्तन। द्रव्य-गुण त्रिकाल है उनमें परिवर्तन नहीं होता, परन्तु पर्याय में क्रिया अर्थात् परिवर्तन होता है।

(३२) मैं ज्ञाता को जानता ही हूँ—ऐसा विचार करने से यद्यपि विकल्प तो है परन्तु वहाँ विकल्प की ओर उन्मुखता नहीं है किन्तु स्वभावोन्मुखता है। मैं विकल्प हूँ—ऐसा लक्ष में नहीं लिया, परन्तु मैं ज्ञान हूँ—ऐसा लक्ष्य में लेकर स्वोन्मुख हुआ है, इससे विकल्प से अंशतः पृथक् हुआ है। अब आगे बढ़कर अभेद स्वरूप की ओर ढलता है और 'मैं सर्वविशुद्ध चिन्मात्र हूँ—ज्ञप्तिमात्र भाव हूँ'-ऐसा विकल्प रहित अनुभव करता है। अभेद अनुभव को वाणी द्वारा समझाने से भेद आ ही जाता है, परन्तु समझदार जीव कहनेवाले का आशय पकड़कर भेद को गौण करके अभेद को समझ जाते हैं। बस, इसीप्रकार बीच में व्यवहार आजाता है। परन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि 'हंतः' अर्थात् खेद है कि बीच में भेदरूप व्यवहार आये बिना सीधा अभेद में नहीं पहुँचा जाता।

(३३) यह मोक्ष अधिकार है। मोक्ष के निकट जाने से अर्थात् स्वरूप में लीनता करने से एकदम समस्त वृत्तियां लय होकर बंधन-भाव रहित पूर्ण निर्मलदशा होजाती है—उसका यह वर्णन है। यहाँ उसकी भावना है। जैसी स्वभाव की भावना करे उसीप्रकार का साक्षात् अनुभव होता है, जैसी भावना वैसा भाव, अर्थात् जैसी आत्मा की भावना करे वैसा परिणमन होता है। यदि अपने आत्मा को शुद्ध जानकर उसकी भावना करे तो शुद्ध दशारूप परिणमन होजाता है, और यदि आत्मा की अशुद्धरूप ही भावना करे तो अशुद्ध दशारूप परिणमन होता है। पहले आत्मा के शुद्ध स्वभाव का बराबर निर्णय करे तो पश्चात्

उसकी भावना करके–उस ओर उन्मुख होकर–परिणमित होकर उसका अनुभव करे और पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हो।

मोक्ष कैसे होता है–यह बतलाते हुए आचार्य भगवान ने कहा है कि स्वभाव को लक्ष्य में लेते हुए बीच में भेद की वृत्ति आयेगी तो अवश्य, परन्तु उस वृत्ति से रहित आत्मस्वभाव की प्रतीति करके अभेद स्वरूप में एकाकार चिन्मात्ररूप से स्थिर होना ही आत्मा का ग्रहण करने की रीति है। और इसप्रकार आत्मा का ग्रहण करना वह मोक्ष का उपाय है।

दीक्षावन में वैराग्य-भावना

[वींछिया ग्राम में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा–महोत्सव के समय फाल्गुन सुदी ६ के दिन भगवान के दीक्षाकल्याणक प्रसंगपर दीक्षावन में पूज्य स्वामीजी का व्याख्यान]

(१) दीक्षा से पहले भगवान का आत्मभान

आज भगवान का दीक्षाकल्याणक महोत्सव है। यहाँ जो तीर्थंकर भगवान का दीक्षा कल्याणक होता है वह तो स्थापना के रूप में होरहा है। पूर्व में जो तीर्थंकर भगवान होगये हैं उनका ज्ञान में वर्तमान में स्मरण करके स्थापना की जा रही है। पूर्व काल में अनन्त तीर्थंकर होगये हैं; वे तीर्थंकर मति–श्रुत–अवधि, ऐसे तीन ज्ञानसहित जन्म लेते हैं और अनेक क्षायिकसम्यग्दर्शन सहित जन्म लेते हैं। माता के पेट में आये उससमय भी अन्तर में ज्ञानमूर्ति आत्मा का भान है। शरीर–मन–वाणी का एक रजकण भी मेरा नहीं है, और जो क्षणिक शुभाशुभ विकार होता है वह किसी पर के कारण नहीं होता, परन्तु मेरे पुरुषार्थ की हीनता से होता है। वह शुभाशुभ विकार मेरे स्वभाव में से नहीं आता और वह मेरा स्वरूप नहीं है; मैं अखण्ड आनंद का सागर हूँ–ऐसे भानसहित भगवान का आत्मा स्वर्ग या नरक में से आता है। श्री ऋषभदेव भगवान पूर्वभव में सर्वार्थसिद्धि के देव थे, वहाँ से तीन ज्ञानसहित मरुदेवी माता के गर्भ में आये थे।

जिसप्रकार नरियल में ऊपर के छूछे, नरेली और अन्दर की लालाई-इन तीनों से खोपरे का गोला पृथक् है; उसीप्रकार आत्मा चैतन्य गोला है; वह इन स्थूल औदारिक शरीररूप छूछे, कार्मण शरीररूप नरेली और अन्दर के राग-द्वेषरूप लालाई-तीनों से पृथक्, चैतन्यबिंब सहजानन्द शांतरस की मूर्ति है। जिसप्रकार खोपरे के मीठे और सफेद गोले में जो लालाई है वह वास्तव में नरेली की ओर का भाग है; उसीप्रकार आत्मा आनंद और चैतन्य का गोला है, उसमें जो विकारी वृत्तियां होती हैं वे पराश्रय से होती हैं, वह वास्तव में चैतन्य की जाति नहीं है;-ऐसा भेदज्ञान भगवान को मुनि होने से पहले था। अनन्त तीर्थंकर ऐसे भेदज्ञान सहित ही माता के गर्भ में आते हैं। मैं तीर्थंकररूप अवतरित हुआ हूँ-ऐसा विकल्प, और मुझे तीन ज्ञान हैं-ऐसे भेदभाव से रहित अंतर में जो अभेद निर्विकल्प आनंद का कंद चैतन्यस्वभाव है उसका भगवान को भान था; और उसीके प्रताप से वे तीर्थंकर हुए हैं। इसप्रकार अंतर की पहिचान करना चाहिए।

भगवान माता के गर्भ में आये उसके छह मास पूर्व से प्रतिदिन रत्नों की वर्षा होती थी और देव-देवियाँ माता की सेवा करने आते थे। भगवान का आत्मा तो अंतर से सबके प्रति उदास था; वह शरीर को भी अपना नहीं मानता था। जब वे माता के पेट में थे उससमय भी-'इस माता के पेट में मैं रहा हूँ, यह मेरे माता-पिता हैं, यह इन्द्र मेरी सेवा करते हैं'-ऐसा विकल्प भी रुचि से नहीं था। ऐसे भानसहित श्री ऋषभदेव भगवान का जन्म हुआ। 'सिद्धसमान सदा पद मेरो'-मैं सिद्ध हूँ, त्रिकाली अखण्ड आनन्दस्वरूप हूँ-ऐसे आत्मभानसहित गर्भ में आये, ऐसे भानसहित जन्म लिया और ऐसे ही भानसहित बढ़े।

(२) भगवान को वैराग्य

एकबार ऋषभदेव भगवान के राजदरबार में देवियाँ भक्तिपूर्वक नृत्य कर रही थीं, उसीसमय उनमें से एक देवी की आयु पूर्ण होगई। ऐसी क्षणभंगुरता देखकर भगवान के अंतर में एकदम वैराग्य जागृत हुआ, और वे अनित्य-अशरण आदि बारह भावनाओं का चिंतवन करने लगे।

(३) बारह भावनाओं का चिंतवन और दीक्षा

अहो! आत्मा नित्य वस्तु है, और यह शरीर तो संयोगी है। माता की गोद में आने से पूर्व तो यह शरीर अनित्यता की गोद में आया है; जन्म होने के पूर्व ही इसे अनित्यता लागू होगई है। और प्रतिक्षण जो विकारी परिणाम होते हैं वे भी अनित्य हैं, पहले क्षण होकर दूसरे क्षण वे नष्ट होजाते हैं। मेरा चिदानन्द आत्मा ध्रुव है वह नित्य स्थायी है...ध्रवरूप आत्मा ही मुझे शरणभूत है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है। आत्मा को अपने अतिरिक्त अन्य कोई तीर्थंकर-गणधर—मुनि—इन्द्र या चक्रवर्ती शरणभूत नहीं हैं; एक अपना ध्रुवस्वभाव ही शरणभूत है। ...ऐसे अपने ध्रुवस्वभाव को भूलकर मिथ्यात्व के कारण जीव अनंतसंसार में परिभ्रमण कर रहा है। संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने, पूर्वभव की स्त्री का माता के रूप में और माता का स्त्री के रूप में अनंतबार सेवन किया है। पुण्य करके स्वर्ग में और पाप करके नरक-निगोद में भ्रमण कर रहा है। धिक्कार है—ऐसे संसार को! संसार कोई अन्य वस्तु नहीं किन्तु आत्मा का ही विकार है...आत्मा सदैव पवित्रमूर्ति है, और इन्द्रियां तथा शरीर अशुचिमय हैं...त्रिकाल एकरूप मेरा स्वभाव है, इसलिए मुझे अपने स्वभाव से एकता है...मैं एक ज्ञायकस्वभाव हूँ, शरीर और रागादि मेरा स्वरूप नहीं है....स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान करके उसमें लीन होने से संवर-निर्जरा प्रगट होते हैं... इस संसार में जीव को रत्नत्रयरूप बोधिनी की प्राप्ति ही अत्यन्त दुर्लभ है। पूर्व अनन्तकाल में आत्मा को और सबकुछ मिल गया है, लेकिन जो नहीं मिला वह एक रत्नत्रय ही है—इत्यादि प्रकार से बारह वैराग्य भावनाओं का भगवान चितवन करते थे। पश्चात् लौकांतिक देव आते हैं और प्रभु की स्तुति करके वैराग्य का अनुमोदन करते हैं और देव आकर दीक्षाकल्याणक मनाते हैं। भगवान दीक्षा लेकर चारित्रदशा अंगीकार करते हैं। यह सब दृश्य यहाँ हो चुका है।

(४) चारित्रदशा

आत्मा को सम्यग्दर्शन और

सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् भी चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं होती। चारित्रदशा किसी बाह्य वेश में नहीं है, परन्तु सिद्ध जैसे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में लीन होने से तीन कषायों का नाश होकर छट्ठे-सातवें गुणस्थान की वीतरागी दशा प्रगट होती है, वह चारित्रदशा है। ऐसी चारित्रदशा जिसे प्रगट हुई हो उसी को मुनि कहा जाता है; चारित्रदशा के बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप धर्म होता है परन्तु मुनिदशा नहीं होती।

भगवान को अपने आत्मा का परिपूर्ण आनन्द दृष्टि में तो आया है, पूर्णानंदस्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान हुआ है, अपने आत्मा में निश्चित होगया है कि मैं इसी भव में केवलज्ञान प्राप्त करके भगवान होने वाला हूँ; परन्तु तीर्थंकर भगवान को भी चारित्रदशा के बिना केवलज्ञान नहीं होता। इससे भगवान को वैराग्य होने से वे दीक्षा अंगीकार करते हैं। 'मैं दीक्षा लेकर मुनि होजाऊँ'—ऐसा विकल्प तो राग है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; और बाह्य में केशलोंच या वस्त्र उतरने की क्रियाएँ जड़ की हैं, आत्मा उनका कर्ता नहीं है। आत्मा को मुनि होने की वृत्ति उठी वह राग है, उस राग के कारण चारित्रदशा नहीं होती; लेकिन स्वभाव की लीनता से चारित्रदशा होती है। उसीप्रकार उस राग के कारण वस्त्र उतरने की क्रिया नहीं होती, किन्तु वह जड़ के स्वभाव से होती है।

आत्मा को मुनिदशा प्रगट होने से वस्त्रों का संयोग उनके अपने कारण से स्वयं दूर होजाता है—वहाँ आत्मा के शुभविकल्प को निमित्त कहा जाता है, परन्तु वास्तव में तो वस्त्र के पुद्गलों में वर्तमान पर्याय का वैसा ही परिणमन होने की योग्यता थी। आत्मा उसका कर्ता नहीं है। और जो पंचमहाव्रत का शुभविकल्प उठा उसे चारित्रदशा का निमित्त कहा जाता है, लेकिन वास्तव में तो वह राग है—वह वीतरागी चारित्र का कारण नहीं है; और आत्मा परमार्थ से उस विकल्प का कर्ता नहीं है। आत्मा के अन्तरस्वभाव में स्थिर होने से विकल्प छूट जाते हैं। भगवान ने वस्त्रों का त्याग किया-ऐसा कथन आता है, परन्तु वास्तव में तो स्वरूप में स्थिर होने से राग छूट गया है और राग छूट जाने

से उसके निमित्तरूप वस्त्र स्वयमेव छूट गये हैं।

स्वयं दीक्षा अंगीकार करके भगवान आत्मध्यान में लीन हुए और तुरन्त ही उन्हें सातवाँ अप्रमत्त गुणस्थान तथा मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हुआ। त्रिकाल के अनंत संतों का एक ही प्रकार है कि प्रथम तो आत्मा के भानपूर्वक मुनि होने का विकल्प उठता है, परन्तु उसका आश्रय नहीं मानते, और बाह्य में परिग्रह का संग नहीं होता, फिर अन्तरंग चैतन्यपिण्ड में लीन होने से मुनिओं को प्रथम सातवीं भूमिका प्रगट होती है। जिसे मुक्ति हो उसे यह दशा आये बिना कभी मुक्ति नहीं होती। गृहस्थदशा में सम्यग्दर्शन और एकावतारीपना होता है परन्तु इस दशा के बिना किसी सम्यग्दृष्टि को भी गृहस्थदशा में मुक्ति नहीं होजाती।

(४) मुनिदशा कैसी होती है?

कोई जीव द्रव्यलिंगी मुनि होकर ऐसा माने कि वस्त्रत्याग की क्रिया मैं करता हूँ, तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। साधुपद में स्वरूप के भानपूर्वक राग दूर होने से शरीर की निर्ग्रंथता उसके अपने कारण होजाती है, उस समय पुद्गल परावर्तन का काल ही वैसा होता है। आत्मा का स्वकाल अपने में स्थित होने का है। जहाँ आत्मा के स्वकाल में भावनिर्ग्रंथता हुई कि वहाँ अनन्तानुबंधी आदि तीन कषाय-कर्म के परमाणुओं का नाश होजाता है वह पुद्गल का स्वकाल है, और बाह्य में वस्त्रादि छूटे वह वस्त्रादि के परमाणुओं का स्वकाल स्वतंत्र होने पर भी, जब आत्मा में स्थिर होने का स्वकाल हो तब परमाणुओं में तीन कषाय–कर्म दूर न हों–ऐसा नहीं होसकता; ऐसा ही निर्मल मुनिदशा का और वस्तु का स्वभाव है। अनादि-अनंत संतों की ऐसी ही दशा है कि अन्तर में एकदम वीतरागता होती है और बाह्य में वस्त्र का एक ताना तक नहीं होता। शरीर पर वस्त्र का एक ताना भी रखने का लक्ष हो और छट्ठे-सातवें गुणस्थान की मुनिदशा बनी रहे–ऐसा तीनकाल तीनलोक में नहीं हो सकता। यह किसी का कल्पित मार्ग नहीं है. परन्तु आत्मा के भानपूर्वक लंगोटीरहित दशा होती है–ऐसा सनातन अनादि वस्तुस्वभाव की पर्याय का धर्म है; उस पर्याय को अन्यथा माने उसने मुनिदशा

को या वस्तुस्वभाव को नहीं जाना है। यद्यपि वस्त्र के ग्रहण-त्याग का कर्ता आत्मा नहीं है, तथापि जब आत्मा में तीन कषाय के नाशरूप वीतरागी चारित्र प्रगट हो उससमय राग और वस्त्रों का सहजरूप से अभाव हुए बिना भी नहीं रहता—ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक संबंध है।

यह बात कल्पना से नहीं कही जा रही है, परन्तु भगवान की दिव्यध्वनि में से कही जारही है। वींछिया ग्राम का अहोभाग्य है कि यहाँ यह पंचकल्याणक महोत्सव हो रहा है, और इस वन में दीक्षा कल्याणक होता है।

(६) धन्य अवसर की भावना

अहो! आज महा वैराग्य का दिन है, परम उदासीनता का प्रसंग है। आज भगवान परम वीतरागी चारित्रदशा धारण करते हैं। इस आत्मा को भी ऐसी चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं मिलती। यहाँ तो भगवान को दीक्षा की स्थापना है, लेकिन ऐसे प्रसंग पर स्वयं अन्तर में ऐसी भावना करे कि—हमें ऐसी निर्ग्रंथदशा कब होगी! मैं कब मुनि होकर आत्मध्यान में लीन होऊँगा! मैं कब वीतरागी संतो की पंक्ति में बैठूँगा!—ऐसी भावना कौन करता है? जिसे आत्मा के चिदानन्द रागरहित स्वभाव का भान हो और यथार्थ मुनिदशा कैसी होती है—उसकी पहिचान हो—वही ऐसी यथार्थ भावना कर सकता है। यह मुनि दीक्षा की स्थापना का निक्षेप है; परन्तु वह निक्षेप कौन करता है? स्थापना तो निमित्त है, पर है, व्यवहार है। उपादान के बिना निमित्त नहीं होता, स्व के भान बिना पर का भान नहीं होता और निश्चय के बिना सच्चा व्यवहार नहीं होता। इसलिए जिसे स्व-उपादान के निश्चयस्वभाव की पहिचान हो वही परनिमित्त में स्थापनानिक्षेपरूप व्यवहार को यथार्थ जानता है। मुनिपद तो रागरहित चारित्रदशा है। पहले जिसे रागरहित आत्मस्वभाव की पहिचान हुई हो वही रागरहित होने का पुरुषार्थ कर सकता है; परन्तु जो राग को ही अपना स्वरूप मानता हो वह जीव किसके बल से रागरहित होने का पुरुषार्थ करेगा? उसकी रागरहित होने की भावना भी यथार्थ नहीं होती। धर्मी को अपने ज्ञानमूर्ति रागरहित स्वभाव की दृष्टि है और अवस्था में निर्बलता के

कारण राग है, उस राग को स्वभाव की एकता के बल से दूर करके मुनि होने की भावना है। सहजस्वरूप की एकाग्रता के बिना 'राग को छोड़ूँ'–ऐसी हठ से राग नहीं छूटता। हठ से बाह्यत्याग कर दे तो वह सच्चा त्याग नहीं कहलाता। 'राग दूर करूँ'–ऐसी बुद्धि से राग दूर नहीं होता परन्तु उत्पन्न होता है–तथापि उसे राग दूर करने का उपाय माने तो वह जीव पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है। वास्तव में राग को दूर नहीं करना पड़ता, किन्तु दूसरे समय अन्तर में ध्रुव सत्स्वभाव का आश्रय करने से राग की उत्पत्ति ही नहीं होती, उसका नाम राग का त्याग है। इसप्रकार भगवान आत्मा को राग का त्याग नाममात्र है; क्योंकि राग स्वभाव में नहीं है। आत्मा अपने स्वभाव में एकाग्र हुआ वहाँ राग को छोड़ना नहीं पड़ता, किन्तु सहज ही छूट जाता है। अहा, आत्मा राग को भी नहीं छोड़ता तब फिर वस्त्रादि पर को आत्मा छोड़े–यह कैसे हो सकता है? ऐसा होने पर भी, मुनिदशा में वस्त्र का संयोग रहे–ऐसा भी तीनकाल में नहीं होता। तीनकाल तीनलोक में वस्तु की पर्याय का ऐसा ही नियम है कि छठवीं–सातवीं भूमिका में विद्यमान संत-मुनि को वस्त्र रखने का विकल्प भी नहीं होता। अहो! यह तो परम उदासीनदशा है। जिसप्रकार कछुए को भय होने पर वह अपने मुँह और पैरों को सिकोड़ कर पेट में छिपा लेता है उसीप्रकार मुनि की दशा इन्द्रियों की ओर से सिकुड़ कर स्वभाव में ढल गई है, मुनि अपने स्वभाव में गुप्त हो गये हैं। मुर्दे की भाँति जो शरीर के रजकण कार्य करते हैं उनका स्वामित्व अंतर में से उड़ गया है–ऐसे संत-मुनि को शरीर का रक्षण करने की या उसे ढँकने की वृत्ति उठने का भी अवकाश नहीं रहा है। अहो! आत्मा को यह दशा प्रगट हो वह धन्य पळ है! धन्य काल है! धन्य भाव है! इस धन्य अवसर की भावना करते हुए श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

नग्नभाव मुंडभाव सह अस्नानता,
अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;
केश, रोम, नख के अंगे शृंगार नहीं,
द्रव्यभाव संयममय निर्ग्रंथ सिद्ध जो;
–अपूर्व अवसर अेवो क्यारे आवशे?

ऐसी दशा के बिना तीनकाल-तीनलोक में पूर्णदशा की प्राप्ति

नहीं होती। शरीर-मन-वाणी की किसी भी क्रिया पर आत्मा का अधिकार नहीं है—ऐसे अंतरंग भानपूर्वक शरीर-श्रृंगार की वृत्ति दूर हो गई है, अंतर में चैतन्य के ध्यान के लिए बाह्य में सहजतया, मुख्यतथा मौनदशा वर्तती है। मुनिवरों को स्वभाव की लीनता में ऐसी उत्कृष्ट वैराग्यदशा होती है।

(७) वैराग्य

परमागम श्री समयसार भगवान वैराग्य का अर्थ ऐसा करते हैं कि पुण्य-पाप से रुचि हटाकर आत्मस्वभाव की रुचि करना ही वैराग्य है। चैतन्यमूर्ति आत्मा की ओर उन्मुख होने से पुण्य-पाप के प्रति विरक्त हो गया है। स्वभाव की रुचि हुई वह अस्ति और स्वभाव की रुचि होने से पुण्य-पाप की रुचि हट गई वह नास्ति। अखंडानंद स्वभाव की रुचि होने से 'पुण्य अच्छा और पाप बुरा'—ऐसी विपरीत मान्यता दूर होगई और पुण्य-पाप में मध्यस्थता होगई वह वैराग्य है, उसे पाप का तिरस्कार नहीं है और पुण्य का आदर नहीं है, लेकिन पुण्य और पाप दोनों से वह विरक्त है।

जीव रक्त बाँधे कर्मने
वैराग्य प्राप्त मुकाय छे,
ओ जिनतणो उपदेश तेथी
न राच तुं कर्मो विषे।

शुभकर्म से आत्मा को लाभ होता है—ऐसी जिसकी बुद्धि है वह जीव कर्म में ही रक्त है, उसे सच्चा वैराग्य होता ही नहीं, और वह कर्म का बंध करता है। धर्मी जीव शुभाशुभ-दोनों कर्मों से भिन्न आत्मस्वभाव को जानकर उन शुभ-अशुभ कर्मों के प्रति विरक्त है—इससे वह मुक्ति प्राप्त करता है। पुण्य और पाप—दोनों मेरा स्वरूप नहीं हैं—ऐसा भान होने से उन दोनों के प्रति मध्यस्थ होकर अपने स्वभाव के आश्रय से होनेवाली निर्मल पर्याय को भगवान वैराग्य कहते हैं।

(८) दीक्षा लेने के पश्चात् अंतरंग शांतिरस के अनुभव में भगवान को हुए एक वर्ष के उपवास

चारित्रदशा धारण करने से पहले भी भगवान ऋषभदेव के आत्मा में निश्चित था कि इसी भव में मैं केवलज्ञान और मुक्ति प्राप्त करनेवाला हूँ। लेकिन साथ ही साथ ऐसा भी निश्चित था कि

पुरुषार्थ के बिना केवलज्ञान नहीं होता। जब मैं पुरुषार्थ के द्वारा मुनिदशा प्रगट करके आत्मध्यान में स्थिर होऊँगा तभी केवलज्ञान होगा। भगवान ने जब दीक्षा ली तब उनके साथ देखादेखी दूसरे चार हजार राजाओं ने भी दीक्षा ले ली थी; लेकिन वह तो मात्र बाह्य नकल थी; अन्तर में अकल बिना नकल थी। ऋषभदेव भगवान तो आत्मीक आनन्द के अनुभव में लीन होने से उन्हें छह महीने तक आहार की वृत्ति नहीं हुई; लेकिन दूसरे जो राजा लोग दीक्षित हुए थे वे क्षुधा सहन न कर सके और भ्रष्ट हो गये। इससे कहा जाता है कि–'भूखे मरतां भागी गया।' अंतरंग शांतिरस पान किए बिना समता कैसे रहती? 'मैंने इतने दिनों तक आहार नहीं लिया'–इसप्रकार जहाँ आहार न लेने के दिन गिने जाते हों वहाँ आत्मा को सच्ची समता कैसे रहेगी? उसका लक्ष तो आहार पर गया है। आहार और शरीरादि बाह्य-पदार्थों का लक्ष छोड़कर अंतरंग परमानन्द के अनुभव में एकाग्र होने से सच्ची समता रहती है। श्री ऋषभदेव भगवान को आत्मा में स्थिर होने से आहार का विकल्प टूट गया और छह महीने के पश्चात् आहार की वृत्ति उठी; लेकिन छह महीने तक आहार का योग न बना। वहाँ भगवान तो आत्मा के आनन्द में मग्न हैं, बाह्य में आहार का संयोग तो उतने समय तक होना ही न था, इससे नहीं हुआ। बाह्यदृष्टि से देखनेवाले अज्ञानीजन बारह महीने तक आहार न होने को भगवान का तप मानते हैं और उसकी नकल में वर्षी तप करते हैं; परन्तु आहार नहीं आया वह तो जड़ की क्रिया है, उसमें तप नहीं है। तप तो आत्मा के ध्यान में लीन होने से सहज ही इच्छा टूट जाने का नाम है। अंतरंग दशा को भगवान दर्शन–ज्ञान–चारित्र और तप कहते हैं।

(९) प्रथम सम्यग्दर्शन और पश्चात् सम्यग्चारित्र

प्रथम तो सत्समागम से आत्मा को पहिचान करके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट करे, और फिर उसमें विशेष एकाग्र होने से पांच इन्द्रियों के विषयों की इच्छा सहज ही हट जाती है उसका नाम त्याग है। सम्यग्दर्शन होते ही राग की मिठास तो सहज ही उड़ जाती है, इससे विषयों में सुखबुद्धि नहीं

रहती। अविरति सम्यग्दृष्टिको राग हो और बाह्य में स्त्री आदि का संयोग हो परन्तु उनमें उसे कहीं भी सुखबुद्धिपूर्वक का राग नहीं होता, मात्र आसक्ति का राग होता है। पश्चात्, आत्मा में विशेष स्थिरता होने से आसक्ति का भी राग नहीं रहता, और बाह्य में भी स्त्री आदि कुछ भी परिग्रह नहीं होता। ऐसी दशा को चारित्र कहते हैं। जो जीव विषयों में सुख मानता हो तथा पुण्य में और उसके फल में जिसे मिठास हो वह तो मिथ्यादृष्टि है। आत्मा में आनंद नहीं है-ऐसा जो मानता हो वही विषयों में और विकार में सुख मानता है। धर्मी जीव को तो सुखस्वरूपी आत्मा का भान है; इससे उसमें स्थिर होने पर राग छूट जाने से 'बाह्य स्त्री आदि को छोड़ दिया'–ऐसा कहा जाता है। वास्तव में 'मैं रानियों को छोड़ दूं'–ऐसा ज्ञानियों का अभिप्राय नहीं होता। राग था तब रानियों का निमित्तपना था; लेकिन स्वभाव की चारित्रदशा के द्वारा अपने उपादान में से राग दूर हो गया इससे रानी का निमित्तपना भी छूट गया, इससे 'रानियों को छोड़ा'–ऐसा कहा जाता है। इसे समझे बिना और ऐसी दशा प्रगट किये बिना कोई जीव परमात्मा नहीं हो सकता।

(१०) अहो, धन्य है वह दशा!

अहो! भगवान ने ऐसे भानपूर्वक चारित्रदशा ग्रहण की और वीतरागी ध्यान में स्थिर हुए। अहा! धन्य है वह दशा!

एह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में,
गजा वगर ने हाल मनोरथरूप जो;
तोपण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो,
प्रभु आज्ञाओ थाशुं तेज स्वरूप जो...
अपूर्व अवसर अेवो क्यारे आवशे?
क्यारे थइशुं बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो;
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कव महत् पुरुषने पंथ जो....

अहो! अंतरंग भानपूर्वक की निर्ग्रंथता! श्रीमद् राजचन्द्रजी को आत्मा का भान है; वे गृहस्थपने में यह भावना करते हैं। श्रीमद् ने १९५२ की साल में २८ वर्ष की उम्र में ऐसी भावना की है। ऐसी भावना भाये बिना और वैसी साक्षात्दशा प्रगट किए बिना किसी भी जीव का कल्याण नहीं होता। चारित्रदशा के बिना अकेले सम्यग्दर्शन से मोक्ष नहीं हो जाता।

२८ मूलगुण संतो का सनातन मार्ग है। इस पद में यह धन्य अवसर अर्थात् आत्मा को वीतरागीदशा का स्वकाल कब आयेगा ? उसकी उग्र भावना की है। प्रत्येक जीव को आत्मा का भान करके यह भावना करने योग्य है। ऐसी भावना से आत्मा की रागरहितदशा होकर केवलज्ञान हो वही कल्याण है।

आज का दिन महा वैराग्य भावना का है।

सत्य वस्तु-स्वरूप

जो कभी न बदले ऐसा सच्चा आत्मस्वरूप क्या है ? वही कहा जारहा है। तीनकाल तीनलोक में सत्य वस्तुस्वरूप को बदल सके ऐसा कोई प्राणी नहीं है। सत्य को कोई जीव विपरीत प्रकार से माने तो उससे उस जीव को अपने भवों में विपरीतता होती है, परन्तु वहीं त्रिकाली सत्-स्वभाव नहीं बदल जाता। अपने त्रिकाल एकरूप सत्-स्वभाव को स्वीकार करना मोक्ष का पंथ है। क्षणिक भावरूप अपने को न मानकर, पूर्ण गुणस्वभावरूप स्वीकार करके, वह पूर्ण स्वभाव ही ग्रहण करने योग्य है। अत्यन्त निकटभव्य जीवों को अर्थात् अल्पकाल में सिद्ध होनेवाले जीवों को, अपने आत्मा को निर्माल्य-पराधीन-विकारी या अपूर्ण नहीं मानना चाहिये; परन्तु मैं पूर्ण परमात्मास्वरूप हूँ—ऐसी श्रद्धा करके उसीका आदर करना-उसी में लीन होना चाहिए। पूर्णदशा प्रगट होने के पूर्व अवस्था में रागादि विकार होते हैं, उनके होने का अस्वीकार नहीं है, परन्तु उस राग के आदर से धर्म नहीं होता। धर्मी जीव की दृष्टि उस राग पर या अपूर्णता पर नहीं होती। शुभराग करते-करते उससे परम्परा से धर्म होगा—ऐसा जो मानता है वह जीव राग को उपादेय मानता है, परन्तु रागरहित शुद्धस्वभाव को उपादेय नहीं मानता; इससे वह मिथ्यादृष्टि ही है। ज्ञानी अपने सहजशुद्ध आत्मतत्त्व की दृष्टि में राग को स्वीकार ही नहीं करते; इससे उनके

वह राग हो तो हेयबुद्धि से है। 'मुझे अपना शुद्धस्वरूप ही उपादेय है, शुभराग हो वह मेरा कर्तव्य नहीं है'-ऐसी धर्मदृष्टि के कारण धर्मी जीव का शुद्धस्वभाव की ओर ही परिणमन बढ़ता जाता है और रागादि अशुद्धता दूर होती जाती है। शुद्धआत्मा की श्रद्धा किसी पुण्यभाव के द्वारा नहीं हो सकती, परन्तु शुद्धभाव से ही होती है। अपने शुद्धस्वभाव का निश्चय करे तो शुद्धभाव प्रगट हो और मुक्ति हो।

आत्मा में शुभराग करते करते धर्म होगा-ऐसा माननेवाले जीव को वीतराग स्वभाव का आदर नहीं है, परन्तु राग का आदर है। वह वीतराग का भक्त नहीं, मिथ्यादृष्टि है। जिसने विकार को कर्तव्य माना वह जीव पाखण्डी-अधर्मी है। पुण्य करने से धर्म में आगे नहीं बढ़ा जासकता, परन्तु पुण्यरहित शुद्ध आत्मस्वभाव है उसकी प्रथम श्रद्धा करने से ही आगे बढ़ा जासकता है। स्वभाव का आदर और आश्रय करते-करते ही वीतरागता और केवलज्ञान होता है। चिदानन्द स्वभाव की श्रद्धा ही आगे बढ़ने का मूल उपाय है। जो राग हो वह वीतरागता का मार्ग नहीं है, वस्तु का धर्म नहीं है। श्री तीर्थंकर भगवन्तों ने अपने परम आत्मस्वभाव को पहिचान कर उसी के आश्रय से पूर्ण मुक्तदशा प्रगट की है। जो अनादि स्वभावमार्ग है उसका अनुभव करके स्वतः पूर्ण हुए और दिव्यध्वनि द्वारा वह मार्ग जगत को दर्शाया। अनन्तकाल में कभी भी इसी मार्ग से मुक्ति प्राप्त की जाती है।

'आत्मा का जो यथार्थ स्वभाव है वह समझ में नहीं आता, इसलिए जो पहले से कर रहे हैं वही करते रहो'-ऐसा अज्ञानी मानते हैं; उसका अर्थ यह हुआ कि अनादि से जो अज्ञानभाव करता आरहा है उसीको चालू रखना है और स्वभाव नहीं समझना है। अनादि से जिसप्रकार संसार में परिभ्रमण किया है उसीप्रकार परिभ्रमण करना है। भाई! अनादि से जो भाव कर करके तू संसार में भ्रमण कर रहा है, उनसे भिन्नप्रकार का धर्म का मार्ग है; इसलिए उसे समझ तो तेरा उद्धार हो! जो उपाय है उसे जाने बिना सत्यमार्ग हाथ नहीं लगेगा।

[नियमसार प्रवचन गाथा ३८]

आत्मधर्म

२४७६ चैत्र

वर्ष पाँचवाँ, अङ्क बारहवाँ

आत्मा का सर्वज्ञ–स्वभाव और वस्तु में क्रमबद्ध पर्याय।

: सम्पादकीय :

श्रीप्रवचनसार के पहले ज्ञान अधिकार में आत्मा के ज्ञान और सुख स्वभाव का यथार्थ स्वरूप बतलाते हुए केवलज्ञान और अतीन्द्रिय सुख का अलौकिक वर्णन किया है। वहां प्रत्येक आत्मा का सर्वज्ञ स्वरूप है और सर्वज्ञ के ज्ञान से बाहर (ज्ञात हुए बिना) कुछ भी नहीं हो सकता–यह बात स्पष्ट करके, सर्वज्ञ के ज्ञान में सर्व द्रव्य–गुण और उनकी अनादि–अनन्त पर्यायें एक समय में युगपत ज्ञात होती हैं–यह बात सिद्ध की है। और यह सिद्ध होने से, प्रत्येक द्रव्य की अनादि–अनन्त पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं–ऐसा वस्तुस्वरूप स्वयमेव सिद्ध होता है। इससे सर्व पदार्थों में तीन काल की क्रमबद्ध पर्यायें जैसी हों, उनमें कुछ भी फेरफार या राग-द्वेष करने का जीव का स्वभाव नहीं है, परन्तु जैसी हों उन्हें वैसा ही जान लेने का ज्ञायक स्वभाव है। ऐसे अपने ज्ञायक स्वभावी शुद्ध आत्मा की ओर रुचि और उन्मुखता द्वारा आत्मार्थी जीवों को द्रव्यदृष्टि प्रगट करके, परोन्मुखता वाली पर्याय-बुद्धि छोड़ना चाहिए,–जिससे शाश्वत सुख के उपायभूत अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट हो।

× × ×

वर्तमान में मुख्यतया आत्मा का सर्वज्ञ स्वरूप और प्रत्येक पदार्थ में क्रमबद्ध पर्याय–इन दो विषयों पर खूब चर्चा हो रही है, और इस सम्बन्ध में अनेक स्थानों से अनेक प्रकार की शंकाएँ और विरोध हो रहे हैं। इससे उस सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण यहाँ किया जा रहा है।

१—वस्तु का यथार्थ स्वरूप।

२—अनन्त धर्मात्मक वस्तुओं को उनके द्रव्य, अनन्त गुण तथा त्रैकालिक पर्यायों (जिनमें अपेक्षित धर्मों का समावेश हो जाता है) सहित एक समय में सम्पूर्णतया जाने ऐसा प्रत्येक जीव का सर्वज्ञ-स्वभाव है।

३—स्वभाव की ओर का ज्ञान और पुरुषार्थसहित क्रमबद्ध पर्याय की मान्यता।

४—जैनधर्म, और—

५—अनेकान्तवाद।

उपरोक्त पांचों विषयों के ज्ञान का अविनाभाव सम्बन्ध है। जिस जीव को इन विषयों में से एक का भी यथार्थ ज्ञान हो उसे दूसरे विषयों का सच्चा ज्ञान न हो—ऐसा हो ही नहीं सकता। यदि इन पांचों में से किसी भी एक विषय का ज्ञान भूलयुक हो तो उसका पांचों विषयों सम्बन्धी ज्ञान मिथ्या ही होता है।

\+ \+ \+

अब उपरोक्त पांचों विषयों का स्पष्टीकरण करके, यह विचारणा की जाती है कि उनका अविनाभावीपना किसप्रकार है।

१—वस्तु का यथार्थ स्वरूप

इस जगत में जितनी वस्तुएँ हैं उनके जीव और अजीव—ऐसे दो भेद होते हैं। यदि ऐसा माना जाये कि वस्तु को किसी भी प्रकार से पराश्रय है, तो उसका 'है' पना—अस्तित्व स्वाधीन नहीं रहता। वस्तु हो और पराश्रय चाहे (पर की सहायता की आवश्यक्ता हो) उसे वास्तव में वस्तु नहीं कहा जा सकता। किसी भी वस्तु को पराश्रय (पर की सहायता) है—ऐसा मानना वह वस्तु को न मानने जैसा है।

जो अपने गुण-पर्यायों में वास करे, अथवा जिसमें अपने गुण-पर्यायें वसे वह वस्तु है। जो वस्तु हो वह गुण-पर्याय रहित नहीं होती। यदि वस्तु में अपने गुण-पर्याय का वास हो तभी उसे वस्तु कहा जाता है और तभी वह अपना प्रयोजनभूत कार्य कर सकती है। किसी वस्तु को अथवा उसके गुण-पर्यायों को कभी पराश्रय हो ही नहीं सकता। इससे विरुद्ध वस्तु-स्वरूप मानना वह मिथ्यात्व है। कोई जीव अपने मिथ्याज्ञान से वस्तु को, उसके गुण और पर्यायों को यथार्थ स्वरूप से न जाने और

उन में से किसी को पराश्रय से (पर की सहायता से उत्पन्न होने वाला) माने तो कहीं वस्तु का स्वरूप नहीं बदल जाता। वस्तु का स्वरूप तो कभी भी अन्यथा नहीं होता, परन्तु कोई जीव उसे यथार्थरूप से न मानकर अन्यरूप से माने तो उस जीव का ज्ञान अज्ञानरूप परिणमित होता है। जीव को या अजीव को उसकी अवस्था में पराश्रय (पर की सहायता) है–ऐसा अज्ञानपने में ही जीव मानता है।

'प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणों का पिण्ड है और वह अनादि–अनन्त है, इससे वह तो स्वाश्रय ही है, परन्तु पर्याय तो क्षणिक नवीन कार्य है इसलिए उसमें पर का आश्रय (पर की सहायता) चाहिये'–ऐसा कितने ही व्यक्ति मानते हैं, वह मान्यता मिथ्या है; उसका स्पष्टीकरण निम्नोक्त है:—

(१) अनादि–अनन्त पर्याय का पिण्ड है वह द्रव्य है। और–

(२) प्रत्येक गुण की अनादि-अनन्त पर्यायों का पिण्ड है वह गुण है।

(जैनसिद्धान्त दर्पण पृष्ठ ३९–५६)

उपरोक्तानुसार द्रव्य और गुण की व्याख्या होने से, द्रव्य–गुण को स्वतंत्र स्वाश्रित स्वीकार करने से अनादि–अनन्त पर्यायों की भी स्वतंत्रता और स्वाश्रय सिद्ध हो जाता है।

जीव अनादि से पर का आश्रय (पर की सहायता) मानकर परलक्ष से विकारी पर्याय करता है–यह ठीक है, परन्तु उससे पर उसे कुछ आश्रय देता है–ऐसा नहीं बनता; क्योंकि यदि उसे आश्रय देने की शक्ति पर में हो तो जीव को पराश्रय होने की मान्यता को मिथ्या नहीं कहा जासकेगा। जीव पर्याय में अनादि से अज्ञानी है और इसीसे वह पराश्रय मानता है। पर उसे आश्रय नहीं देते और जीव पराश्रय होने की मान्यता नहीं छोड़ता,–इसीसे उसे मिथ्यात्व और दुःख होता है।

जीव पराश्रय मानता होने से वह कहीं न कहीं पराश्रय ढूँढ़ता रहता है, परन्तु पर तो उसे आश्रय नहीं देता। ऐसा होने से पराश्रय ढूँढ़ने वाला व्यक्ति व्यग्र हुए बिना नहीं रहता। श्री प्रवचनसार में इस सम्बन्ध में कहते हैं कि—

'...निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकपने का सम्बन्ध नहीं है कि जिससे शुद्धात्मस्वभाव

की प्राप्ति के लिये सामग्री (बाह्य साधन) ढूँढ़ने की व्यग्रता से जीव (व्यर्थ) परतंत्र होते हैं।'

(गाथा १६, टीका)

और उसमें स्पष्टरूप से कहा है कि अनादि की अज्ञानदशा में भी जीव स्वतंत्ररूप से विकार करता था और ज्ञानदशा में भी जीव स्वतंत्ररूप से अविकारी दशा करता है।

(श्री प्रवचन०गाथा १२२-१२६टीका)

श्री समयसार गाथा १०२ की टीका में श्री जयसेनाचार्य इस विषय में कहते हैं कि:-चिदानन्द एक स्वभाव द्वारा आत्मा का एकत्व होने पर भी उसके दो भेद करके जिन शुभ या अशुभ भावों को आत्मा करता है, उन भावों का आत्मा स्वतंत्ररूप से कर्ता और भोक्ता होता है।

(देखो हिन्दी समयसार पृ० १६७)

जीव और अजीव दोनों द्रव्य स्वयं अपनी विकारी और अविकारी अवस्था में अपने छहों कारकों रूप से परिणमित होते हैं, और पर कारकों की अपेक्षा के बिना वे अपनी अवस्थाएँ करते हैं।

(देखो, पंचास्तिकाय गाथा ६२, पृ० ११४ संस्कृत टीका)

इस समस्त कथन का सार यह है कि एक द्रव्य की पर्याय में दूसरे द्रव्य की पर्याय कुछ भी नहीं कर सकती; उसमें परिवर्तन नहीं कर सकती, आगे-पीछे (अक्रमरूप) नहीं कर सकती। ऐसा वस्तुस्वरूप होने पर भी मोहभाव के कारण जीव के अनादि से पर की कर्ताबुद्धि प्रवर्त रही है। कोई जीव शास्त्र का अभ्यास करने के पश्चात् कदाचित् सीधा ऐसा न कहता हो कि-एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का करता है; परन्तु अन्तर में पड़ी हुई पर की कर्तृत्वबुद्धि के कारण वह ऐसा मानता है कि-'भले हम पर की पर्याय को नहीं कर सकते, परन्तु उसके निमित्त तो हो सकते हैं; इसलिए पर का निमित्त बनना चाहिए।' इसप्रकार शास्त्राभ्यास के बहाने भी अनादि से चली आ रही कर्तृत्वबुद्धि को ही दृढ़ करते हैं। 'पर के हम निमित्त बनें'-ऐसे उनके कथन के आशय पर विचार किया जाये तो वह यही है कि आप निमित्त होने के कारण पर की पर्याय में कुछ फेरफार हो सकेगा। ऐसा उनका आशय होने से वह पर द्रव्य की प्रत्येक समय की स्वतंत्र पर्याय को

नहीं मानते। यदि उनके निमित्त से पर द्रव्य में कुछ फेरफार होता हो, तो यह निमित्त स्वयं निमित्त रूप से नहीं रहता; परन्तु परद्रव्य का कर्ता होकर स्वयं उसका उपादान हो जाता है,–ऐसा होने से उपादान और निमित्त इन दोनों के यथार्थ स्वरूप का लोप होजाता है–ऐसा अज्ञानियों के ध्यान में नहीं आता। इसीसे वे 'निमित्त' की ओट में अपनी विपरीत मान्यता की पुष्टि करते हैं।

"प्रत्येक द्रव्य–गुण–पर्याय स्वतंत्र हैं, वे पर की किंचित् अपेक्षा नहीं रखते,–ऐसा ही स्वतंत्र यथार्थ वस्तुस्वरूप है। ऐसा स्वतंत्र वस्तु-स्वरूप सिद्ध होने से शेष चार विषय भी उसमें अविनाभाव रूप से से आ जाते हैं"–उन्हें अब कहा जाता है।

२–जीव की सर्वज्ञता

वस्तु है–ऐसा निश्चित होने से वह ज्ञेय है–यह भी निश्चित होता है। वस्तु हो और वह ज्ञेय-(प्रमेय) न हो–ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येक वस्तु में 'प्रमेयत्व' नाम का गुण है इससे द्रव्य–गुण-पर्याय सभी ज्ञेय हैं। जो ज्ञेय हो उसे जानने वाला ज्ञान भी अवश्य होता ही है। यदि ज्ञान ज्ञेय को न जाने तो ज्ञान का ज्ञानत्व ही क्या रहा? और यदि ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात न हो तो ज्ञेय का ज्ञेयत्व ही क्या रहा? जीव की सर्वज्ञता के बिना ऐसा ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

ज्ञान अपनी पर्याय के द्वारा जानने का कार्य करता है। यदि ज्ञान की पर्याय सर्व ज्ञेयों को जाने तभी आत्मा का ज्ञानस्वभाव सिद्ध हो। और सर्व ज्ञेयों को जानने में ज्ञान को यदि एक से अधिक समय लगे तो उसकी अवस्था पूर्ण नहीं कहलायेगी। इससे सर्व द्रव्य-गुण पर्यायों, (और अपेक्षित धर्मों सहित) सर्व ज्ञेयों को एक समय में सम्पूर्णतया जाने वही ज्ञान की पूर्ण अवस्था है।

आत्मा का ज्ञायक स्वरूप है अर्थात् ज्ञाता स्वभाव है। ज्ञाता स्वभाव में 'न जानना' किंचित् भी नहीं आ सकता। समस्त द्रव्य, उनके गुण और उनकी भूत–वर्तमान–भविष्य की समस्त पर्यायें ज्ञेय हैं। यद्यपि भूत–भविष्य की पर्यायें वर्तमान में प्रगट नहीं वर्त रही हैं, परन्तु अनादि–अनन्त पर्यायों का पिण्ड ही द्रव्य होने से, द्रव्य

में ही वे पर्यायें आ जाती हैं। द्रव्यार्थिक नय से भूत-भविष्य की पर्यायें द्रव्य में त्रिकाल अस्तित्व रखती हैं, इससे ऐसा नहीं हो सकता कि सम्पूर्ण विकसित हुआ ज्ञान उन्हें न जाने।

श्री प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने और अमृतचन्द्राचार्य देव ने यह विषय अत्यन्त स्पष्ट रीति से समझाया है। देखो, गाथा १५, १६, २१, २२, २६, २८, २९, ३१, ३२, ३५, ३७, ३८, ३९, ४७, ४८, ४९, ५१, ५४, ५९, और ६१।

समस्त ज्ञेय जैसे हों उन्हें वैसा ही और पूर्णरूप से जाने तभी ज्ञान यथार्थ और सम्पूर्ण कहलाता है। ज्ञेय अनादि से हैं, इससे उन्हें जानने वाला ज्ञान भी अनादि से है, अर्थात् 'सर्वज्ञ अनादि से हैं।' और ज्ञेय अनन्तकाल तक रहेंगे इससे उन्हें जानने वाले सर्वज्ञ भी अनन्तकाल होना ही हैं। इसप्रकार आत्मा में सर्वज्ञ होने का सामर्थ्य है; तो उस सामर्थ्य को जानकर पूर्ण ज्ञान के साधक भी इस जगत में अनादि-अनन्त होते हैं; और उनका विरोध करने वाले अज्ञानी भी जगत में अनादि-अनन्त हैं। इसप्रकार इस जगत में आत्मा की सर्वज्ञता का विरोध करने वाले अज्ञानी, सर्वज्ञता के साधक ज्ञानी, और उसे प्राप्त करने वाले सर्वज्ञ-तीनों प्रकार के जीव (बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा) सदैव होते ही हैं।

शास्त्रों का अभ्यास करने पर भी अनेक लोगों को सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं होती और अपनी विपरीत मान्यता से कहते हैं कि:—

(१) इस जगत में कोई जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

(२) सर्वज्ञ देव भविष्य की पर्यायों को वर्तमान में नहीं जान सकते, परन्तु जब वे पर्यायें होती हैं तब उन्हें जानते हैं।

(३) सर्वज्ञदेव पर को जानते हैं-यह कथन व्यवहारनय से है और व्यवहारनय तो अभूतार्थ है, इसलिए सर्वज्ञदेव पर को जानते ही नहीं।

(४) सर्वज्ञदेव वस्तु के अपेक्षित धर्मों को नहीं जानते।

उपर्युक्त चारों प्रकार की मान्यताएँ मिथ्या हैं, उनका स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है:—

(१) इस जगत में कोई जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकता–ऐसा मानने वाला जीव आत्मा की सर्वज्ञत्व-शक्ति का अस्वीकार करता है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयसार में कहते हैं किः—

सो सव्वणाणदरिसी
कम्मरएण णियेणवच्छण्णो।
संसारसमावण्णो
ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥
ते सर्वज्ञानी-दर्शी पण
निजकर्मरज आच्छादने,
संसारप्राप्त न जाणतो
ते सर्व रीते सर्वने ॥१६०॥

इस गाथा की टीका में आचार्यदेव कहते हैं कि–'जो स्वयं ही ज्ञान होने के कारण विश्व को सामान्य-विशेषरूप से जानने के स्वभाव वाला है–ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य,....सर्व प्रकार से सर्व ज्ञेयों को जानने वाला अपने को न जानता हुआ...अज्ञान भावरूप परिणमित होता है।"

और आत्मा की सर्वज्ञत्व शक्ति की व्याख्या करते हुए श्री समयसार के परिशिष्ट में अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं किः—

'समस्त विश्व के विशेषभावों को जाननेरूप परिणमित–ऐसी आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्व शक्ति'–यह शक्ति सभी आत्माओं में है।

इससे जो सर्वज्ञ को नहीं मानते वे आत्मा के ज्ञानस्वभाव को ही नहीं मानते, अर्थात् वास्तव में आत्मा को ही नहीं मानते।

(२) सर्वज्ञदेव भविष्य की पर्यायों को भी वर्तमान पर्यायों की भाँति ही प्रत्यक्ष, वर्तमान में जानते हैं। इस सम्बन्ध में प्रवचनसार के ज्ञान अधिकार की गाथाएँ पहले बतलाई हैं, उनके उपरांत प्रवचनसार की २००वीं गाथा में कहते हैं किः—

अब "एक ज्ञायकभाव का सर्व ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से, क्रमानुसार प्रवर्तमान होने से, अनन्त भूत–वर्तमान–भविष्य के विचित्र पर्यायसमूह वाले, अगाध-स्वभाव और गंभीर–ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को–मानों वे द्रव्य ज्ञायक में अंकित हो गये हों, चित्रित हो गये हों, दब गये हों, स्थित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हो गये हों–इसप्रकार एक क्षण में ही जो (शुद्ध आत्मा) प्रत्यक्ष करता है..." इससे सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ-

देव एक समय में तीनों काल की समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष जानते हैं।

(३) 'सर्वज्ञदेव पर को जानते हैं-यह कथन व्यवहारनय से है और व्यवहारनय तो अभूतार्थ है, इसलिए सर्वज्ञदेव पर को जानते ही नहीं'-यह मान्यता भी मिथ्या है। व्यवहार अनेक प्रकार का है। 'पर को जानना'-उसे यहाँ व्यवहार कहा है, परन्तु 'पर को जानने की ज्ञानशक्ति' वह कहीं व्यवहार से नहीं है। पर को जानने का सर्वज्ञ का ज्ञान तो सच्चा ही है, परन्तु पर के साथ तन्मय होकर वह ज्ञान पर को नहीं जानता इससे उसे व्यवहार कहा है। और स्व को तन्मयरूप से जानता है इसलिए स्व को जानना उसे निश्चय कहा है।

इस संबंध में श्री समयसारजी गाथा ३५६ से ६५ की टीका में श्री जयसेनाचार्यदेव स्पष्टीकरण करते हैं कि-यदि केवली तन्मयरूप से पर को जानें तो पर के सुख-दुःख संवेदनकाल में पर के सुख-दुःख को प्राप्त करें, परन्तु ऐसा नहीं होता, इतना बताने के लिये 'व्यवहारनय से पर को जानते हैं'-ऐसा कहा है। वहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि:—

'यद्यपि स्वकीय सुख संवेदनापेक्षया निश्चयः परकीय सुखसंवेदनापेक्षया व्यवहारस्तथापि छद्मस्थजनापेक्षया सोऽपि निश्चय एवेति।'

अर्थ:—यद्यपि स्वकीय सुख संवेदन की अपेक्षा से निश्चय और परकीय सुख संवेदन की अपेक्षा से व्यवहार है, तथापि छद्मस्थजनों की अपेक्षा से वह भी निश्चय ही है।

पर के ज्ञान बिना स्व का ज्ञान पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। यदि स्व को जाने और पर को न जाने तो वह ज्ञान स्व को ही नहीं जान सकता। उसीप्रकार पर को जाने और स्व को न जाने तो वह ज्ञान पर को ही नहीं जान सकता। श्री प्रवचनसार गाथा ४८-४९ में कहा है कि-सर्व को न जानने वाला एक को भी नहीं जानता, और एक को न जानने वाला सर्व को भी नहीं जानता, इसलिए जो आत्मा को 'आत्मज्ञ' मानते हैं किन्तु परज्ञ (सर्वज्ञ) नहीं मानते वे आत्मा की स्व-पर प्रकाशक शक्ति को ही स्वीकार नहीं करते। इससे केवली भगवान का आत्मा स्व को ही

जानता है, पर को नहीं जानता–ऐसा मानने से महान दोष आता है। इस संबंध में पं० दीपचन्दजी शाह ने चिद्विलास (पृ० १४ तथा १७) में अत्यन्त स्पष्टीकरण किया है। वहाँ कहा है कि–' उपयोग ज्ञान में स्व-पर प्रकाशक शक्ति है, वह अपने स्वरूप प्रकाशन में निश्चल व्याप्य–व्यापक द्वारा लीन हुआ अखण्ड प्रकाश है; पर का प्रकाशन तो है, परन्तु व्यापकरूप एकता नहीं है, इससे उपचार संज्ञा हुई। वस्तुरूप शक्ति उपचार नहीं है।"

......"यदि ज्ञान केवल स्वसंवेद (मात्र अपना ज्ञाता) ही है, वह स्व-पर प्रकाशक नहीं है–तो महान दोष हो। स्वपद की स्थापना पर के स्थापन से है; यदि पर की स्थापना की अपेक्षा दूर कर दी जाये तो स्व का स्थापन भी सिद्ध नहीं होता। इसलिए स्व–पर प्रकाशक शक्ति मानने से सर्वसिद्धि है,–इसमें कोई सन्देह नहीं है।"

(४) अपेक्षित धर्मों को भी केवली भगवान जानते हैं। अपेक्षित धर्म को धारण करने वाला या तो द्रव्य होता है, या गुण होता है, अथवा पर्याय होती है। केवली भगवान द्रव्य-गुण पर्याय को तो जानते हैं और उनके अपेक्षित धर्मों को नहीं जानते–ऐसा मानने वाला केवली भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय का संपूर्ण ज्ञान होना नहीं मानता।

श्री गणधरों ने केवली भगवान की दिव्यध्वनि में से अपेक्षित धर्मों का ज्ञान प्राप्त किया। यदि केवली भगवान को अपेक्षित धर्मों का ज्ञान न हो तो उनकी वाणी में उन अपेक्षित धर्मों का उपदेश कहाँ से आये? और गणधर कहाँ से झेले? इसलिये केवली भगवान को अपेक्षित धर्मों का ज्ञान न मानना वह प्रगट रीति से ही मिथ्या है। यदि केवली भगवान अपेक्षित धर्मों को न जानते हों तो वे अल्पज्ञ सिद्ध हों। गणधरों और श्रुतकेवलियों का ज्ञान केवली भगवान के ज्ञान का अनन्तवाँ भाग है, तथापि वे गणधरादि छद्मस्थ जीव तो अपेक्षित धर्मों को जानें और उनके परम गुरु श्री केवली भगवान अपेक्षित धर्मों को न जानें–यह मान्यता बिलकुल मिथ्या है।

भगवान की वाणी अनन्त नयात्मक होती है। (देखो समयसार नाटक पृ० ३३) अनन्त नय अपे-

क्षित धर्मों का प्रतिपादन करते हैं। नय–उपनयों के विषयरूप पर्यायों का समूह वह द्रव्य है। (आप्त-मीमांसा गाथा १०७) इसलिये द्रव्य-गुण-पर्याय के ज्ञान में अपेक्षित धर्मों का ज्ञान आ जाता है। केवलज्ञान अनन्त धर्मों को जानता है, और उसमें अपेक्षित धर्म भी आ जाते हैं। इस संबंध में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने समयसार के दूसरे कलश में स्पष्टता की है। (देखो समयसार कलश २ का भावार्थ) आज कितने ही उपदेशक भी कहते हैं कि–आत्मा में सर्वज्ञशक्ति है या नहीं–उसका निर्णय करने की चर्चा या झंझट में नहीं पड़ना चाहिये, अपने को तो राग-द्वेष दूर करने का काम है न? लेकिन यह मान्यता महान अज्ञान है। सर्वज्ञ के निर्णय बिना मिथ्यात्व या राग-द्वेष दूर होते ही नहीं। सर्वज्ञदेव का निर्णय मोह-क्षय का उपाय है–ऐसा बतलाते हुए भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में कहते हैं कि—

जो जाणदि अरहन्तं
दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तहिं।
सो जाणदि अप्पाणं
मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

जो अरिहंत भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह (अपने) आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है। यदि सर्वज्ञता निश्चित न हो तो आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव ही निश्चित न हो। यदि जीव आत्मा का परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव ही निश्चित न करे तो उसे आत्मा की सच्ची श्रद्धा भी कैसे होगी? और उसके बिना मिथ्यात्व भी दूर नहीं होगा, तथा मिथ्यात्व दूर हुए बिना राग-द्वेष दूर नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्येक जिज्ञासु जीव को प्रथम ही आत्मा की सम्पूर्ण सर्वज्ञत्व शक्ति का यथार्थ निर्णय अवश्य करना चाहिए। सर्वज्ञ का यथार्थ निर्णय करने से, जगत के अधिकांश विद्वान और त्यागी भी 'सर्वज्ञ' का स्वरूप समझने में जो भ्रांति कर रहे हैं उसका अयथार्थपना ज्ञात हुए बिना नहीं रहेगा।

और कोई ऐसा कहे कि–'कीड़े-मकोड़े आदि को जानने से

भगवान को क्या प्रयोजन है? इसलिये भगवान उन्हें नहीं जानते'–यह भी स्थूल अज्ञान ही है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, वह जहाँ पूर्ण प्रगट होकर सर्वज्ञदशा होगई वहाँ उस ज्ञान में क्या ज्ञात नहीं होगा? सभी ज्ञात होता है। यदि सम्पूर्ण ज्ञेयों को न जाने तो पूर्ण ज्ञान ही सिद्ध नहीं होता। जगत के समस्त पदार्थों का प्रमेय स्वभाव है, इससे पूर्ण ज्ञान प्रगट होजाने से समस्त पर्याय स्वयमेव उस ज्ञान में ज्ञात होते हैं; इससे 'इन ज्ञेयों को जानना प्रयोजनभूत है, और यह अप्रयोजनभूत है'–ऐसा उनके है ही नहीं। आत्मा का ज्ञान-स्वभाव पूर्ण विकसित हो गया वहाँ उसमें कीड़े-मकोड़े आदि स्वयमेव ज्ञात होते हैं। जगत के ज्ञेय पदार्थ हों वे पूर्ण ज्ञान में ज्ञात न हों–यह कैसे हो सकता है?

कोई लिखता है कि:–'महावीर की सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के रूप में प्रसिद्धि थी। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे या नहीं–यह इस समय की चर्चा का विषय नहीं है; पर वे विशिष्ट तत्वविचारक थे'–यह कथन भगवान महावीर की सर्वज्ञता को कुटिल पद्धति से उड़ाने वाला है। सर्वज्ञदेव को सबकुछ जैसा है वैसा ही ज्ञान में ज्ञात होगया है, इससे उनके कोई विशिष्ट तत्व-विचार नहीं होता। 'विचारक' तो अल्पज्ञ होता है। जिसको अबतक कुछ जानना शेष रहा हो वही विचारक होता है। विचार तो श्रुतज्ञान का प्रकार है; भगवान को विशिष्ट तत्वविचारक कहना वह तो भगवान की सर्वज्ञता का अस्वी-कार करके उन्हें अल्पज्ञ मानने के बराबर है। यह मान्यता बिलकुल मिथ्यात्व है। भगवान तो सर्वज्ञ हैं, उन्हें कुछ नवीन जानना या निर्णय करना नहीं रहा है। इससे उन्हें विचार करना रहा ही नहीं।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है और विश्व के सभी पदार्थ ज्ञेय हैं, इसप्रकार वस्तुस्वरूप ही ऐसा है कि वह पूर्ण ज्ञान में सम्पूर्ण ज्ञात होता है। सर्व पदार्थ ज्ञेय हैं, उन्हें जानने वाला पूर्ण ज्ञान भी अवश्य होता ही है। वह आत्मा का ही सर्वज्ञस्वरूप अथवा ज्ञायक-स्वरूप है।

इसप्रकार–(१) वस्तु के यथार्थ स्वरूप को और (२) सर्वज्ञता को

अविनाभावीपना है-अर्थात् जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है वह आत्मा की सर्वज्ञता को भी अवश्य जानता है। जो सर्वज्ञता को नहीं मानता वह वस्तु-स्वरूप को भी नहीं मानता।

*

३—स्वभाव की ओर के ज्ञान और पुरुषार्थ सहित क्रमबद्ध पर्याय की मान्यता।

प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि 'जो जीव अर्हन्त भगवान को द्रव्य गुण-पर्यायरूप से जानता है वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है।' अर्हन्त भगवान एक समय में जगत के समस्त पदार्थों का स्वरूप संपूर्णतया जानते हैं; उनका ज्ञान सत्य और संपूर्ण होने से सर्व वस्तुओं के स्वरूप को यथावत् जानता है। तीनकाल में जिस समय जो पर्याय होने वाली है उसीप्रकार उसे निश्चित रूप से जानते हैं; क्योंकि ज्ञेय जैसे हों उन्हें वैसा ही परिपूर्ण जान लेना ज्ञान का स्वभाव है। जैसा ज्ञेय हो उससे विपरीतरूप जाने तो ज्ञान विपरीत सिद्ध हो और यदि सर्व ज्ञेयों को न जाने तो ज्ञान अपूर्ण सिद्ध हो।

वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि उसकी पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं। जितने तीनकाल के समय हैं उतनी ही वस्तु की पर्यायें हैं, इसलिये किसी समय की पर्याय आगे-पीछे होती ही नहीं। जिस समय जो पर्याय होने योग्य हो उस समय वही होती है। छहों द्रव्यों में जो परिणाम होते हैं वे सब अपने अपने अवसर में स्वरूप से उत्पन्न और पूर्वरूप से विनष्ट हैं। द्रव्य में अपने अपने अवसरों में प्रकाशित होने वाले समस्त परिणामों में पीछे-पीछे के अवसरों में पीछे-पीछे के परिणाम प्रगट होते हैं और पहले-पहले के परिणाम प्रगट नहीं होते। इसप्रकार प्रत्येक जीव और अजीव द्रव्य क्रमबद्ध परिणमित होते हैं, कोई द्रव्य आगे-पीछे की पर्यायों में परिणमित नहीं होता। द्रव्य की पर्यायों के क्रम को बदलने के लिये तीर्थंकर, इन्द्र, नरेन्द्र इत्यादि कोई समर्थ नहीं हैं। वस्तु में तीनकाल की पर्यायें जिसप्रकार क्रमबद्ध हैं उसीप्रकार केवलज्ञानी के ज्ञान में वे ज्ञात होती हैं।

यदि वस्तु की त्रिकाल की पर्यायें क्रमबद्ध नियमानुसार न होती हों तो सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान भी अनिश्चित सिद्ध हो। और अनिश्चित ज्ञान हो वहाँ सर्वज्ञता नहीं होती। इसप्रकार वस्तु में क्रमबद्ध पर्यायों को स्वीकार किये बिना सर्वज्ञता ही सिद्ध नहीं होसकेगी।

श्री समयसार के सर्वविशुद्ध-ज्ञान अधिकार की प्रथम (३०८ से ३११) गाथाएँ इस संबंध में बहुत उपयोगी हैं। उनकी टीका में आचार्यदेव कहते हैं कि—

"जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः। एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीवः एव न जीवः।"

अर्थः—'प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है। इसी प्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं है।'

इसप्रकार वस्तुस्वरूप क्रमबद्ध पर्याय वाला ही है, और ज्ञानियों के सम्यग्ज्ञान में वैसा ही ज्ञात होता है। वस्तु की क्रमबद्ध पर्यायें माने बिना सम्यग्ज्ञान ही सिद्ध नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञान के पांच प्रकार हैं:-मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान–इन पांचों ज्ञानों में स्वयं अपने योग्य, वस्तु की भूत-भविष्य की क्रमबद्ध पर्यायों को जानने का सामर्थ्य है। यदि उस ज्ञान में ज्ञात हुए अनुसार ही वस्तु में क्रमबद्ध पर्यायें न हों, और उनमें किंचित् भी फेरफार हो तो वह ज्ञान मिथ्या ही सिद्ध हो। पांच ज्ञान के विषय में शास्त्रों में जो कथन आता है–वह यहाँ दिया जा रहा है:—

मति-श्रुतज्ञान

श्री तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय के ३६वें सूत्र में मनुष्यों के दो प्रकार बतलाये हैं; उनमें से आर्य मनुष्यों में जिन जीवों को विशेष शक्ति प्राप्त हो उन्हें ऋद्धिप्राप्त आर्य कहा जाता है। उनकी बुद्धि-ऋद्धि के स्वरूप का वर्णन करते हुए एक 'अष्टांगनिमित्तता बुद्धि' कही गई है। उसका स्वरूप इसप्रकार है—

"अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न-

ऐसे आठ प्रकार का निमित्त ज्ञान है। उसकी व्याख्या निम्नप्रकार है:-

१–सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र के उदय-अस्तादिक देखकर अतीत–अनागत फल का जानना वह अन्तरिक्ष निमित्तज्ञान है।

२–पृथ्वी की कठोरता, कोमलता, चिकनाई या रूखापन देखकर, विचार करके अथवा तो पूर्वादि दिशा में सूत्र पड़ता देखकर हानि-वृद्धि, जय-पराजय इत्यादि का प्रगट जानना वह भोम निमित्तज्ञान है।

३–अंग-उपांगादि के दर्शन–स्पर्शनादि से त्रिकाल भावी सुख-दुःखादि का जानना वह अंग निमित्तज्ञान है।

४–अक्षर-अनक्षररूप तथा शुभ-अशुभ को सुनकर इष्टानिष्ट फल का जानना वह स्वर निमित्तज्ञान है।

५–मस्तक, मुख, ग्रीवा इत्यादि स्थानों में तिल, मसा आदि लक्षण देखकर त्रिकाल संबंधी हित-अहित का जानना सो व्यंजन निमित्तज्ञान है।

६–शरीर पर श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, कलश, चक्र आदि चिन्ह देखकर पुरुष के त्रिकाल संबंधी स्थान, मान, ऐश्वर्यादिक विशेषों का जानना वह लक्षण निमित्तज्ञान है।

७-वस्त्र, छत्र, अशन शयनादि से, देव-मनुष्य राक्षसादि से तथा शस्त्र-कंटकादि से छेदे जायें उसे देखकर त्रिकाल संबंधी लाभ-अलाभ सुख-दुःख को जानना वह छिन्न निमित्तज्ञान है।

८–वात-पित्त-श्लेष्म रहित पुरुष को, मुख में पिछली रात्रि में चंद्र, सूर्य, पृथ्वी, पर्वत या समुद्र का प्रवेशादि होना–ऐसा स्वप्न शुभस्वप्न है। घी-तेल से अपनी देह लिप्त हो और गधा-ऊँट आदि पर चढ़कर दक्षिण दिशा में गमनादि करे ऐसा स्वप्न वह अशुभस्वप्न है; उसके दर्शन से आगामी काल में जीवन-मरण, सुख-दुःखादि का ज्ञान होना वह स्वप्न निमित्तज्ञान है।

इन आठ प्रकार के निमित्त-ज्ञान का जो ज्ञाता हो उसे अष्टांग-निमित्तबुद्धि-ऋद्धि है।

अब यदि द्रव्य की पर्यायें क्रमबद्ध न होती हों और आगे–पीछे होती हों तो उपरोक्त कथित अष्टांगनिमित्ततावुद्धि किसी जीव के हो ही नहीं सकती। और अष्टांग-निमित्ततावुद्धि वह मति-श्रुतज्ञान है, इससे मति-श्रुतज्ञान का ही अभाव सिद्ध होगा।

अवधिज्ञान

उत्कृष्ट अवधिज्ञान असंख्यात लोकप्रमाण से अतीत और अनागत काल को जानता है। रूपी पुद्गल और उन पुद्गलों के संबंध वाले संसारी जीवों के विकारी भावों को अवधिज्ञान प्रत्यक्ष जानता है।

अब यदि रूपी पुद्गल और जीव के विकारी भाव क्रमबद्ध पर्यायरूप परिणमित न होते हों और आगे-पीछे चाहे जैसे परिणमित होते हों तो अवधिज्ञान रूपी द्रव्यों के और जीव के विकारी भावों की असंख्यात लोकप्रमाण अतीत और अनागत काल की पर्यायों को वर्तमान में किसप्रकार जान सके? अवधिज्ञान ने जिसप्रकार जाना उसीप्रकार यदि पदार्थों की क्रमबद्ध पर्याय न हो तो अवधिज्ञान ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। स्वभावपर्याय हो या विभावपर्याय हो, वे सब क्रमबद्ध ही होती हैं।

मनःपर्ययज्ञान

अपने तथा पर के जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ इत्यादि को विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान जानता है; और व्यक्तमन या अव्यक्तमन से चिंतवन किये हुए, चिंतवन न किये गये अथवा तो आगे चलकर जिसका चिंतवन करेगा-ऐसे सर्वप्रकार के पदार्थों को भी वह ज्ञान जानता है। काल की अपेक्षा से वह ज्ञान जघन्यरूप से सात-आठ भव आगे-पीछे के जानता है और उत्कृष्टरूप से असंख्यात भव आगे-पीछे के जानता है। भविष्य के जीवन-मरण, लाभ अलाभ इत्यादि यदि निश्चित न हों तो ज्ञान उन्हें कैसे जानेगा?

केवलज्ञान

केवलज्ञान सर्व द्रव्य-गुण और उनकी त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायों को अक्रम से एक काल में जानता है। यह ज्ञान सहजरूप से (इच्छा बिना और उपयोग को पर सन्मुख लिए बिना) सर्व ज्ञेयों को जानता है। केवलज्ञान पूर्ण ज्ञान है और उसमें संपूर्ण ज्ञेय ज्ञात होते हैं। यदि लोकालोक से भी अनन्तगुने ज्ञेय हों तो उन्हें भी जान ले-ऐसा दिव्य सामर्थ्य केवलज्ञान में है।

इन पांचों प्रकार के सम्यग्ज्ञान का स्वरूप ऐसा बतलाता है कि प्रत्येक द्रव्य के अनादि-अनन्तकाल की समस्त पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं, वे आगे-पीछे नहीं होतीं और उनके क्रम को बदलने के लिये

कोई समर्थ नहीं है। वास्तव में इस में आत्मा के ज्ञायकभाव का निर्णय आता है, और ज्ञायकभाव का निर्णय ही सम्यक् पुरुषार्थ है। जीव के यथार्थ पुरुषार्थ के बिना यह निर्णय नहीं हो सकता। जीव जब ऐसा निर्णय करता है तब उसे पर पदार्थों में कुछ भी फेर-फार करने की मिथ्याबुद्धि नहीं रहती। विश्व के समस्त पदार्थ अपने स्वभावानुसार क्रमबद्ध ही होते हैं, इससे मैं उनमें कुछ भी फेर-फार कर हो नहीं सकता-ऐसा अपने ज्ञान में निर्णय होने से, 'पर पदार्थों का क्या होता है ?' उस ओर लक्ष करना नहीं रहता, इससे उसका पुरुषार्थ अपने ज्ञानस्वभाव की ओर ही उन्मुख होता है। और अपने में भी, पर्यायबुद्धि दूर होकर द्रव्यदृष्टि होती है।

"यदि सब नियमबद्ध-क्रमसर होता है और जीव उसमें कुछ भी फेरफार नहीं कर सकता, तो जीव का पुरुषार्थ नहीं रहता"-ऐसा मानने वाले को, क्रमबद्ध पर्यायों को जानने वाला जो अपना ज्ञायक स्वभाव है-उसकी प्रतीति नहीं है। समस्त पदार्थों में क्रमबद्ध परिणमन होता है उसका मैं ज्ञाता हूँ-ऐसा जो ज्ञायक भाव है, वही परम पुरुषार्थ है। पर में कुछ भी फेरफार कर सके-ऐसा आत्मा का पुरुषार्थ है ही नहीं।

जिन्हें पर के ऊपर आधिपत्य रखना है, 'पर का मैं करता हूँ, मैं करता हूँ'-ऐसे मिथ्या अहंकार से दुनियां के पदार्थों के साथ लिपटकर गले मिलना है, समाज की व्यवस्था करने के अभिमान में जिनकी बुद्धि रुक गई है और पर के साथ के संबंध से छूटकर जिन्हें स्वभावोन्मुख नहीं होना है-ऐसे जीवों को उपरोक्त वस्तुस्वभाव की बात सुनकर ऐसा हो जाता है कि-'अरेरे! क्या आत्मा किसी का कुछ भी नहीं कर सकता ? आत्मा पर में कुछ फेरफार नहीं कर सकता ? तो आत्मा पुरुषार्थ-रहित निरुद्यमी और निष्क्रिय हो जायेगा।' ऐसे जीवों को पर पदार्थ का अहंकार करना ही पुरुषार्थ भासित होता है, परन्तु उस अहंकार से रहित वीतरागी ज्ञायकभाव प्रगट करना ही परम पुरुषार्थ है-ऐसा वे नहीं जानते। जीव का पुरुषार्थ अपने में ही होता है, और पर में वह कुछ भी नहीं कर सकता;-ऐसा जिन्हें भान नहीं है उन जीवों

की दृष्टि पर की ओर से, निमित्त की ओर से, शरीर की क्रिया की ओर से, कर्म के उदय की ओर से, व्यवहार की ओर से, पुण्य की ओर से या पर्याय की ओर से कभी नहीं हटती और ज्ञानस्वभावी के स्वद्रव्य की ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती; इसप्रकार उन्हें वस्तु-स्वरूप का अथवा आत्मा का निर्णय नहीं है। जिन्हें वस्तु की क्रमबद्ध पर्यायों की प्रतीति नहीं है, उन्हें सर्वज्ञ की या आत्मा के ज्ञानस्व-भाव की प्रतीति नहीं है। क्रमबद्ध पर्याय की प्रतीति में ही सच्चा ज्ञान और सच्चा पुरुषार्थ है; इस प्रतीति के बिना पर का अहंकार दूर नहीं होता और ज्ञान स्वभाव में स्थिर नहीं होता, इससे अज्ञान दूर नहीं होता।

वस्तु में स्वभाव से ही क्रम-बद्ध परिणमन होता है,-उसकी जिन्हें प्रतीति नहीं है वे ऐसी भ्रमणा का सेवन करते हैं कि-"जैसा निमित्त आये वैसा कार्य होता है, जैसा कर्म का उदय हो वैसे भाव जीव को करना ही पड़ते हैं। बाह्य की समाजव्यवस्था ठीक नहीं है इसलिए जीव दुःखी हैं, समाज के कार्य और उसकी व्यवस्था में फेरफार करना-वह अपने पुरुषार्थ के हाथ की बात है।" यदि वस्तु की क्रमबद्ध पर्यायों की यथार्थ प्रतीति हो तो यह सभी मिथ्या भ्रमणाएँ दूर हो जायें।

क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय करने में अपने ज्ञान में पुरुषार्थ रुकता है, इससे ज्ञान और पुरुषार्थ कार्य करते हैं, तथापि उस ज्ञान और पुरुषार्थ को जो अस्वीकार करते हैं वे इस यथार्थ वस्तुनियम को नहीं समझे हैं। अपनी वर्तमान पर्याय में जिस ज्ञान और पुरुषार्थ का कार्य हो रहा है उसे जो न माने, उसके यथार्थ वस्तुस्वभाव के ज्ञान का पुरुषार्थ कहाँ से होगा? और वह वस्तुस्वभाव को किसप्रकार समझेगा? कभी नहीं समझ सकता।

इसप्रकार—(१) वस्तु के यथार्थ स्वरूप को, (२) सर्वज्ञता को और (३) क्रमबद्ध पर्याय को, एक-दूसरे के साथ अविनाभावीपना है। इन तीनों के ज्ञान के साथ 'जैनधर्म' का ज्ञान भी आ ही जाता है-वह अब कहा जाता है।

+

४—जैनधर्म

'जैन' अर्थात् जीतने वाला; 'धर्म' आत्मा की शुद्ध पर्याय है, आत्मा में स्वाश्रय से वह पर्याय

प्रगट होती है। शुद्ध पर्याय प्रगट होने से अशुद्ध पर्याय का (विकार-का) अभाव होता है। इसप्रकार आत्मा अपने शुद्ध भाव के द्वारा विकार को जीत लेता है, इससे उस जीतने वाली शुद्ध पर्याय को 'जैनधर्म' कहा जाता है। इसप्रकार 'जैनधर्म' भाववाचक शब्द है, वह कोई संप्रदाय, संघ या समाज-सूचक नहीं है। जो आत्मा अपने में शुद्ध पर्याय प्रगट करके विकार को जीत लेता है वह स्वयं 'जैन-धर्मी' है।

(१) जो जीव वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानते हैं उन्हें (२) अपना आत्मा सर्व ज्ञायकस्वभावी है–ऐसा निर्णय होता है, तथा (३) अपने स्वभाव की ओर के ज्ञान और पुरुषार्थ सहित क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय होता है और (४) उन्हें अपने में शुद्ध पर्यायरूप जैन-धर्म प्रगट होता है। जगत के सभी पदार्थों पर से और अपनी क्षणिक पर्यायों पर से दृष्टि हटकर, अपने त्रिकाल ध्रुव चैतन्य निजानन्द स्व-भाव का आश्रय करके उसमें पर्याय अभेद हुई–वही जैनधर्म है। ऐसा शुद्ध पर्यायरूप सत्यधर्म (जैनधर्म) एक ही प्रकार का है; उसमें दूसरे प्रकार या भेद हो ही नहीं सकते। पर्याय की हीनाधिकता हो तथापि धर्म तो त्रिकाल एक ही प्रकार का है। फिर भी जैनधर्म के नाम से जो भेद चल रहे हैं वह वास्तव में जैनधर्म नहीं है, परन्तु अज्ञान के घोर बादलों का प्रताप है। ऐसा होने पर भी, ऐसे इस काल में भी मुमुक्षुओं का महन् भाग्य है कि परम कृपालु सद्‌गुरुदेवश्री के परम सत्य धर्मोपदेश का अपूर्व लाभ निरन्तर मिल रहा है। और इस परम सत्य धर्म को समझने की रुचि वाले बिरले जिज्ञासु जीवों की वृद्धि भी दिन प्रतिदिन होरही है।

५–अनेकान्तवाद

उपरोक्त चारों बोलों में अने-कान्तवाद भी स्वयमेव आ जाता है। आत्मा अपनेरूप से है और पररूप से नहीं है–ऐसा निश्चित करके पर की ओर की रुचि और सन्मु-खता को हटाकर स्वभाव की रुचि और उस ओर उन्मुखता करने का नाम वास्तव में अनेकांत है। निश्चय और व्यवहार दोनों को जानकर निश्चय की ओर ढलने से (झुकने से) ही अनेकान्त होता है। 'आत्मा निश्चय से पर का कर्ता नहीं है और व्यवहार से पर

का कर्ता है, निश्चय से आत्मा शुद्ध रागरहित है और व्यवहार से रागयुक्त अशुद्ध है; निश्चय से (द्रव्यार्थिकनय से) आत्मा नित्य है और व्यवहार से (पर्यायार्थिकनय से) आत्मा अनित्य है'–इसप्रकार दोनों नयों को जानकर, यदि निश्चयनय के विषयभूत परमार्थ स्वभाव की ओर उन्मुख न हो तो अनेकान्त नहीं होता। पर्याय का आश्रय छोड़कर त्रिकाली ध्रुवद्रव्य का आश्रय करने में ही द्रव्य-पर्याय की अभेदता है, वही अनेकान्त (प्रमाण) है। और इसप्रकार अपने अभेद स्वभाव की ओर उन्मुख होकर अनेकान्त प्रगट किए बिना–(१) 'वस्तु के स्वरूप का, (२) आत्मा के सर्वज्ञ स्वभाव का, (३) क्रमबद्ध पर्याय का अथवा (४) जैनधर्म का, यथार्थ निर्णय नहीं होता।'

इस समय अनेकान्त के नाम से मुख्यतया विद्वानों और उपदेशकों में भारी गड़बड़ चल रही है। अनेकान्त तो वस्तु के स्वरूप का निश्चय करने वाला है–उसके बदले जिसे जो अच्छा लगता है उसीप्रकार अनेकान्त और धर्म के नाम पर विपरीत कथन करते रहते हैं; इसलिए मुमुक्षु जीवों को सत्समागम से सभी पक्षों का बराबर विचार और परीक्षा करके, सत्य–असत्य का यथार्थ निर्णय करना चाहिए। इस लेख में बतलाये हुए–(१) वस्तुस्वरूप (२) आत्मा का सर्वज्ञ स्वभाव (३) क्रमबद्ध पर्याय (४) जैनधर्म और (५) अनेकान्तवाद। इन पांचों आवश्यक विषयों का अवश्य निर्णय करना चाहिए, क्योंकि इसके निर्णय के बिना कभी आत्मकल्याण नहीं होता।

× × ×

इस कलिकाल में धर्म के नाम पर, वेष के नाम पर, देश की सेवा के नाम पर, त्याग के नाम पर–इत्यादि अनेकप्रकार से मिथ्या मान्यताओं की पुष्टि हो रही है–यह प्रगट ही है। आत्मार्थी जीव उन पाखण्डों से बचें, धर्म के नाम पर चलने वाले पाखण्ड बन्द हों, और जगत के पदार्थों का तथा आत्मा के धर्म का सच्चा स्वरूप क्या है? उसे लोग जानलें और वे धर्म के स्वरूप को प्राप्त करें–यही 'आत्मधर्म' पत्र का हेतु है; इससे यथार्थ वस्तुस्वरूप बतलाने वाले लेख ही उसमें दिये जाते हैं। उसमें किसी भी व्यक्ति की निंदा या अंगत टीका बिलकुल नहीं की

जाती। मात्र सत्यस्वरूप क्या है, और असत्य क्या है? उसका विवेचन कारणों सहित युक्ति और आगमादि के आधार से दिया जाता है।

आत्मधर्म कोई लौकिक पत्र नहीं है; यह धर्म के नाम से चलने वाले दूसरे पत्रों की अपेक्षा बिलकुल भिन्न जाति का है। इसमें जो कुछ भी दिया जाता है वह सत्तत्त्व के प्रतीकरूप होता है। इस पत्र में जो कुछ प्रकाशित होता है वह यद्यपि पू० गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के मुख से जो व्याख्यान प्रतिदिन होते हैं उनका अंशमात्र ही है; तथापि उतने में 'गागर में सागर' की भाँति महान तत्व भरा होता है। इसलिए अन्य पत्रों की भाँति इस पत्र को नहीं पढ़ना चाहिए; इसके प्रत्येक वाक्य के भाव को समझकर पढ़ने का खास आग्रह है।

अपने को सुधारक मानने वाले कितने ही भाई ऐसा मानते हैं कि हम देश-सेवा कर रहे हैं; और वे देश-सेवा को ही धर्म मानकर धर्म के नाम की ओर घृणाभाव रखते हैं। वे भी इस पत्र को कुछ समय ध्यानपूर्वक और तुलनाशक्ति से पढ़कर अभ्यास करें तो उनकी धर्म के ओर की घृणा दूर होकर परम सत्यधर्म की रुचि हुए बिना नहीं रहेगी। इसलिए उन भाइयों से इस पत्र का अभ्यास करने के लिए नम्र निवेदन है।

कोई भी जीव चाहे जिसके लिए चाहे जैसा अभिप्राय रखने में स्वतंत्र है। कितने ही नास्तिक जैसे लोग सत् धर्म को हंबग [Humbug] मानते हैं, उन्हें भी आत्मधर्म में आने वाले वस्तुस्वरूप का अभ्यास करने की खास सूचना है। वस्तुस्वरूप के यथार्थ ज्ञान बिना कभी भी कोई जीव सुखी नहीं होता। जैनधर्म कोई बाड़ा या कल्पित मत नहीं है, परन्तु वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा वह बतलाता है; इससे जैनधर्म वस्तु का स्वभाव है। वस्तुस्वरूप के अभ्यास के बिना कोई सुखी होना चाहता हो तो वह अशक्य है।

वर्तमान शिक्षा कितने ही युवकों के दिमाग में ऐसी धुन पैदा करती है कि–'हम बड़े बुद्धिमान हैं; और जिन्होंने हमारे जैसी शिक्षा नहीं ली है वे मूर्ख हैं'–ऐसा वे मानते हैं। और कहते हैं कि धर्म का अभ्यास तो निवृत्त हुए–वृद्ध लोगों के लिए है, अपना कर्तव्य

तो है जगत् में आगे बढ़कर धन प्राप्त करना, और वे काम करना जिनसे देश-जाति की उन्नति हो। ऐसा मानकर उस सम्बन्धी बातें और चर्चाएँ करते रहते हैं; उन्हें ऐसा लगता है कि धर्म तो एक व्यर्थ की वस्तु है, उसके बिना ही सुखी हुआ जा सकता है। उनकी यह मान्यता और विचार कितने अहंकार पूर्ण और मिथ्या हैं-वह सब इस पत्र के पढ़ने से मालूम हो सकता है। धर्म का अभ्यास मात्र निवृत्त या वृद्ध पुरुषों का कार्य नहीं है, लेकिन धर्म तो प्रत्येक जीव का कर्तव्य है। जो जीव सुखी होना चाहते हों उन सबको-चाहे वह वृद्ध हो या बालक हो, पुरुष हो या स्त्री हो, पढ़ा-लिखा हो या अनपढ़ हो, निर्धन हो या धनवान हो-प्रत्येक का यही कर्तव्य है.-ऐसा यह पत्र सचोट रीति से सिद्ध करता है और साथ ही साथ यह भी यथार्थतया समझाता है कि धर्म आत्मा की वस्तु है, इससे उसका प्रारंभ भी आत्मा में से ही होता है। किन्हीं बाह्यक्रियाओं द्वारा उसका प्रारंभ नहीं होता। इसलिए सब युवक भी इस पत्र को पढ़ें, विचार करें और अपनी तुलनाशक्ति द्वारा सत्य-असत्य का निर्णय करें, तो उन्हें लाभ हो और जीवन में शेष रह जाने वाला सब से महान कर्तव्य उनकी समझ में आ जाये।

और धर्म के नाम से स्थूल क्रिया के आग्रह में फँसे हुए तथा जड़ की क्रिया में आत्मा का धर्म मानने वाले जीवों को धर्म की क्रिया का सच्चा स्वरूप विशिष्ट-रूप से यह पत्र समझाता है।

यद्यपि धर्म के नाम पर आजकल बहुत मिथ्यावाद चल रहे हैं और यह आर्यदेश, बाह्यवेश देखकर जितना ठगा जाता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं ठगाता। तथापि ऐसा मान लेना कि 'जगत में से सत्यधर्म का सर्वथा लोप होगया है और सभी जगह मिथ्यावाद ही चल रहा है'-यह भी महान भूल है। इस काल में भी सत्यधर्म का सर्वथा लोप नहीं हुआ है, इसलिए धैर्यपूर्वक सत्यासत्य की परीक्षा करना सीखना चाहिए। इसलिए सभी लोग एक वर्ष तक इस 'आत्मधर्म' पत्र का अभ्यास नियमित करें और सत्य-असत्य की परीक्षा करें-ऐसी नम्र सूचना है।

अभीतक अनेक जिज्ञासु जीवों

ने इस पत्र से लाभ लिया है और इससे सत् धर्म का अच्छा प्रचार हुआ है। तथापि इस पत्र का जितना विशाल प्रचार और प्रसार होना चाहिए उतना अभी नहीं हुआ है, उसके लिए पत्र की ग्राहकसंख्या में वृद्धि होने की आवश्यक्ता है। आत्मधर्म के प्रत्येक ग्राहक, पाठक और धर्मप्रेमी भाई-बहिनों को उसके लिए प्रयास करना चाहिए। प्रत्येक ग्राहक और पाठकों का कर्तव्य है कि उन्हें इस पत्र के प्रचार के लिए होसके उतना प्रयत्न करना चाहिए और अपने सम्बन्धियों को इस पत्र के स्वाध्याय के लिए आग्रह करके उन्हें सत्यधर्म के प्रति प्रेरणा देना चाहिए।

आत्मधर्म न पढ़ने वालों के सम्बन्ध में कहकर अब, आत्मधर्म के जिज्ञासु पाठकों से एक आवश्यक बात कहना है कि—जैनदर्शन ऐसा गंभीर है कि ज्ञानी पुरुषों के सीधे संसर्ग के बिना कोई जीव उसके रहस्य को प्राप्त नहीं कर सकता, इससे शास्त्रों में देशनालब्धि का वर्णन आता है। श्रीमद् राजचन्द्रजी के शब्दों में कहें तो—'पावे नहि गुरुगम बिना, एही अनादि स्थित'—अनादि से ऐसी ही वस्तुस्थिति है कि गुरुगम अर्थात् देशनालब्धि के बिना कोई जीव धर्म प्राप्त नहीं कर सकता। और यह देशनालब्धि मात्र शास्त्रादि के पढ़ने से या अज्ञानी के उपदेश से कोई जीव प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु ज्ञानी पुरुष के उपदेश का श्रवण करे तभी देशनालब्धि प्राप्त होती है। इसलिए धर्म के अभिलाषी जीवों को एकबार तो अवश्य ही सत्समागम करके सद्गुरुगम से देशनालब्धि प्राप्त करना चाहिए। अपने आप शास्त्रस्वाध्याय से जो कार्य वर्षों तक न हो वह सत्पुरुष के प्रत्यक्ष समागम से अल्पकाल में हो जायेगा। इसलिए आत्मधर्म के पढ़ने मात्र से संतोष न मानकर विशेष स्पष्ट समझने के लिए पूज्य गुरुदेवश्री की अमृतवाणी का साक्षात् पान करने के लिए हमारा आग्रह है। ज्ञानी पुरुष के श्रीमुख से आध्यात्मिक उपदेश का साक्षात् श्रवण करना ही आत्मार्थियों को कल्याण का मुख्य कारण है। एकबार तो सत् की रुचिपूर्वक चैतन्यमूर्ति ज्ञानी पुरुष के पास से अवश्य श्रवण करना चाहिए। ऐसा करने से ही आत्मा में सत् का परिणमन होता है।

श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक में—'द्रव्यलिंगी मुनि की सम्यग्ज्ञान के लिये होने वाली प्रवृत्ति में अयथार्थता' बतलाते हुए कहते हैं कि—"...कोई जीव इस शास्त्र का भी अभ्यास करता है, परन्तु जहाँ जैसा लिखा है वैसा स्वयं निर्णय करके अपने को अपनेरूप, पर को पररूप और आस्रवादि को आस्रवादिरूप से श्रद्धान नहीं करता। कदापि मुख से ऐसा भी यथावत् निरूपण करता है कि जिसे सुनकर अन्य जीव सम्यग्दृष्टि हो जाये।" [इसके अतिरिक्त लाटीसंहिता में भी पृ० २१६–१७ में इसी अर्थ का कथन है।]

परन्तु उपरोक्त प्रसंग में जो जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है उस जीव ने पूर्व में किसी ज्ञानी के पास से देशनालब्धि अवश्य ही प्राप्त की होती है। जो जीव सम्यग्दृष्टि होता है वह पांचलब्धिपूर्वक ही होता है; उसमें तीसरी देशनालब्धि है। देशनालब्धि ज्ञानी के उपदेश से होती है, अज्ञानी के उपदेश से कदापि नहीं होती। तथापि अनेक जीव आज ऐसा कहते हैं कि अज्ञानी के उपदेश से भी देशनालब्धि हो जाती है। वैसा कहने वालों ने धर्म के सच्चे निमित्त को भी नहीं जाना है।

जिसने आत्मज्ञानी गुरु के पास से पहले वस्तु का यथार्थ स्वरूप सुना हो और उस समय उसे सम्यग्दर्शन न हुआ हो, परन्तु उस देशना के संस्कार रह गये हों—ऐसा कोई जीव द्रव्यलिंगी का उपदेश सुनकर सम्यग्दृष्टि हो जाता है। वहाँ वास्तव में उस जीव को वर्तमान द्रव्यलिंगी के पास से देशनालब्धि प्राप्त नहीं हुई है किंतु पूर्व में ज्ञानी के पास से प्राप्त हुई है। जिन जीवों को पूर्व में आत्मज्ञानी के पास से देशनालब्धि प्राप्त न हो और उसके संस्कार न हों वैसे जीव कभी भी द्रव्यलिंगी के उपदेश से सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी जो अज्ञानी के उपदेश से भी देशनालब्धि और सम्यग्दर्शन होना मानते हैं वे धर्म के सत्य निमित्त का निषेध करने वाले हैं। धर्म में सत्पुरुष का उपदेश ही निमित्तरूप होता है—ऐसा जो व्यवहार है उसका भी ज्ञान उन्हें विपरीत है। इसलिए मुमुक्षुओं को धर्म में ज्ञानी पुरुषों का ही उपदेश निमित्तरूप होता है—ऐसा बराबर

समझकर सत्समागम से स्वभाव को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

×

यह आत्मधर्म मासिकपत्र जिस तरह होसके अधिक विकसित हो और उसके ग्राहकों की संख्या में वृद्धि हो-ऐसे हेतु को लक्ष में लेकर इस वर्ष से श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट ने आत्मधर्म का आर्थिक भार अपने ऊपर ले लिया है।

आत्मधर्म के सभी धर्मप्रेमी पाठकों से साग्रह निवेदन है कि-इसे अपना ही जानकर इसका अधिकाधिक प्रचार करें। इस समय आत्मधर्म के करीब ११०० ग्राहक हैं; और इस वर्ष में २००० ग्राहक हो जायेंगे-ऐसी हमें आशा है।

अन्त में, आत्मधर्म में प्रगट होने वाले अध्यात्म-स्रोत जिनके पावन ज्ञान-समुद्र में से निरन्तर बहते हैं-ऐसे परम कृपालु पूज्य गुरुदेवश्री के चरणारविंद में नमस्कार करके उनकी कल्याणकारिणी वाणी जयवन्त प्रवर्तमान रहे-ऐसी भावना के साथ इस लेख को समाप्त करता हूँ। —संपादक

आत्मा को भगवान माने वह भगवान होता है।

आत्मा त्रिकाल पूर्णस्वरूप है, उस त्रिकाल स्वरूप में राग नहीं है, इससे आत्मा को भगवान का आश्रय नहीं है। आत्मा के स्वभाव को राग की भी शरण नहीं है तब फिर भगवान तो राग के निमित्त-रूप हैं उनकी शरण कहाँ से होगी? जो जीव अपने से भिन्न भगवान की शरण मानता है वह जीव रंक है-पराश्रित है। जिसने भगवान की शरण मानी है उसने भगवान की ओर का राग करने योग्य माना है, परन्तु रागरहित चैतन्यस्वभाव को नहीं माना है- इससे वह जीव अधर्मी है। "दीन भयो प्रभुपद जपे रे, मुक्ति कहाँ से होय?" मैं विकारी हूँ, रागी हूँ, भगवान की भक्ति से मेरा उद्धार होजायेगा- इसप्रकार रंक होकर जो जीव भगवान की प्रार्थना करता है उस जीव की मुक्ति कहाँ से हो? मैं रागी हूँ, अपूर्ण हूँ,-ऐसा मानकर प्रभुपद की याचना करे तो प्रभुपद कहाँ से मिलेगा? जो जीव अपने को भगवानस्वरूप माने वह जीव मुक्त होता है। भगवान ने शुभराग

को धर्म नहीं कहा है, तथापि जो जीव भगवान की भक्ति के शुभराग से धर्म मानता है वह वास्तव में भगवान का भक्त नहीं किन्तु विरोधी है। पर्याय में क्षणिक राग होने पर भी जो उसकी पकड़ छोड़कर अपने स्वरूप को पापरहित मानता है वह महान सम्राट है; वह किसी पर का आश्रय नहीं मानता किन्तु अपने ही स्वभाव का आश्रय करके मुक्ति प्राप्त करता है। जो जीव राग-रहित स्वभाव को नहीं मानता और क्षणिक राग को ही पकड़ता है वह जीव रंक है, वह पराश्रय मानकर संसार में भ्रमण करता है।

प्रश्नः—ज्ञानी जीव भी भगवान को भक्ति करते समय ऐसा कहते हैं कि 'हे नाथ! भव भव में आपकी शरण मिलती रहे!' यदि भगवान की शरण न हो तो ज्ञानी ऐसा क्यों बोलते हैं?

उत्तरः—'भव-भव में भगवान को शरण मिले!'—यह मात्र निमित्त की भाषा है। इस भाषा का कर्ता ज्ञानी नहीं है। इस भाषा के समय ज्ञानी के अंतर में ऐसा अभिप्राय होता है कि–'रागरहित चिदानंद मेरा स्वरूप है।' ऐसी श्रद्धा-ज्ञान होने पर भी अभी पर्याय में राग है। जहाँतक राग हो वहाँ तक हमें अशुभराग तो नहीं ही हो, किन्तु वीतरागता के निमित्त के प्रति लक्ष हो और उसीका बहुमान हो। शुभराग टूटकर अशुभराग नहीं हो। अब शुभराग अधिक समय तक नहीं टिक सकता वह अल्पकाल में ही बदलकर या तो वीतराग भाव होता है या अशुभभाव होता है। 'वीतराग की ही शरण हो'—इसमें ज्ञानी की ऐसी भावना है कि–यह शुभ टूटकर अशुभ न हो परन्तु शुभ टूटकर वीतरागता होजाये। वीतराग के बहुमान का राग हुआ उस राग के समय वीतराग की ओर लक्ष होता है लेकिन कहीं वीतराग भगवान मुक्ति नहीं देते; मैं अपनी ही शक्ति से राग तोड़कर भगवान होनेवाला हूँ। यदि आत्मा में भगवान होने की शक्ति न हो तो भगवान उसे कुछ भी कर देने में समर्थ नहीं हैं। और यदि आत्मा में ही भगवान होने की योग्यता है तो उसे भगवान का आश्रय नहीं है। मैं स्वतंत्र भगवान हूँ,–ऐसे स्वभाव के भान बिना स्वतंत्रता प्रगट नहीं होती और बंधन दूर नहीं होता। वीतराग भगवान की

प्रार्थना के शुभराग द्वारा तीनकाल–तीन लोक में धर्म नहीं होता। जिसे अपने स्वतःशुद्ध स्वभाव की खबर नहीं है वह जीव अपने को देव–गुरु–शास्त्र के आश्रित मानता है। ऐसी मान्यता वाले को आचार्यदेव जीव नहीं कहते, वह तो जड़ जैसा–मूढ़ है; उसे अपने चैतन्यतत्त्व की खबर नहीं है–ऐसे अज्ञानी को आचार्यदेव समझाते हैं कि हे भाई! तेरा आत्मा अनंतगुणों का पिण्ड परमपारिणामिक भावस्वरूप है, उसकी तू पहिचान कर! शरीर–मन–वाणी का अथवा पुण्य-पाप का आधार न रख! पर्याय का भी आधार छोड़कर त्रिकाली स्वभाव का आधार ले! पुण्य-पाप रहित आत्मस्वरूप को माने बिना पुण्य-पाप दूर नहीं होंगे!

जैसे, शरीर में फोड़ा हुआ हो, उसे यदि रोगरूप माने तो उसका ऑपरेशन करवा देता है। उसीप्रकार जो जीव शुद्ध चैतन्यस्वरूप को जाने और यह भी माने कि हिंसा-दयादि के भाव मुझ से भिन्न हैं, तो वह जीव विकारभावों को नष्ट करके मुक्ति प्राप्त करता है। परन्तु जो जीव अपने निरुपाधिक शुद्धस्वरूप को न जाने वह जीव शुभाशुभ परिणामों को नहीं छोड़ता और उसकी मुक्ति नहीं होती।

(नियमसार-प्रवचन गा० ३९)

– धर्म –

[बीछिया ग्राम में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा–महोत्सव के समय फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन जन्मकल्याणक प्रसंग पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचनसार गाथा १५९–१६० पर प्रवचन]

(१) धर्म की व्याख्या

धर्म का क्या अर्थ है? धर्मी जीव किसे कहना चाहिए? लोग कहते हैं कि हमें धर्म करना है। तो धर्म कहाँ से होता है? वह बात यहाँ कही जाती है। धर्म शरीर से नहीं होता, वाणी से नहीं होता और रुपये-पैसे से भी धर्म नहीं होता, क्योंकि वे सब तो आत्मा से भिन्न अचेतन हैं, उनमें आत्मा का धर्म नहीं है। तथा हिंसा-चोरी इत्यादि के पाप-

भाव अथवा दया-पूजादि के पुण्य-भावों से भी धर्म नहीं होता, क्योंकि वे विकारीभाव हैं। धर्म करने वाला आत्मा है और आत्मा की ही दशा में धर्म होता है। वह धर्म कहीं बाहर से नहीं आता, परन्तु आत्मा के ही आश्रय से प्रगट होता है। आत्मा की शुद्ध दशा ही धर्म है, और उस धर्म का कर्ता आत्मा स्वयं ही है। धर्म करने वाले आत्मा से ही धर्म होता है, परन्तु पैसे से, शरीर से, प्रतिमा से, या देव-गुरु-शास्त्र से धर्म नहीं होता और न उस ओर के शुभ राग से भी धर्म होता है। धर्म तो आत्मा की निर्मल वीतरागी शुद्ध पर्याय है, वह पर्याय पर्यायी ऐसे आत्मा में से प्रगट होती है। आत्मा त्रिकाल ज्ञानादि निर्मल गुणों का खान है। श्रवण-मनन द्वारा उसकी पहिचान करने पर आत्मा में से जो निर्मल अंश प्रगट हो वह अंशी का अंश-धर्म है। चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा अनादि-अनन्त एकरूप है, वह अंशी है और उसके आश्रय से जो निर्मल अंश प्रगट होता है वह अंश है। उस एक अंश में सम्पूर्ण आत्मा का समावेश नहीं हो जाता।

(२) धर्म की क्रिया

अपने आत्मा का स्वरूप समझे बिना जगत के जीव बाह्यक्रिया में जो हां हो और प्रतिस्पर्धा (प्रतियोगिता) कर रहे हैं उसमें धर्म नहीं है। बाह्य–जड़ की क्रिया से तो आत्मा को पुण्य-पाप भी नहीं होते। यदि राग लोभादि कषायों को मन्द करे तो पुण्य होता है और तीव्र कषाय हो तो पाप होता है। बाह्यक्रिया तो आत्मा करता ही नहीं, वह तो जड़ के कारण स्वयं ही होती है। जड़ की क्रिया भिन्न है और राग-द्वेष की विकारी क्रिया भिन्न है तथा त्रिकाली शुद्ध आत्मा उन दोनों से भिन्न है। उसकी पहिचान से जो रागरहित शुद्ध अंश प्रगट होता है वह धर्म है।

आत्मा की महत्ता समझे बिना देव-गुरु-शास्त्र की महत्ता करे तो उससे मुक्ति नहीं हो जाती। जो आत्मा की महिमा को भूलकर पर की महिमा में रुकता है उसे धर्म नहीं होता।

(३) भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य छठवीं-सातवीं भूमिका में आत्मा

की चारित्र दशा में झूल रहे हैं, क्षण में विकल्प तोड़कर स्वरूप के अनुभव में स्थित हो जाते हैं और सिद्ध भगवान जैसे आनन्द का उपभोग करते हैं। दूसरे ही क्षण फिर से छठवें गुणस्थान में आने पर शुभ विकल्प उठते हैं। ऐसी दशा में–"जगत के जीव धर्म प्राप्त करें"–ऐसा शुभ विकल्प उन्हें उठा, वहाँ बाह्य में जगत के भाग्योदय से इन समयसार–प्रवचनसारादि ग्रन्थों की रचना होगई है। उनमें आत्मा का स्वरूप क्या है वह कहते हैं।

(४) शुद्ध भाव तथा अशुद्ध भाव का कारण

आत्मा ज्ञायक मूर्ति है, और जो शुभ–अशुभ वृत्तियाँ उठती हैं वह अशुद्धता है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा की अवस्था में जो शुभाशुभ वृत्तियाँ प्रगट होती हैं वे परद्रव्य के अनुकरण से प्रगट होती हैं, यदि आत्मस्वभाव का अनुकरण करे तो अशुद्धता नहीं होती। अशुद्धता का कारण परद्रव्य के अनुसरण से होने वाली परिणति ही है और शुद्धता का कारण स्व-द्रव्य के अनुसरण से होने वाली परिणति है। दया, दान, पूजा, भक्ति, त्याग आदि जितने व्यवहारू धर्मक्रिया के परिणाम हैं वे सब पर द्रव्यानुसारी अशुद्ध भाव हैं; उनके द्वारा धर्म नहीं होता। इस-लिए अन्तर्दृष्टि द्वारा आत्मस्वभाव का निरीक्षण करने को भगवान सम्यग्दर्शनरूपी धर्म कहते हैं; वह सम्यग्दर्शन वीतरागचारित्र का मूल कारण है और वीतरागचारित्र मोक्ष का कारण है।

परद्रव्य के लक्ष से अशुद्ध उपयोग होता है और उस अशुद्ध उपयोग के फल में भी परद्रव्य का ही संयोग होता है, किन्तु उसके द्वारा स्वभाव की एकता नहीं होती। और शुद्ध उपयोग में परद्रव्य का लक्ष नहीं होता तथा उस शुद्ध उपयोग के द्वारा परद्रव्य का संयोग नहीं होता, क्योंकि वह तो आत्मा का स्वभाव है। जिसमें से अनन्त सिद्ध पर्याय प्रगट हो-ऐसा मैं चैतन्य का भण्डार हूँ, मेरी चैतन्य-खान में से शुभ–अशुभ भाव प्रगट नहीं होते–ऐसे भानपूर्वक धर्मी जीव पर द्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होकर शुद्धोपयोग का अभ्यास करता है। (अपूर्ण)